



# सागर नौका और नाविक

उपाध्याय अमर मुनि



## बिम्ब

तीर्थंकर महावीर एक व्यक्ति नहीं, विश्वात्मा है, विश्वपुरुष है। देश, जाति और मत-पंथ आदि की सीमाओं से परे है, अनन्त है। उस ज्योतिपुरुष का प्रकाश शाश्वत है। वह काल की सीमाओं को धकेलता हुआ अनन्त की ओर सतत गतिशील रहेगा।

भगवान् महावीर का प्रबोध उभयमुखी है। वह जहाँ अन्तर्मन में सुप्त चेतना को जगाता है, वहाँ दूसरी ओर समाज की मोह-निद्रा को भी भंग करता है। महावीर का ही मुक्त उद्घोष है:

- हर आत्मा मूलतः परमात्मा है। क्षुद्र-से-क्षुद्र प्राणी में भी अनन्त चैतन्य ज्योति विद्यमान है।
- सम्पूर्ण मनुष्य जाति एक है। उसमें जाति, वर्ग, वर्ण, पंथ आदि के भेद कैसे ?
- सबको अपना जीवन प्रिय है। सब सुख चाहते हैं, कोई भी दुःख नहीं चाहता। अतः सुख बांटो, सुख चाहते हो तो। जो आगे बढ़कर दुःखियों को उठाता है, अपना सुख उनके सुख के लिए समर्पित करता है, वह धन्य है।
- सत्य के प्रति गहरी आस्था ही, धर्म का प्रथम सोपान है।
- स्वतंत्रता-विरोधी तत्त्व उद्वृण्डता और उच्छृंखलता को जन्म देते हैं।
- भगवत्ता भिक्षा में प्राप्त नहीं होती है।
- परम्पराएँ बदलती हैं, सत्य अपरिवर्तित होता है।
- किसी के अधिकार का अपहरण हिंसा है।
- निरीह मूक पशुओं की बलि यज्ञ नहीं है। यज्ञ है, अपने अन्दर के पशुत्व की ज्ञानाग्नि में आहुति।
- अपराजित जीवन का मार्ग संयम है।

# सागर, नौका और नाविक

सम्पादन

आदर्श साध्वीरत्न विदुषी महासती श्री सुमतिकुंवरजी की सुशिष्या

दर्शनाचार्य साध्वी चन्दना

वीरायतन, राजगृह (बिहार)

अनावरण तिथि :

शरद पूर्णिमा : गुरुपूजा महोत्सव

१ नवम्बर १९८२

प्रकाशक :

वीरायतन, राजगृह

(नालंदा-बिहार)

पिन : ८०३ ११६

प्रथम आवृत्ति : २०००

श्री सरस्वती प्रेस लिमिटेड

(प० बं० सरकार द्वारा परिचालित)

३२ आचार्य प्रफुल्लचन्द्र रोड

कलकत्ता-७०० ००९

मूल्य :

एक सौ रुपए

## अनुक्रमणिका

I	गुरु पूजा महोत्सव	..	..	..	..	..	..	vii
II	भाव गीत	..	..	..	..	..	..	ix
III	उपाध्यायश्री की साहित्य साधना	..	..	..	..	..	..	xi
IV	युग-पुरुष तुम्हें शत-शत बन्दन	..	..	..	..	..	..	xv
१.	आदिगुरु ऋषभदेव	..	..	..	..	..	..	१
२.	उभयमुखी क्रान्ति के सूत्रधार	..	..	..	..	..	..	१
३.	अन्तर्धात्रा का प्रस्थान बिन्दु	..	..	..	..	..	..	१५
४.	आत्मा वैः परमेश्वरः	..	..	..	..	..	..	२३
५.	सर्वोत्तम शक्ति : आत्म-शक्ति	..	..	..	..	..	..	२९
६.	नियति का सर्वतोष दर्शन	..	..	..	..	..	..	३५
७.	विश्व-शान्ति का आधार : अनेकान्त	..	..	..	..	..	..	४३
८.	श्रमण-संस्कृति में : अहिंसा-दर्शन	..	..	..	..	..	..	८९
९.	अहिंसा अन्दर में या बाहर में	..	..	..	..	..	..	५७
१०.	कौन आँसु मोती है ?	..	..	..	..	..	..	६३
११.	अहंकार हिंसा है	..	..	..	..	..	..	६९
१२.	क्रोध शक्ति का नियन्त्रण	..	..	..	..	..	..	७५
१३.	तिर्भार होने का मार्ग : तनाव से मुक्ति	..	..	..	..	..	..	८१
१४.	निर्विचार या निर्विकार	..	..	..	..	..	..	८७
१५.	कर्म का मूल मनोभाव में	..	..	..	..	..	..	९१
१६.	ऊपर तरंग, भीतर प्रशान्त सागर	..	..	..	..	..	..	९७
१७.	मन के जीते जीत	..	..	..	..	..	..	१०३
१८.	मार्ग तुम्हें खोजना है	..	..	..	..	..	..	१०९
१९.	जिज्ञासा शिष्य की : प्रज्ञा की गुरु की	..	..	..	..	..	..	११३
२०.	परिग्रह की परिभाषा	..	..	..	..	..	..	११९
२१.	जीवन से भागना, धर्म नहीं	..	..	..	..	..	..	१२३
२२.	घन्थ बाती है और धर्म ज्योति	..	..	..	..	..	..	१२९
२३.	दान की मनोवृत्ति	..	..	..	..	..	..	१३३
२४.	राजनीति पर धर्म का अंकुश	..	..	..	..	..	..	१३९
२५.	सम्यक्त्व : पंथों के घेरे में	..	..	..	..	..	..	१४३
२६.	विश्व रहस्य का सार : एक शब्द में	..	..	..	..	..	..	१५१
२७.	फूल के साथ कांटे भी	..	..	..	..	..	..	१५७
२८.	प्रेम का पुण्य-पर्व	..	..	..	..	..	..	१६३
२९.	उदयति दिशि यस्याम्	..	..	..	..	..	..	१६९
३०.	ज्योति-पर्व	..	..	..	..	..	..	१७७
३१.	देशकालानुरूपं धर्मं कथयन्ति तीर्थंकराः	..	..	..	..	..	..	१८५
३२.	जन-सेवा भगवत् पूजा है	..	..	..	..	..	..	१९७
३३.	खाद्य समस्या : समाधान की खोज में	..	..	..	..	..	..	२०३
३४.	मानवता की मंगल मूर्ति : सजग नारी	..	..	..	..	..	..	२०९
३५.	जीवन-शुद्धि का द्वार	..	..	..	..	..	..	२१५
३६.	ज्योतिर्मय कर्म-योग	..	..	..	..	..	..	२१९
३७.	दीक्षा : दूसरा जन्म	..	..	..	..	..	..	२२७
३८.	वीरायतन-दर्शन	..	..	..	..	..	..	२३५



# गुरु-पूजा महोत्सव

कवि-सम्राट रवीन्द्र ने एक गीत लिखा है, जिसका निष्कर्ष है—“मेरे प्रभु! तुम अनन्त संपदा एवं ऐश्वर्य के स्वामी हो। मैं तुम्हारा उत्सव मनाना चाहता हूँ। पर, मेरा यह उत्सव एक क्षुद्र उत्सव होगा, मेरी पूजा की सामग्री अतीव सामान्य होगी।” गुरुदेव रवीन्द्र के श्रद्धास्निग्ध शब्दों में ही हम भी पूज्य गुरुदेव का ८०वाँ जन्मोत्सव ‘गुरु-पूजा’ के रूप में मना रहे हैं।

प्रस्तुत प्रसंग पर ‘ज्ञान-मेरु’ एवं ‘ध्यान-मेरु’ तथा भारतीय कला का अनुपम केन्द्र ‘श्रीब्राह्मी कला-मंदिरम्’ का उद्घाटन तथा ‘नेत्र-ज्योति स्वस्ति-मंडप’ का शिलान्यास हो रहा है और साथ ही ‘अभिनन्दन-ग्रन्थ’ का प्रकाशन भी।

आम तौर पर अभिनन्दन ग्रन्थ में विद्वान् तथा कुछ राजनीतिज्ञों की ओर से अर्पित प्रशस्तियाँ होती हैं।

पूज्य गुरुदेव ने कई विशिष्ट प्रसंगों पर कहा है—“मुझे सहज साधक की तरह रहने दो। गीत गाने हैं, तो उस अनन्त ज्योति महाप्रभु के गाओ, जिसकी पावन-स्मृति में हम सभी दिव्य-ज्योति प्राप्त करने के लिए यत्नशील हैं।”

आप सभी जानते हैं, अब तक अनेकानेक महत्त्वपूर्ण संस्थाओं की प्रेरणा एवं प्राण शक्ति पूज्य गुरुदेव रहे हैं। किन्तु, किसी भी संस्था के साथ उन्होंने अपना नाम नहीं जोड़ने दिया है। अतः अभिनन्दन ग्रन्थ की प्रस्तुत नयी परम्परा का श्रीगणेश ही इस ग्रन्थ का गौरव है। गुरुदेव के क्रान्तिकारी तथा पुरोगामी आध्यात्मिक एवं मानवतावादी विचारों का संकलन इस ग्रन्थ में है, जो भगवान् महावीर की जन-कल्याणी देशना को, वाणी को विस्तार देने वाला है। इस अर्थ में प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ विचार-ग्रन्थ है।

महाप्राण दर्शनाचार्य महासती श्री चन्दनाजी के ग्रन्थ-सम्पादन के अपूर्व सहयोग का उल्लेख करके मैं उनके महान् योगदान की महार्थता को कम नहीं करूँगा। केवल नाम-स्मरण के साथ अपनी श्रद्धा ही उनके चरणों में समर्पित करता हूँ।

वीरायतन के साधु-साध्वी मण्डल की सेवा में मेरे सभक्ति वन्दन। सबका सहयोग साभार उल्लेखनीय है।

वीरायतन के कर्मठ कार्यकर्ता मानद मंत्री श्री छोटेलाल गांधी, कलकत्ता, कोषाध्यक्ष श्री नगीन भाई केशवजी शाह, कलकत्ता तथा उदीयमान नक्षत्र श्री तनमुखराज डागा, कलकत्ता ने ग्रन्थ प्रकाशन जैसे गुरुतर दायित्व तथा अन्य छोटे-बड़े कार्यों का समय पर सम्पादन आदि दायित्व कुशलता से निर्वहन करके, वीरायतन की महती सेवा की है और मेरा कार्यभार विशेषरूप से हल्का किया है। एतदर्थ साधुवादार्ह हैं सेवानिष्ठ त्रिमूर्ति। भविष्य आप से आशान्वित है।

वीरायतन के समस्त सदस्यगण एवं भक्ति भावना-प्रवण उन सभी सहृदय भाई-बहनों के प्रति जिनका समय-समय पर सहर्ष उदार सहयोग वीरायतन के बढ़ते चरणों के साथ रहा है, मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ एवं हार्दिक प्रसन्नता भेंट करता हूँ।

मुझे विश्वास है जिज्ञासु, मुमुक्षु, चिन्तक एवं प्रेमी पाठकों के लिये यह विचार-ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध होगा। अनुभूतिप्रधान जीवनोपयोगी साहित्य-पंक्ति में यह एक महत्त्वपूर्ण विशिष्ट स्थान प्राप्त करेगा।

खेलशंकर दुर्लभजी  
अध्यक्ष  
वीरायतन-राजगृह





# भाव गीत

ज्योतिर्मय जीवन के अस्सीवें पुण्य शरद् में आपका प्रवेश हो रहा है। लाखों-लाख समवेत स्वरो में आपका हृदय से स्वागत है। भावपूर्ण अभिनन्दन है।

सूर्य से चर-अचर सृष्टि को प्रकाश प्राप्त होता है, किन्तु जीवन में एक और प्रकाश की आवश्यकता है। भूमण्डल आधार है, जीव सृष्टि का, किन्तु इसके साथ जीवन में एक और आधार की भी जरूरत है। और, वह सूर्योत्तिशायी अलौकिक दिव्य-प्रकाश तथा सब ओर से निराधार हुए जीवन का सूक्ष्म भावनात्मक अद्भुत आधार है—गुरु !

गुरुदेव ! परमात्मभाव की प्रकाश-यात्रा के अविचल पथिक हो तुम ! परमाराध्य महान् गुरुदेव (पूज्य श्री पृथ्वीचन्द्रजी महाराज) के परमाराध्य अन्तेवासी शिष्य हो तुम, गुरुत्व और शिष्यत्व की दोनों निष्ठाओं के अस्खलित सफल सूत्रधार ! अतः मानवतावादी संवेदनशील हृदय के संत हो, सही अर्थ में ! अपने अन्तर में परमात्म भाव का अमोघ दिव्य स्वर सुनते हो, सुनते हो बाहर में मानव मन की पीड़ा का दर्दभरा करुण-स्वर ! दिशा-हीन एवं दृष्टिहीनों ने तुमसे मार्ग पाया है, दृष्टि पायी है। और, उन दिशा-प्राप्त भक्त-कण्ठों ने गाया है—

**“अभिनन्दन है देव तुम्हारा,  
तन मन के कण कण से प्रतिपल !”**

तुम किनके हो ? उनके हो, जिनका कोई नहीं है। जो जीवन संघर्ष में सब ओर से हार चुके हैं, उनके तुम हो ! जो प्रश्न बन कर खड़े हैं, उनके तुम हो ! तुम किनके नहीं हो ? तुम सब के हो, सब तुम्हारे हैं। तुम्हारे भक्तों का पूजा गीत है—

**“भदं जगुज्जोयगस्स ।”  
“गुरुः साक्षाद् परं ब्रह्म ।”**

समाज की अन्ध जड़ता को, पुरातन के व्यामोह को, आज के साधु-जीवन में धर्म के नाम पर व्याप्त निष्कर्मण्यता की गहरी निद्रा को तोड़ने वाले तुम प्राज्ञपुरुष हो। प्राचीन ऋषि-परम्परा के तुम गौरव हो। वर्तमान के निर्माता हो। भविष्य के द्रष्टा हो। युवापीढी की ज्योतिर्मय आशा हो। परस्पर-विरुद्ध संघर्षशील विचार-धाराओं को जोड़ने वाले सूत्रधार हो। शब्दों के श्रेष्ठ शिल्पी हो। शब्दों में भावों के रंग उतारने वाले कुशल कलाकार हो। तीर्थंकर महावीर की अमृत वाणी के तुम व्याख्याकार हो। जैन, बौद्ध, वैदिक-शास्त्रों की सुदीर्घ-परम्परा के तुम ज्ञाता, द्रष्टा हो। पर, अब वे शास्त्र तुम्हारे लिए शब्द-शास्त्र नहीं रहे। शास्त्र तुम्हारा निजी अनुभव बन गया और उस अनुभव के प्राणवान् स्पर्श से तुम्हारी साधना सजीव बन गयी। अतः तुम अत्याख्येय-तत्त्वपुरुष हो ! भगवत्स्वरूप दिव्य-चेतना के साक्षात् रूप हो। इन्हीं भाव क्षणों में श्रद्धावनत् भक्तों का मंगल-गान है तुम्हारे श्री चरणों में—

**“चिरं जीव, चिरं जय ।”**

बच्चों जैसा सुकोमल, मधुर एवं सरल मन है। पर, तुम्हें किसी भी बहलावे में बहलाया नहीं जा सकता। युवकों की तरह विचारों में वज्रवत् दृढ़, सबल; किन्तु विनम्रता की साक्षात् प्रतिमूर्ति। तुम्हारे पास अनेकानेक जन्मों से संचित दिव्य अनुभूतियों का अथाह खजाना है, और इसे सर्वसाधारण के हित में अर्पित करने की अद्भुत क्षमता भी है तुम में। धर्म और संस्कृति के कण-कण में रमा हुआ जीवन है, पर वह सहज है। शास्त्रीय परम्पराओं में निष्ठा के साथ पूरी तरह आबद्ध, किन्तु निष्प्राण रूढ़िगत मान्यताओं के आलोचन-प्रत्यालोचन में

पूर्णतया मुक्त, प्रबुद्ध और निर्भय, “सत्ये नास्ति भयं क्वचित्” के सजग पक्षधर। तुम सागर की तरह ज्ञान के अक्षय कोष हो, फिर भी निरन्तर अनेकानेक चिन्तन-धाराओं को अपने में समा लेने वाले अद्भुत समन्वय-योगी हो। ऊँचे हो, बहुत ऊँचे हो, फिर भी ऊँचाइयों से आगे और अधिक ऊँचाइयों की तरफ यात्रा करते जा रहे हिमगिरि हो। कहीं भी, कभी अवरुद्ध न होने वाली सतत प्रवहमान पुण्यकर्म की त्रिपथगा; करुणा के साक्षात् देवता। अतः तुम्हारे मंगल जन्मोत्सव में मेरी पूजा की सामग्री क्या अर्थ रखती है? क्षुद्र है न वह! तुम्हारी स्तुति-अभ्यर्थ में मैं क्या कह सकती हूँ। क्या कर सकती हूँ। यह केवल बाल-चापल्य ही है न! फिर भी महान् दार्शनिक आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की ये पंक्तियाँ कुण्ठित होते हुए मन को उत्साहित कर रही हैं और लग गई हैं पूजा के उपक्रम में—

“बालोऽपि किं न निजबाहुयुगं वितत्य,  
विस्तीर्णतां कथयति स्वधियाम्बुराशेः।”  
“जल्पन्ति वा निजगिरा ननु पक्षिणोऽपि।—”

तुम सरस्वती के वरद पुत्र हो। तुम्हारी स्फटिक-स्वच्छ प्रज्ञा, अकाट्य तर्क, सत्यानुलक्षी प्रतिभा की रश्मियाँ जिस किसी विषय को छू जाती हैं, वह कितना ही गूढ़, गूढ़तर क्यों न हो, उजागर हो जाता है, जैसे कि सूर्य-प्रकाश में विराट जगत्। अध्यात्म की गहराइयों में सहज प्रवेश है तुम्हारा। जीवन-रहस्यों के सुदूर क्षितिज तक को स्पर्श करता हुआ विशाल, विस्तृत, नभ उत्तुंग हिमगिरि-सा सक्षम, गुरुगंभीर चिन्तन है तुम्हारा। वीरायतन इसी चिन्तन का एक निदर्शन है अस्तु, वीरायतन के कण-कण में एक स्वर व्याप्त है—

“किस विधि से पूजा हो तेरी,  
कौन अर्घ्य से तव पद पूजे।”

तुम्हारे इस अनोखे सर्व पूज्य एवं सर्व स्तुत्य दिव्य-चित्र का अंकन मेरी सामान्य तूलिका न कर पायेगी। क्या अच्छा होगा—जगत्-कल्याण के हेतु सहज विस्फुरित आपकी दिव्य वाणी में हम सब आपके दर्शन करें शब्दातीत को शब्दों में पाने का, स्रष्टा को सृजन में खोजने का यह एक नम्र प्रयास ही पूजा है। आपकी ही वस्तु आपके ही करकमलों में अर्पित है—

“त्वदीयं वस्तु पूजार्थं, तुभ्यमेव समर्प्यते।”

गुरुदेव, आप जैसे ज्ञान-देवता की अर्चना के हेतु, सुन्दर पूजा का उपकरण और कौन-सा हो सकता।

साध्वी चन्दना  
वीरायतन, राजगृह

# उपाध्यायश्रीजी की साहित्य-साधना

उपाध्याय अमरमुनिजी एक सन्त हैं, कवि हैं, विचारक हैं, महान् दार्शनिक हैं, साहित्यकार हैं, लेखक हैं और युग-द्रष्टा युग-पुरुष हैं। वे मानवता के संदेश-वाहक हैं, जीवन के कलाकार हैं, उनके विचार, उनका चिन्तन, उन का लेखन एवं उनकी वाग्धारा कभी एक दिशा-विशेष में प्रवहमान नहीं रही, उसका प्रवाह सभी दिशाओं में गतिशील रहा है। वे जीवन की सभी दिशा-विदीशाओं को आलोकित करते रहे हैं। वस्तुतः कविश्रीजी सम्पूर्ण काल एवं सत्ता के द्रष्टा हैं। उनका साहित्य किसी काल, पंथ, देश एवं जाति-विशेष के बन्धन से आबद्ध नहीं है। उनका साहित्य, उनकी कठोर श्रुत-साधना एवं दीर्घतपःसाधना का सुमधुर फल है। उनका आलेखन किसी साम्प्रदायिक क्षुद्र परिधि में घिरे रह कर नहीं, प्रत्युत समस्त मानव-जाति के अभ्युदय को, विश्व-बन्धुत्व एवं विश्व-शान्ति की उदात्त भावना को सामने रख कर हुआ है।

कविश्रीजी अपने आप में परिपूर्ण हैं। अपने विचारों के वे स्वयं निर्माता हैं। वे किसी शक्ति के द्वारा अपने मन-मस्तिष्क पर नियंत्रण करने के पक्ष में नहीं हैं। उनका विश्वास है कि सहज भाव से उद्भूत चिन्तन को जबरदस्ती रोकने का प्रयत्न करना महान् अपराध है। अतएव कविश्रीजी का चिन्तन इन समस्त साम्प्रदायिक अंधेरी काल-कोठरियों से मुक्त-उन्मुक्त है।

वस्तुतः साहित्य ही व्यक्ति के जीवन का साकार रूप है। साहित्य व्यक्ति के व्यक्तित्व की प्रतिच्छाया है। साहित्य केवल जड़ शब्दों एवं अक्षरों का समूह मात्र ही नहीं है, उसमें व्यक्ति का व्यक्तित्व बोलता है, व्यक्ति का जीवन बोलता है। अस्तु, कविश्रीजी का साहित्य ही उनका यथार्थ परिचय है।

साहित्य-साधना के उषा-काल में धर्म, समाज एवं राष्ट्र की डाली पर चहचहाने वाला कवि-हृदय केवल काव्य तक ही सीमित नहीं रहा। उनका विराट् चिन्तन साहित्य की समस्त दिशाओं को आलोकित करने लगा। उनकी लेखनी उनके गंभीर चिन्तन एवं उदात्त विचारों का संस्पर्श पा कर दर्शन, आगम, काव्य, निबन्ध, संस्मरण, यात्रा-वर्णन, खण्ड काव्य, कहानी एवं समालोचना आदि साहित्य-उपवन को पल्लवित, पुष्पित एवं फलित करने लगी। साहित्य की कोई भी विधा आप के चिन्तन एवं लेखनी के स्पर्श से अछूती नहीं रही। आपके भाव, विचार, भाषा-शैली एवं अभिव्यञ्जना सब-कुछ अनुपम, अनुत्तर एवं अद्वितीय है। आपकी लेखनी से प्रसूत साहित्य है—

पद्य-गीत	पद्य-कविता
१ अमर पद्य मुक्तावली	१ कविता-कुञ्ज
२ अमर पुष्पाञ्जलि	२ अमर-माधुरी
३ अमर कुसुमाञ्जलि	३ श्रद्धाञ्जलि
४ अमर गीताञ्जलि	४ चिन्तन के मुक्त स्वर
५ संगीतिका	५ अमर मुक्तक

प्रस्तुत गीतों एवं कविताओं में सामाजिक, राष्ट्रीय, धार्मिक तथा भक्ति-प्रधान गीत एवं कविताएँ हैं। आजादी के समय लिखे गए राष्ट्रीय गीतों ने देश के जन-मानस को प्रबुद्ध किया था और आज भी वे गीत जन-जीवन में राष्ट्रीय भावों, भक्ति एवं धर्म-चेतना को जागृत कर रहे हैं।

## पद्य-काव्य

१. धर्मवीर सुदर्शन	३. जगद् गुरु महावीर
२. सत्य हरिश्चन्द्र	४. जिनेन्द्र स्तुति

महापुरुषों एवं दृढ़ विश्वास के साथ सत्य की साधना के पथ पर गतिशील प्रबुद्ध पुरुषों के जीवन का यथार्थ चित्रांकन किया गया है इन काव्यों में।

### स्तोत्र-साहित्य :

१. भक्तामर, २. कल्याण मन्दिर, ३. वीरस्तुति, ४. महावीराष्टक का हिन्दी अनुवाद भी महत्त्वपूर्ण है।

### निबन्ध-साहित्य:

१. आदर्श कन्या : नारी का जीवन कैसा होना चाहिए। इस के लिए सही दिशा-दर्शन मिलता है प्रस्तुत पुस्तक में।

२. जैनत्व की झांकी : प्रस्तुत पुस्तक में सैद्धान्तिक दृष्टि से जैन-धर्म का संक्षेप में सांगोपांग विवेचन है।

३. उत्सर्ग और अपवाद-मार्ग : जीवन, जीवन है। भले ही वह महान् साधक का भी क्यों न हो। अतः सदा-काल एवं सर्वत्र एक-सा आचार-पथ नहीं रहता। देश-काल एवं परिस्थितियों के अनुरूप आचार का मार्ग परिवर्तित होता रहता है। अपवाद में कुछ नियमों का उल्लंघन भी होता है, फिर भी वह मार्ग ही है, उन्मार्ग या कुमार्ग नहीं है। जीवन एवं साधना के सहज रूप को प्रस्तुत निबन्ध में स्पष्ट किया है।

४. महामन्त्र नवकार : इसमें मन्त्र की विशेषता का सांगोपांग वर्णन एवं सभी दृष्टियों से विवेचन किया गया है।

५. समाज और संस्कृति : सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से व्यक्ति एवं समाज के विकास एवं आध्यात्मिक अभ्युदय के लिए प्रस्तुत पुस्तक में गंभीर विवेचन किया गया है।

६. चिन्तन की मनोभूमि : प्रस्तुत विशाल ग्रन्थ नाम के अनुरूप कविश्रीजी के गहन अध्ययन, गंभीर चिन्तन एवं उदात्त विचारों का कोष है। प्रस्तुत ग्रन्थ में चिन्तन का विषय जीव भी रहा है और जगत् भी, आत्मा भी रहा है और परमात्मा भी। परन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि धर्म, दर्शन एवं अध्यात्म की मनोभूमि से जीवन का सर्वांगीण सत्य इसमें उद्घटित हुआ है। महान् साहित्यकार सेठ गोविन्ददासजी के शब्दों में—“प्रस्तुत ग्रन्थ अपने जन-हितकारी दृष्टि कोण के कारण, जो भारत के मानव का दिशा निर्देशन करता है, सामान्यतौर से भारतीय-दर्शन और विशेष कर जैन-दर्शन में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।” समय-समय पर आध्यात्मिक, सामाजिक, नैतिक, दार्शनिक एवं शास्त्रीय विषयों पर लिखे गये लेख जीवन को सही दिशा-दर्शन एवं नया मोड़ देने वाले हैं।

सुविश्रुत दार्शनिक विद्वान् श्री बलदेव उपाध्याय के शब्दों उपाध्यायजी की दृष्टि पैनी है तथा लेखनी अर्थबोधिनी है। फलतः यह ग्रन्थ जैन-धर्म को सांप्रदायिकता के संकुचित क्षेत्र से ऊपर उठाकर विश्व-धर्म की विशालता पर पहुँचा देता है।

### व्याख्या-साहित्य :

१. सामायिक-सूत्र और २. श्रमण-सूत्र

आवश्यक सूत्र साधना के लिए महत्त्वपूर्ण है। सामायिक एवं प्रतिक्रमण जीवन-साधना के लिए, समत्व-भाव में रमण करने के लिए अत्यावश्यक है। समत्व की साधना में कहीं स्वलन न हो, और स्वलन हो जाये तो उसकी शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण—आत्म-निरीक्षण आवश्यक है। प्रस्तुत उभय ग्रन्थ सामायिक एवं श्रमण सूत्र के भाष्य है। समत्व-योग एवं आत्म-निरीक्षण की साधनाओं पर अनेक दृष्टियों से विस्तृत विवेचन किया है। चिन्तनशील प्रबुद्ध साधकों के लिए दोनों ग्रन्थ पढ़ने एवं चिन्तन करने योग्य हैं।

## प्रवचन-साहित्य

- |                        |                               |
|------------------------|-------------------------------|
| १. उपासक आनन्द         | ९. अमर-भारती                  |
| २. अहिंसा-दर्शन        | १०. प्रकाश की ओर              |
| ३. सत्य-दर्शन          | ११. साधना के मूलमन्त्र        |
| ४. अस्त्य-दर्शन        | १२. पञ्चशील                   |
| ५. ब्रह्मचर्य-दर्शन    | १३. पर्युषण-प्रवचन            |
| ६. अपरिग्रह-दर्शन      | १४. अध्यात्म-प्रवचन           |
| ७. जीवन की पाँखें      | १५. जीवन-दर्शन                |
| ८. विचारों के नये मोड़ | १६. सात वारों से क्या सीखें ? |

समय-समय पर विभिन्न स्थानों एवं विभिन्न वर्षावासों तथा विभिन्न प्रसंगों पर दिये गये प्रवचनों का प्रस्तुत पुस्तकों में संकलन है। गुरुदेव उपाध्यायश्री की पीयूषवर्षी दिव्य देशना में व्यक्तिगत, सामाजिक, पारिवारिक, नैतिक, राष्ट्रीय, आध्यात्मिक एवं धार्मिक जीवन के सभी पक्षों को उजागर करने वाले विचार हैं। गृहस्थ एवं संन्यस्त दोनों जीवन की साधना के लिए प्रवचन-साहित्य उपयोगी है—

### १. महावीर : सिद्धान्त और उपदेश और २. विश्व-ज्योति महावीर

प्रथम पुस्तक में महाश्रमण महावीर के जीवन की अपेक्षा उनके सिद्धान्त एवं दिव्य-देशना (उपदेश) का सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है।

द्वितीय पुस्तक में आध्यात्मिक दृष्टि से अनन्त ज्योतिर्मय महावीर का विश्लेषणात्मक विवेचन है।

### निशीथ-चूर्णि

कविश्रीजी ने अनेक ग्रन्थों एवं आगमों का सम्पादन किया है, उनमें महत्त्वपूर्ण है—‘निशीथ-चूर्णि।’ यह विशालकाय आगम चार खण्डों में परिसमाप्त हुआ है। आचार-साधना के लिए निशीथ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मूल आगम सूत्र रूप में है। चूर्णि, भाष्य एवं निर्युक्ति में मूल सूत्रों के भावों का विस्तृत विवेचन है। साधना की धारा किस प्रकार बहे और बहते-बहते कभी स्वलित हो जाये, तो उसे किस प्रकार शुद्ध करके पुनः गतिशील किया जाय। उत्सर्ग में साधक कैसे आचार का पालन करे और अपवाद में जीवन को किस प्रकार विवेक एवं प्रामाणिकता के साथ गतिशील रखे, जिससे संयम एवं आध्यात्मिक-साधना का सम्यक्-रूप से परिपालन कर सके। इसका विस्तृत विवेचन के साथ दार्शनिक, तात्त्विक, सैद्धान्तिक, विषयों का तथा उस युग की सामाजिक, राजनैतिक एवं पारिवारिक स्थिति का और उस युग के रहन-सहन का सुन्दर विवेचन प्रस्तुत महाग्रन्थ में है।

निशीथ भाष्य के सम्पादन एवं प्रकाशन का सत्साहस करके आपने ज्ञान के क्षेत्र में रही हुई एक बहुत बड़ी कमी को पूरा किया है। प्रस्तुत ग्रन्थराज एक महत्त्वपूर्ण कृति है, वस्तुतः यह ज्ञान-विज्ञान का एक बृहत् कोश है।

### सूक्ति- त्रिवेणी :

नाम के अनुरूप प्रस्तुत ग्रन्थ में भारतीय-संस्कृति एवं धर्म-दर्शन की त्रिवेणी—जैन, बौद्ध एवं वैदिक-धारा, जो यथार्थ में अखण्ड-अविच्छिन्न रूप से प्रवहमान है, उसके मौलिक-दर्शन एवं जीवन-स्पर्शी सारभूत उदात्त वचनों को संकलित किया गया है।

उपाध्यायश्रीजी का चिन्तन देश, काल, सम्प्रदाय एवं पंथीय परम्पराओं की सीमा में आबद्ध नहीं है। वे सत्य के अनुसन्धित्सु हैं। इसलिए साम्प्रदायिक बाड़े-बन्दी से मुक्त होकर सत्य का साक्षात्कार किया है। उनकी दिव्यदृष्टि एवं उनका समदर्शीत्व-भाव प्रस्तुत ग्रन्थ में परिलक्षित होता है।

भारतीय तत्त्व-चिन्तन एवं जीवन-दर्शन की अनन्त ज्ञान-ज्योति इन छोटे-छोटे सुभाषितों में इस प्रकार सन्निहित है, जैसे छोटे-छोटे सुमनों में उपवन का सौरभमय वभव छिपा रहता है। उसे जन-जीवन को आलोकित करने के लिए उपाध्यायश्री ने प्रस्तुत ग्रन्थ श्रम एवं निष्ठा के साथ संकलित किया है।

तीनों धाराओं के चिन्तन में कुछ भिन्नता भी है। लेकिन, इतना तो दृढ़ आस्था से कहा जा सकता है कि तीनों-धाराओं की जीवन-दृष्टि मूलतः एक है और नैतिक एवं आध्यात्मिक अभ्युदय के उच्च आदर्शों को लिये हुए है। चिन्तन का विभाजन—जो कहे-कहे परिलक्षित होता है, वह जो एकान्त नहीं है। यदि व्यापक दृष्टि से देखें, तो एक अखण्ड जीवन-दृष्टि एवं चिन्तन की एक रूपता भी परिलक्षित होती है। आचार्यश्री के साथ शब्दात्मक एकता का दर्शन करना चाहें, तो अनक स्थल एसें हैं, जो अक्षरशः समान एवं सन्निकट हैं।

प्रस्तुत संकलन में उपाध्यायश्री ने इसी व्यापक एवं उदार समन्वयात्मक-दृष्टि को सामने रखा है। अतः जीवन-विकास के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ, जो डबल डीमाई साइज में लगभग ८०० पृष्ठों का है, अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

महामहोपाध्याय पद्मभूषण गोपीनाथ कविराज, आगमों के सुप्रसिद्ध विद्वान पं० बेचरदासजी दोशी, स्व० राष्ट्रपति जाकिर-हुसेन, आचार्यश्री तुलसी, युवाचार्यश्री महाप्राज्ञ आदि विद्वानों द्वारा प्रशंसित है।

अभी भी गुरुदेव की साहित्य-साधना की धारा अनवरत गतिशील है।

प्रज्ञामूर्ति महान् साहित्य-स्रष्टा के चरणों में शत-सहस्र अभिवन्दन-अभिनन्दन।

— मुनि समदर्शि, प्रभाकर

## युग पुरुष तुम्हें शत-शत वन्दन

तुम अभिनव युग के नव विधान,  
रुढ़ बन्धनों के मुक्ति गान,  
हे युग-पुरुष, हे युगाधार, अभिवन्दन है, शत-शत वन्दन !

ज्ञान-ज्योति की ज्वलित ज्वाला,  
आत्म-साधना का उजाला,  
हे मिथ्या-तिमिर अभिनाशक, अभिवन्दन है, शत-शत वन्दन !

तुम नव्य नभ के नव बिहान,  
नई चेतना के अभियान,  
श्रमण संस्कृति के अमर-गायक, अभिवन्दन है, शत-शत वन्दन !

अतीत युग के मधुर गायक,  
अभिनव युग के हो अधिनायक,  
नूतन-पुरातन युग शृङ्खला, अभिवन्दन है, शत-शत वन्दन !

तू पद-दलितों का क्रान्ति-घोष,  
अबल-साधकों का शक्ति-कोष,  
हे क्रान्ति-पथ के महापथिक, अभिवन्दन है, शत-शत वन्दन !

--विजय मुनि, शास्त्री





**प्रज्ञावतार युगद्रष्टा परम श्रद्धेय पूज्य गुरुदेव के**

**८०वें जन्म महोत्सव के उपलक्ष में हार्दिक अभिनन्दन !**

**श्रीचरण सेवक**

**धनराज एवं सौ. मदनबाई बोथरा**

**कवर्धा, मध्यप्रदेश**

**शरदपूर्णिमा, गुरुपूजा-महोत्सव**

**दिनांक : १ नवम्बर १९८२**





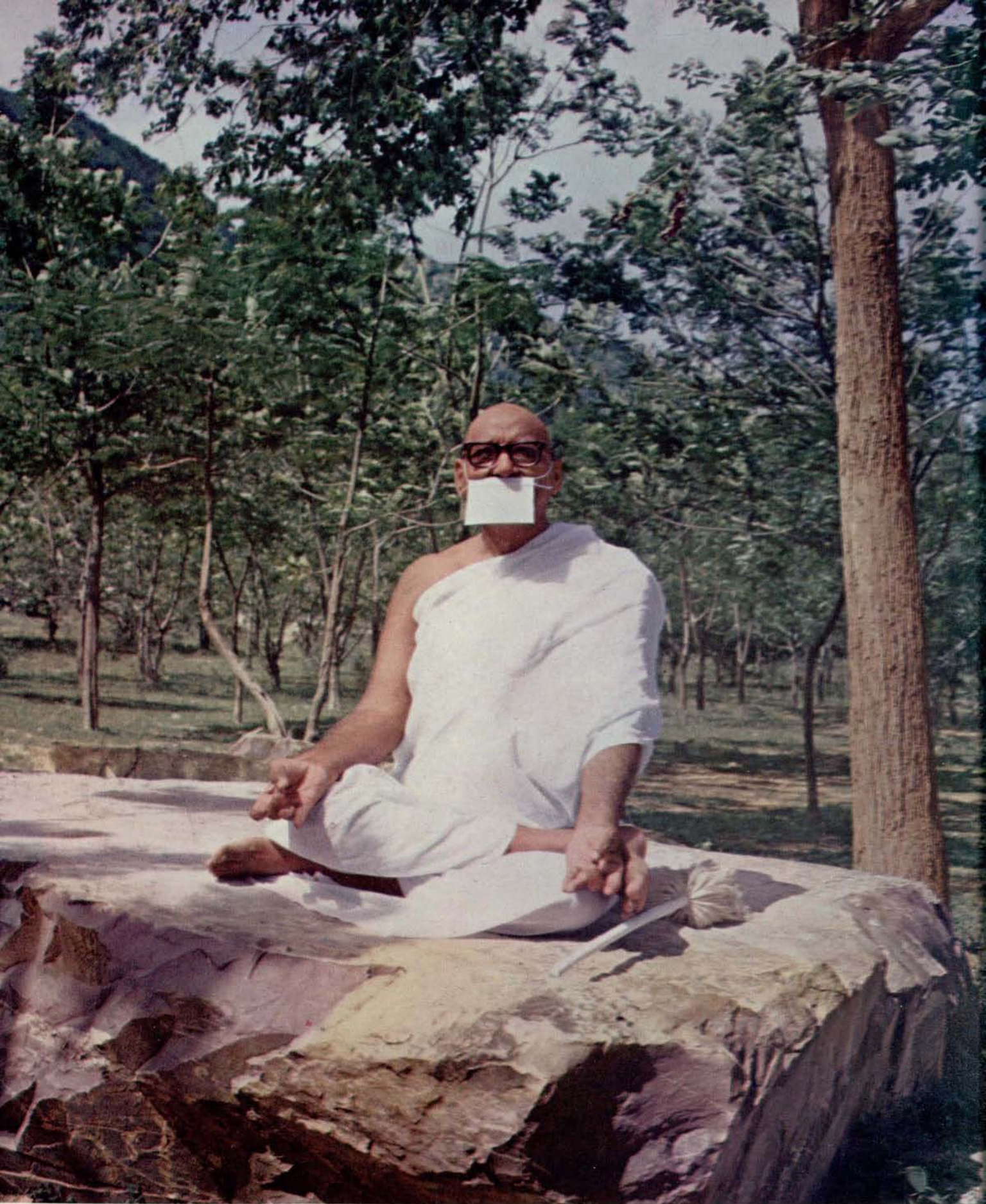
पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री अमरमुनि  
वीरायतन : अमृतवर्षी का अमृतदान ।  
For Private & Personal Use Only



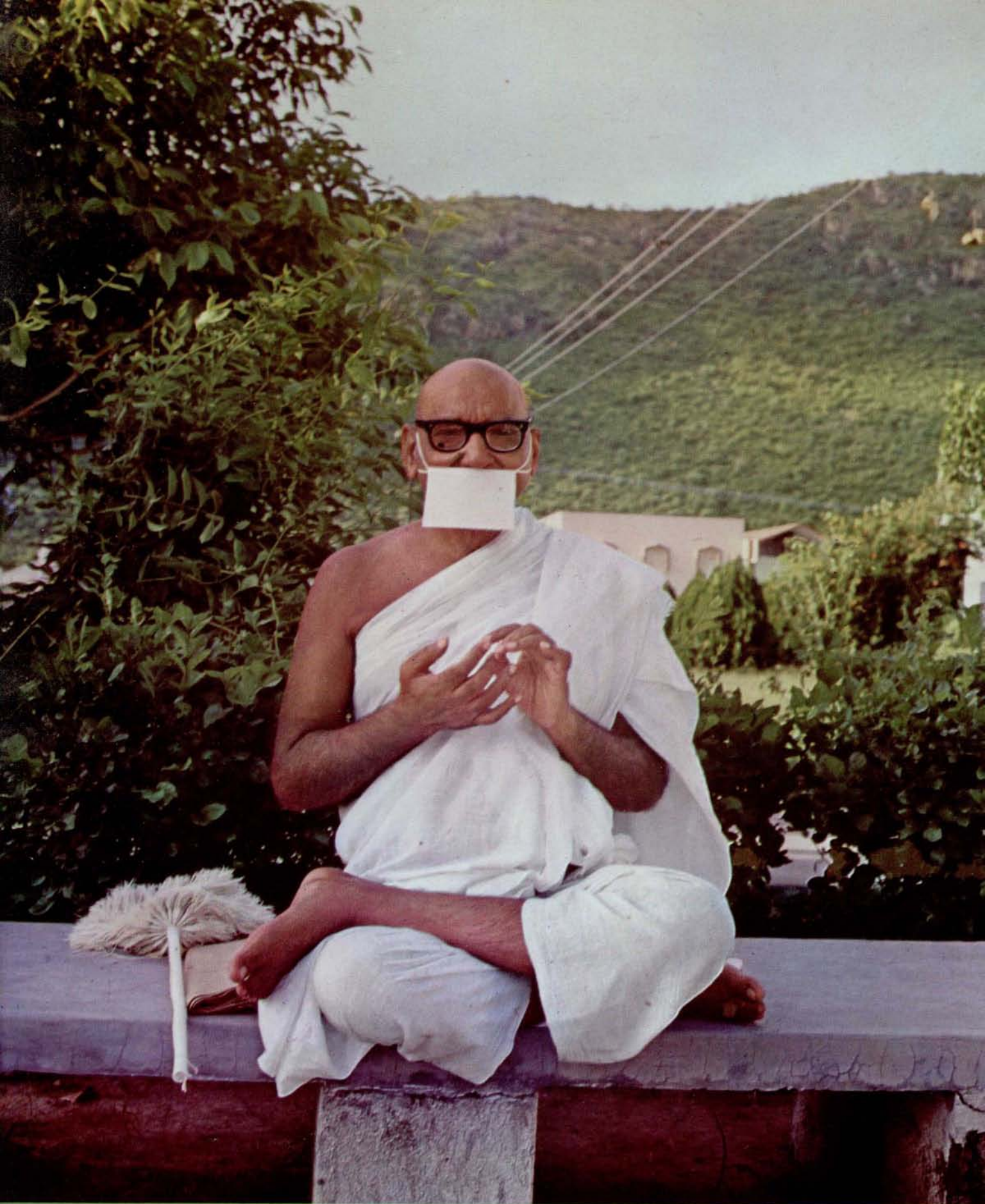
बालक अमर : अष्टम वर्ष में ।



पूज्य गुरुदेव : ८० वें वर्ष में ।



ऐतिहासिक उपवन गुणशील में अन्तश्चेतना का ऊर्ध्वारोहण ।



प्रज्ञावतार से प्रज्ञापुरुषों की परंपरा प्राणवान हो रही हैं ।



भगवान महावीर की धम्म देसना के भाष्यकार !

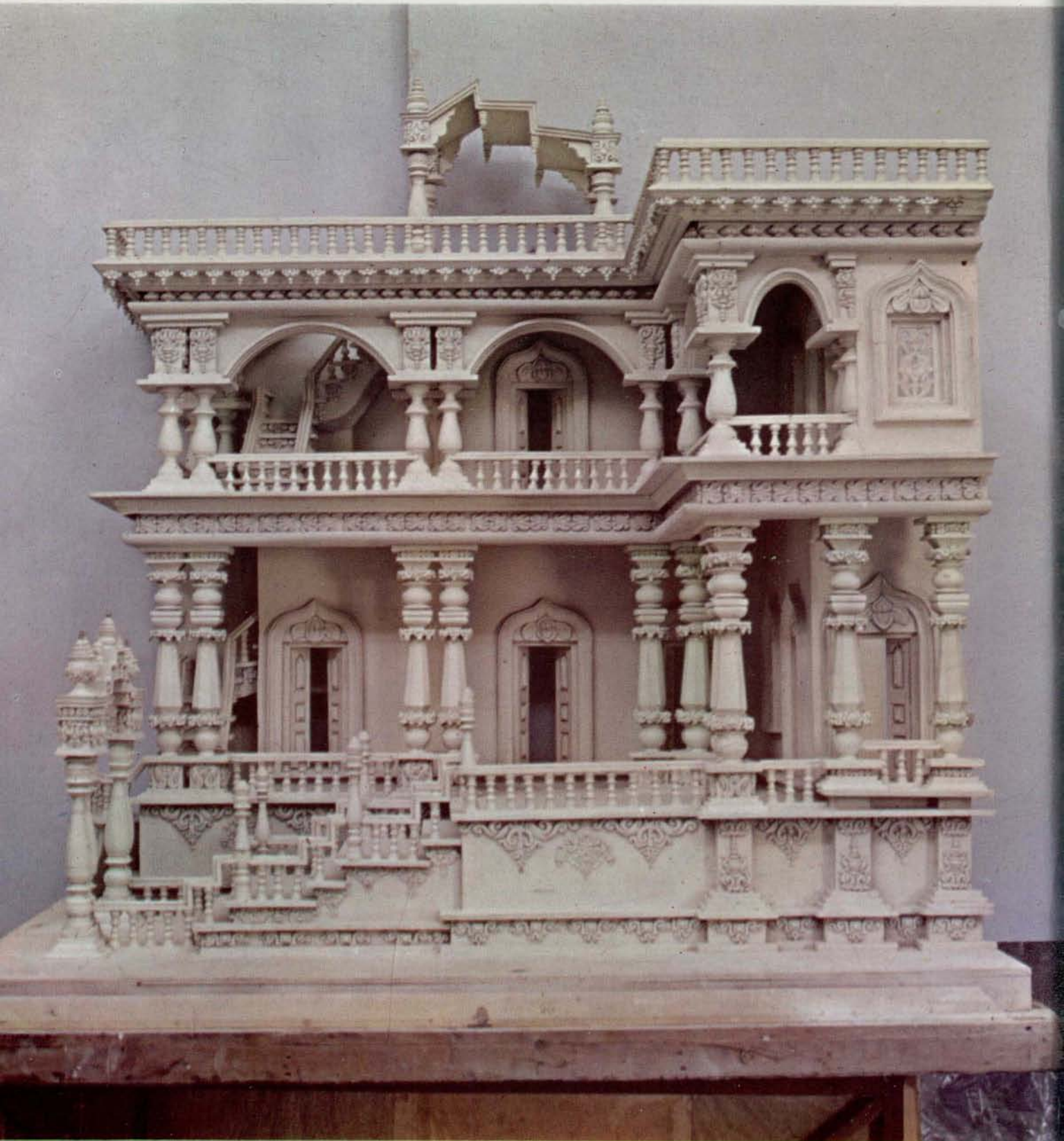




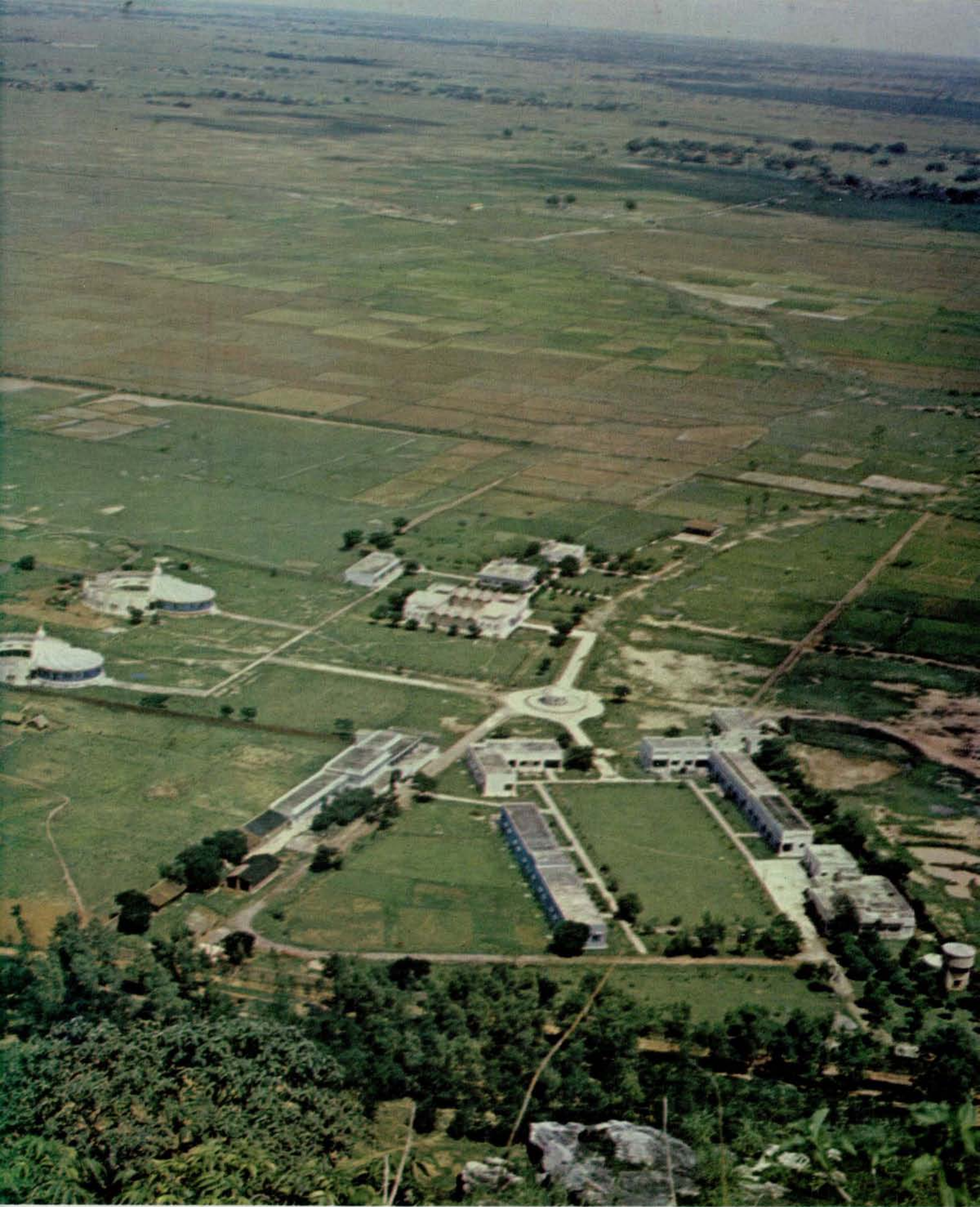
प्राकृतिक सुषमा का केन्द्र है गुणशील! और गुणशील का सौरभ है, धर्म-यात्रियों के श्रम एवं शान्ति का स्थल वीरायतन !

विपुलगिरि के शिखरों से उधर सूर्य की प्रभात-किरण धरा पर उतर रही है। इधर "चिदम्बरम्" सिद्धपीठ से पूज्य गुरुदेव का ज्ञान-शैलिक जन-जन की मनोभूमि को आलोकित कर रहा है।





प्राचीन कला की एक अनुपम कृति है "श्री ब्राह्मी कला मंदिरम्", जो चिर अतीत को वर्तमान में रूपायित कर रही है ।



वैभारगिरि के अंक में अंकुरित वीरायतन, हिमगिरि के शिखरों की ओर !

अनेक रूप, एक रूप में



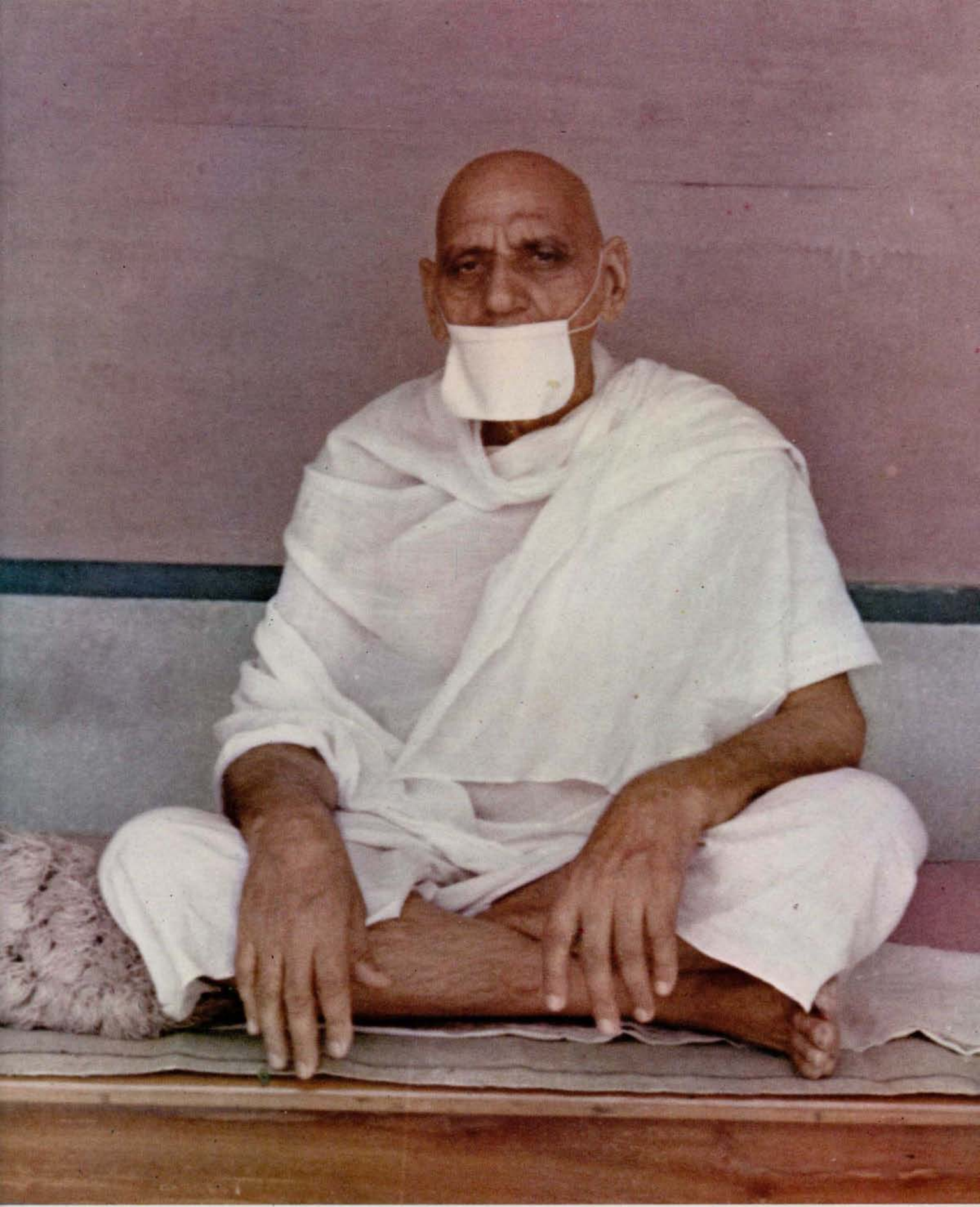




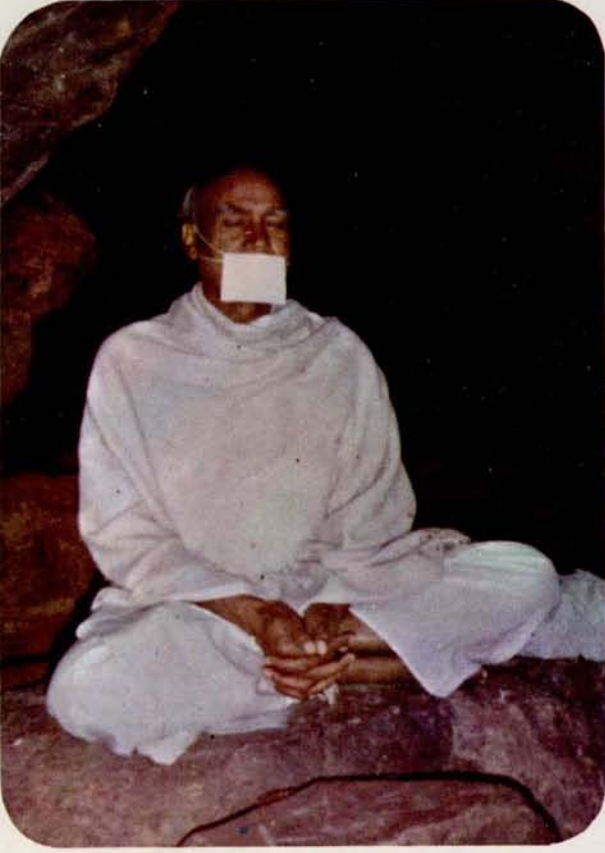
इतिहास के साक्षी हैं सिद्धगिरि वैभारगिरि के शिखर, तीर्थंकर महावीर (२५वीं)  
निर्वाण शताब्दी पर्व के साक्षी हैं ज्ञानमेरु एवं ध्यानमेरु के शिखर !

ज्योति से ज्योति जल रही है ।

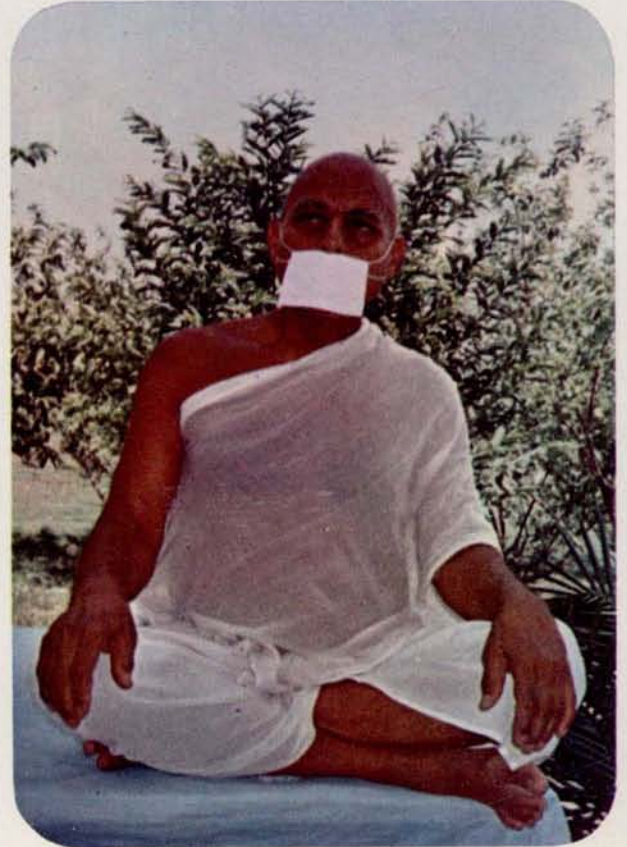




अद्वैत गुरुदेव के गुरुदेव पूज्य श्री पृथ्वीचंद्र महाराज



पूज्य गुरुदेव के शिष्य पं० श्री विजयमुनि



पूज्य गुरुदेव के गुरुभाई श्री अखिलेशमुनि





जल में निःसंग कमल



गुरु पूजा महोत्सव १ नवम्बर, १९८२

# आदिगुरु ऋषभदेव



## श्रद्धा-सुमन

आदिदेव हे ऋषभ जिनेश्वर,  
ज्ञान-ज्योति का तू दिनकर ।  
प्रथम प्रकाश उतारा तूने,  
तमसावृत इस धरती पर ॥

भूख-भूख का गूँज रहा था,  
कितना दारुण भीषण स्वर ।  
कर्मयोग का तब तूने ही,  
दिया बोध जग-मंगलकर ॥

पुण्यकर्म वह जिसके अन्दर,  
सुरभित हो जन-जन का हित ।  
तेरा यह सन्देश आज भी,  
धरा स्वर्ग तक अभिनन्दित ॥

तू सबका था, सब थे तेरे,  
एक दृष्टि थी समरस की ।  
अतः चिरन्तन वेदों तक में,  
गुंजित गाथा तब यश की ॥

नग्नदेह हिमगिरि-शिखरों पर,  
ध्यान धरा अविचल तूने ।  
सोया अन्तर जिनवर जागा,  
पाया निज में निज तूने ॥

भौतिक वैभव दिया, दिया फिर,  
अक्षय आध्यात्मिक वैभव ।  
उभय दान का परम देव तू,  
भूलेंगे न तुझे भव-भव ॥

कर्म-क्षेत्र के धन्य वीर वे,  
जो पहले आगे आते हैं।  
पीछे तो लाखों अनुयायी,  
बिना धुलाये आ जाते हैं ॥

कल क्या थे, यह नहीं सोचना,  
सोचो अभी बनोगे क्या ?  
ले अतीत से उचित प्रेरणा,  
निज भवितव्य घड़ोगे क्या ?

संकल्पों से उठता मानव,  
और उन्हीं से गिरता है।  
अच्छे और बुरे भावों का,  
जग में मेला भरता है ॥

कैसी भी स्थिति आये-जाये,  
भाव नहीं गिरने देना।  
शुभ की ज्योति बड़ी है जगमें,  
इसे नहीं बुझने देना ॥

अच्छा होगा, सब-कुछ अच्छा,  
अच्छा है यदि अन्तर्मन।  
शुभ मन पर आधारित वाणी—  
कर्मों का सब अच्छापन ॥

भगवान् ऋषभदेव का पुण्य-स्मरण, उनकी पावन स्मृतियाँ, उनकी पुनीत यादें हमारे अन्तर्-मन को आनन्द-विभोर कर देती हैं। उस आदि युग-पुरुष के, प्रथम तीर्थंकर के जीवन से सम्बन्धित कोई भी घटना जब भी स्मृतिपटल पर उभरती है—भले ही वह उनके जन्म-कल्याणक की हो, दीक्षा के प्रसंग की हो, वर्षीतिप के पारण की हो, केवल-ज्ञान की हो या निर्वाण के समय की हो, तो जीवन का कण-कण आनन्द से आप्लावित हो जाता है। उस आनन्द को अभिव्यक्ति देने के लिए हमारे पास कोई शब्द नहीं है। उस विराट् पुरुष का जीवन एक ऐसा क्षीर-सागर है, जिसका न कोई किनारा है, न कोई सीमा है। जिस ओर से भी उसका पान करें, अमृत-मधुर है वह। उनके पश्चात् हुए सभी तीर्थंकरों ने, गणधरों ने, आचार्यों ने और स्वयं भगवान् महावीर ने उनकी महिमा का गान किया है। आज भी हम उनके गुणों का कीर्तन कर रहे हैं, अनंत भविष्य में भी करते रहेंगे। इस तरह क्या उनके जीवन की सीमा अंकित की जा सकेगी? और हम यह कह सकेंगे कि अब उनके संबंध में कहने के लिए हमारे पास कुछ शेष नहीं रहा? ऐसा नहीं होगा, कभी नहीं होगा। सागर के किनारे मिल सकते हैं, परन्तु प्रभु के जीवनरूपी क्षीरसागर का कोई किनारा नहीं है।

भगवान् ऋषभदेव के अवतरण का युग भोग-युग था। उस युग का मानव, जीवनोपयोगी कर्म करना, श्रम करना नहीं जानता था। वह प्रकृति पर निर्भर था। धीरे-धीरे प्रकृति की शक्ति क्षीण होने लगी। जितना प्रकृति से प्राप्त था, उसका उपभोग करने वाले संख्या में उससे कहीं अधिक हो गये थे। साधनों को उत्पन्न करने की, उत्पादन को बढ़ाने की कला उस युग का मानव जानता नहीं था। अतः अभावग्रस्त मानव भूख से आकुल-व्याकुल हो गया। मनीषी पुरुषों ने कहा है— “खुहासमा वेयणा नत्थि ।” संसार में जितनी वेदनाएँ हैं, जितने प्रकार के दुःख हैं, उनमें सबसे भयंकर वेदना क्षुधा (भूख) की है। इसलिए कहा गया है कि ऐसा कौन-सा पाप है, जो भूखा आदमी नहीं कर सकता। भूख के क्षणों में वह हर बुरे-से-बुरे पाप को करने के लिए तैयार हो जाता है। कोई ऐसा पाप कार्य, बुरा कार्य नहीं है, जो बुभुक्षित न कर ले— “बुभुक्षितः किं न करोति पापम् ?”

ऐसे अंधकारपूर्ण समय में व्यक्ति का पथ से भटक जाना, छीना-झपटी एवं संघर्षों का उग्र रूप धारण कर लेना स्वाभाविक है। व्यक्ति को पतन के गर्त में गिरने में देर नहीं लगती, परन्तु संभलने में, ऊपर उठने में समय लगता है। ऐसे समय में अपने आपको संतुलित रख पाना आसान काम नहीं है। गहन अंधकार के समय मार्ग-दर्शन करने वाला तथा प्रकाश देने वाला सौभाग्य से कोई विरल पुरुष ही होता है? उस युग की जनता का सौभाग्य था, उस युग की जनता का ही क्यों, हमारा भी सौभाग्य था कि आदि युग-पुरुष भगवान् ऋषभदेव ने मानव-जाति को मानवोचित जीवन जीने की कला सिखाई, यथोचित कर्म करके सुख-भोग भोगने की नयी प्रेरणा दी, कर्म एवं श्रम-निष्ठ जीवन जीने की शिक्षा दी। मैं उन्हें भारत का सर्वप्रथम कर्मयोगी मानता हूँ। श्री कृष्ण को कर्मयोगी कहते हैं, लेकिन वे बहुत उत्तरकाल में हुए हैं, परन्तु सबसे पहले कर्म का, श्रम का संदेश देने वाले वे ही विराट् पुरुष थे, जिन्होंने कहा था—केवल कल्पवृक्षों के सहारे तथा प्रकृति के भरोसे, बिना कर्म किए, हाथ पर हाथ रख कर बैठे रहना उचित नहीं है। बिना श्रम किए भोगमय जीवन जीने की चिरागत परंपरा समाप्त हो गई है। भोग-भूमि का युग अब समाप्त है। भोग-भूमि का अर्थ है—भोग-उपभोग तो करें, किन्तु कर्म न करें। परन्तु युग परिवर्तन के साथ व्यवहार में भी परिवर्तन करना होगा। बिना व्यवहार को बदले जीवन का विकास कथमपि संभव नहीं है। इसलिए कर्म-भूमि का युग आ गया है। अब बस कर्म करो। जीवन-यात्रा को सुख-समृद्धि के राजपथ पर आगे बढ़ाने के लिए श्रम करना आवश्यक है।

भगवान् ऋषभदेव आध्यात्मिक साधना के, मोक्ष-मार्ग के प्रथम उपदेष्टा, प्रथम तीर्थंकर ही नहीं, जीवन जीने की कला को सिखानेवाले प्रथम शिक्षक एवं कलाकार भी थे। उन्होंने असि, मसी और कृषि की शिक्षा दी। जीवन की सुरक्षा के लिए असि (तलवार) अर्थात् शस्त्र-विद्या सिखाई, व्यापार-व्यवहार चलाने के लिए मसी—लिखने-पढ़ने की कला सिखाई और जीवन-यापन के लिए कृषि-कर्म—खेती आदि उद्योग-धंधे सिखाये। मध्य-युग से आज तक जैनों का जिससे बराबर टकराव रहा और अहिंसा के नाम पर लगातार जिससे इनकार किया जाता रहा, भगवान् ऋषभदेव ने उस असि अर्थात् तलवार का सर्व-प्रथम शिक्षण दिया। उसमें, जैसा कि एकान्त समझा जाता है, हिंसा की, मारकाट की मनोवृत्ति नहीं, बल्कि अहिंसा की, रक्षा की भावना ही मुख्य थी। उन्होंने आत्म-रक्षा के लिए शस्त्र-विद्या का उपदेश दिया। बाह्य आक्रमणों से अपना, परिवार का, समाज का एवं देश का संरक्षण करने के लिए मनुष्यों के हाथ में तलवार दी। इस प्रकार भगवान् सर्व-प्रथम क्षात्रधर्म के उपदेशक थे।

आदिगुरु ऋषभदेवः

अतः एकमात्र यह मानकर चलना कि शस्त्र-मात्र हिंसा का ही साधन है, नितान्त गलत है। हिंसा शस्त्र में नहीं, उसके प्रयोग करने के समय जिस प्रकार की भावना है, उसमें निहित है। इसलिए आततायियों के उपद्रवों से, आक्रमणों से अपने को एवं अपने देश को बचाने के लिए तलवार का आविष्कार हुआ। आपको आश्चर्य होगा कि भगवान् ऋषभदेव ने असि, मसी एवं कृषि—इन तीनों कर्मों में असि की गणना सर्व-प्रथम की। उन्होंने कर्मभूमि के मानव को सबसे पहले यह सिखाया कि अपने सत्त्व की रक्षा के लिए तैयार रहो। जो अपने अस्तित्व को सुरक्षित नहीं रख सकता, वह और कुछ भी नहीं कर सकता। सामाजिक, पारिवारिक एवं राष्ट्रीय जीवन की यह वह महत्त्वपूर्ण भूमिका थी, जिसे भगवान् ऋषभदेव ने सर्वप्रथम स्पर्श किया था।

उस महामानव ने मसी-कर्म और कृषि-कर्म भी सिखाया। मसी का अर्थ है—स्याही, परन्तु उसका व्यापक अर्थ है—लेखन-कला, चित्र-कला, वाणिज्य (व्यापार) आदि कार्य। और कृषि का अर्थ है—खेती। इसमें शिल्प-कला एवं बढई, सुनार, लुहार आदि के औद्योगिक कार्य भी समाविष्ट हैं। जिसे आज की भाषा में औद्योगिक-क्रान्ति कहते हैं या हरित-क्रान्ति कहते हैं, वह सर्व-प्रथम उस आदि पुरुष ने की। अब प्रश्न यह है कि यह उपदेश पाप था या पुण्य था? आज इसका उत्तर देना है, आज नहीं तो कल देना होगा। यदि इसका सही ढंग से, यथार्थ रूप से उत्तर नहीं दिया जा सका, तो जैन-समाज प्रगति के क्षेत्र में पिछड़ जायगा और मच्छरों की तरह एक कोने में दुबक कर भिनभिनाता रह जायगा। संसार में उसकी आवाज एवं उसका अस्तित्व समाप्त हो जायगा।

कुछ परम्परावादी एवं जड़-क्रियाकांडी साधु कहते हैं कि कृषि-कर्म महा हिंसा का कार्य है। भगवान् ऋषभदेव के इन अन्तर्-नेत्रहीन अनुयायियों ने अपनी पूरी ताकत लगा कर एक बहुत अभद्र आवाज लगानी शुरू कर दी कि कृषि महारंभ है, महापाप है। इससे बढकर और कोई पाप नहीं है। यह नरक में ले जाने वाला है। जब समाज में अज्ञानता छा जाती है, जड़ता आ जाती है, विवेक की आँखें बन्द हो जाती हैं, यथार्थ को समझने की दृष्टि ही नहीं रहती है, तब इस तरह की घोषणाएँ की जाती हैं। और ये नासमझी की घोषणाएँ ही समाज को ल डूबती हैं। यदि कृषिकर्म और लुहार, बढई, सुनार आदि के शिल्प-कर्म महारंभ एवं महापाप थे, तो मैं पूछना चाहता हूँ कि उक्त कर्मों का प्रथम उपदेष्टा, प्रथम शिक्षक, पवित्र महापुरुष कैसे रहा? आप उसे किस आधार पर वन्दन करते हैं? महापाप का उपदेष्टा भी महापापी होता है। संयम स्वीकार कर लेने से उस विराट् पुरुष का वह हितप्रद उपदेश नष्ट नहीं हो गया। उनके द्वारा उपदिष्ट कर्म आज भी चल रहे हैं। बताइए, यह पाप-कर्म किस स्वार्थ से प्रेरित हो कर किया? उक्त कर्मोपदेश में भगवान् का निजी स्वार्थ कुछ भी नहीं था, वह सब प्रजा के हित के लिए था। जहाँ हितबुद्धि है, वहाँ पुण्य है, पाप नहीं है, पाप है केवल अज्ञानियों के मन-मस्तिष्क में। आगम के पृष्ठों पर आज भी उक्त दिव्य उपदेश का हित-हेतु सुरक्षित है कि उस महापुरुष ने जो कुछ कहा था, वह प्रजा के हित के लिए कहा था—“पयाहियाए उवदिसइ।” प्रजा के हित के लिए, जन-जन के कल्याण के लिए किया गया कार्य कदापि महापाप का कार्य नहीं हो सकता। यदि आपको वीतराग-वाणी पर जरा-सी भी श्रद्धा है, थोड़ा-सा भी विश्वास है, तो आपको अपनी गलत धारणाओं को, रुढ़ एवं अन्ध मान्यताओं को, परम्परागत चले आ रहे मिथ्या विचारों को बदलना होगा, उनके व्यामोह को त्यागना होगा। अन्यथा भगवान् ऋषभदेव के प्रति तो क्या, चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर के प्रति भी आप निष्ठावान नहीं रह सकेंगे।

भगवान् महावीर का कथन है कि जिस कार्य में हित की भावना है, वह पुण्य है। पुण्य और पाप किसी भी कार्य में नहीं हैं। जो कार्य हाथों से किया जाता है, पैरों से किया जाता है, या आँख, नाक, कान, जिह्वा आदि इन्द्रियों से किया जाता है, वह पाप है या पुण्य, यह एकान्त रूप से कथन करना गलत है। भले ही कृषि-कर्म हो या अन्य कर्म हो, वह स्वयं में पाप-पुण्य नहीं है। इन्द्रियाँ जड़ हैं, उनमें से न पाप आता है और न पुण्य। पाप-पुण्य का जो भी प्रवाह आता है और बंध होता है, वह व्यक्ति के अपने विचार में से, बुद्धि में से एवं भावना में से ही आता है। यदि मानव के मन में दूसरे का अहित करने की दुर्भावना है, दुर्बुद्धि है, तो उसके द्वारा किया जाने वाला कार्य भले ही बाहर से अच्छा परिलक्षित होता हो, फिर भी वह पाप का कारण है। यदि बाहर में थोड़ी-बहुत हिंसा दिखाई देती हो, फिर भी मनुष्य के मन में हित बुद्धि हो, तो वह कार्य पुण्य का हेतु है। भगवान् महावीर की भाषा में भगवान् ऋषभदेव ने स्पष्ट ही जन-हित के लिए, प्रजा के कल्याण के लिए कृषि-कर्म आदि का उपदेश दिया था, इसलिए उसमें पाप आयेगा कहाँ से? वे ही लोग इस प्रकार की गलत परिकल्पनाएँ किया करते हैं, जिन्होंने



न तो आगमों का गहराई से अध्ययन किया है, न उस पर चिन्तन-मनन ही किया है। गलत एवं मिथ्या धारणाओं के अंधेरे में भटकते हुए चिन्तन-शून्य व्यक्तियों से और आशा भी क्या रखी जाय ?

अज्ञान के निविड़ अंधकार में भटकते व्यक्तियों को प्रकाश दिया, इसलिए भगवान् ऋषभदेव का कर्म करने का उपदेश पुण्य था। उसमें त्रस्त, संतप्त एवं पीड़ित प्रजा को सुख-शान्ति देने का उपक्रम था। भूख की वेदना से संतप्त, परस्पर लड़ने-झगड़ने, छीना-झपटी करने, एक-दूसरे का प्राण लेने के लिए मारकाट करने को तत्पर जनता को उन्होंने सात्विक-कर्म करके अपनी भूख मिटाने का सही रास्ता दिखाया। यही कारण है कि वह विराट् पुरुष संसार का और विशेष रूप से वर्तमान कालचक्र का आदि पुरुष है, पहला वैज्ञानिक है और प्रथम आविष्कारक है, जिसने कृषि आदि कर्म एवं कलाओं की उपयोगिता को जनता के सामने रखा, उसके लिए काम में आनेवाली साधन-सामग्री बनाने का मार्ग बताया तथा उन साधनों का प्रयोग करना सिखाया। उसने विश्व को प्रकाश दिया, जीवन जीने की कला सिखाई। इसलिए जैन-दर्शन के महान् विद्वान् आचार्य समन्तभद्र ने उस ज्योति-पुरुष की स्तुति करते हुए कहा था—

“स विश्व-चक्षुर् वृषभोर्जितः सतां,  
समग्र-विद्यात्म-वपुर् निरंजनः।  
पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो,  
जिनोर्जित - क्षुल्लक - वादिशासनः ॥”

वह संपूण विश्व की, सारे संसार की आँख थी। अकर्म-भूमि (भोग-भूमि) से कर्म-भूमि की ओर अग्रसर होने वाली, अकर्मण्य जीवन से कर्तव्यता के पथ पर कदम रखने वाली अज्ञ-जनता, अपने प्राप्त कर्मपथ को निर्मल विवेक की आँखों से देख नहीं पा रही थी। उसके विवेक-चक्षु खुले ही नहीं थे। उसे जीवन-यापन का सही रास्ता मिल ही नहीं रहा था। अस्तु, उस समय प्रभु की आँख ही सारे विश्व की आँख थी, जिसने जीवन जीने का सही रास्ता दिखाया। विश्वचक्षु आदिगुरु ने उस युग के मानव को, जो एक तरह से अर्धपशु था, मानवोचित समग्र विद्याएँ सिखाईं।

उन्होंने व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन जीने के लिए समस्त कलाओं का, जीवन की सभी विधाओं का शिक्षण दिया। आपको आश्चर्य होगा कि भगवान् ऋषभदेव ने अपनी ८४ लाख पूर्व की आयु में से ८३ लाख पूर्व जन-जीवन को व्यवस्थित करने, जन-चेतना को जागृत करने, कर्मशील बनाने में लगाये। परिवार, समाज, ग्राम, नगर एवं राष्ट्र के जीवन को व्यवस्थित बनाने के बाद ही प्रभु ने एक लाख-पूर्व तक स्वयं अध्यात्म-साधना का मार्ग अपनाया और दूसरों को बताया। जीवन के ८४ में से ८३ भाग गृहस्थ-जीवन को विवेक, संयम एवं नियम से जीने की कला सिखाने में लगाये। उसके बाद अध्यात्म की शिक्षा दी। इसका स्पष्ट अर्थ है कि यदि व्यक्ति बाहर के सामाजिक जीवन व्यवहार में व्यवस्थित नहीं है, तो वह अन्तर् की अध्यात्म-चेतना में व्यवस्थित एवं स्थिर कैसे हो सकता है? इसलिए भगवान् ऋषभदेव का यह वज्र आघोष था कि व्यक्ति जीवन के हर क्षेत्र में व्यवस्थित रहे, सुखी रहे। वह बाहर में भी सुखी और अंदर में भी सुखी रहे। वह व्यक्तिगत जीवन में भी सुखी रहे और पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन जीते हुए भी सुखी रहे। भले ही वह अकेला रहे या सबके साथ रहे, हर-क्षण सुख-शान्ति की अनुभूति करे। यह स्पष्ट है कि प्रायः अच्छे परिवार एवं अच्छे समाज में से ही अच्छे धर्म का उद्भव होता है। सुन्दर एवं सुरम्य जीवन का प्रारंभ अच्छे समाज में से ही होता है। यदि कोई समाज दूषित है, पीड़ित है, दुष्कर्म में संलग्न है, हाहाकार की स्थिति में से गुजर रहा है, तो उन संतप्त चेहरों पर आन्तरिक मुस्कराहट की बाहर में चमक आना कठिन है। परन्तु वे महापुरुष धन्य हैं, जो रोती हुई आँखों में से आनन्द के स्रोत बहा देते हैं। इसलिए आचार्य समन्तभद्र ने कहा है कि भगवान् ऋषभदेव समग्र विद्याओं के आचार्य हैं, समग्र विद्याओं का प्रशिक्षण देने वाले जगद्गुरु हैं, परिवार, समाज एवं राष्ट्र के निर्माता हैं, फिर भी निरंजन अर्थात् निर्लिप्त हैं। उनके जीवन की चादर पर एक भी पाप की रेखा नहीं है, कालिमा का जरा-सा भी धब्बा नहीं है। वह जिन हैं, अर्थात् विजेता हैं। केवल राग-द्वेष के ही नहीं, समस्त समस्याओं के विजेता हैं, सब समस्याओं का सही समाधान करने वाले हैं। भगवान् ऋषभदेव का जीवन प्रारंभ से ही विजेता का जीवन रहा है। जिसने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चारों का सही रूप बताकर जीवन की सभी समस्याओं

आदिगुरु ऋषभदेवः

७

का हल करके पूर्ण शान्ति की राह दिखाई। अतः वह नाभिनन्दन ऋषभदेव प्रभु हमारे मन को पवित्र करें—  
**पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो।** तत्कालीन मानवजाति का चिन्तन सीमा-बद्ध क्षुद्र चिन्तन था, व्यक्ति अपने ही दैहिक घेरे में आबद्ध हो गया था। अपने सुख-दुःख तक ही उसका चिन्तन शेष रह गया था। व्यक्ति-व्यक्ति बिखरा हुआ था, वह माला का रूप नहीं ले पा रहा था। उन बिखरे हुए फूलों को माला का भव्य रूप देने वाला; परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व के रूप में सम्पूर्ण मानव-जाति एक है, का दिव्य उद्घोष करने वाला और मानव-जाति ही क्यों, जगत् के सभी जीव एवं समस्त प्राणी एक हैं का, मंगलपाठ सिखाने वाला आदि महा प्रभु ऋषभदेव हमारे अन्तर्मन को पवित्र करें। मन की पवित्रता में ही जीवन की, कर्म की पवित्रता है। **“नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।”**

**“आदि पुरुष, आदीश जिन, आदि सुविधि कर्तार।  
धर्म-धुरंधर परम गुरु, नमो आदि अवतार॥”**

# उभयमुखी क्रान्ति के सूत्रधार



# वीर-वन्दना

महावीर अतिवीर जिनेश्वर,  
वर्धमान जिनराज महान ।  
गुण अनन्त, हर गुण अनन्त तव,  
नहीं अन्त का कहीं निशान ॥

कब से तेरा चित्र लिए जग,  
खोज रहा तव रूप-समान ।  
मिला न कोई, थके सभी हैं,  
तेरी-सी बस तेरी शान ॥

तन के मानव पतित हुए थे,  
मन-मानवता अन्तर्धान ।  
तू ने जागृत कर मानवता,  
किया मनुज का पुनरुत्थान ॥

आत्मा में ही परमात्मा का,  
अनुपम है ज्योतिर्मय स्थान ।  
जागो, उठो, स्वयं को पाओ,  
यह था तेरा तत्त्व-ज्ञान ॥

मानव मानव सभी एक हैं,  
झूठा है सब भेद-वितान ।  
जन्म नहीं, शुभ कर्म दिव्य है,  
गूँज उठा तव मंगल गान ॥

भूलें स्वर्ग, धरा के सुख-दुःख,  
भूलें अन्य सभी अभिमान ।  
भूलेंगे न कभी भी तुझ से,  
उदय हुआ जो स्वर्ण विहान ॥

उभयमुखी क्रान्ति के सूत्रधारः

अपना ईश्वर तू ही खुद है,  
जाग, जाग रे मानव जाग ।  
जागा शिव है, सोया शव है,  
त्याग, त्याग तम-निद्रा त्याग ॥

अपना भाग्य हाथ में तेरे,  
भला-बुरा जो भी है काम ।  
कर सकता है, रोक न कोई,  
रावण बन अथवा बन राम ॥

प्राणिमात्र में परमेश्वर का,  
सुप्त अनन्तानन्त प्रकाश ।  
दीन-हीन मानव में जागृत,  
तू ने किया आत्म-विश्वास ॥

देव-लोक में नहीं सुधा है,  
सुधा मिलेगी धरती पर ।  
मधुर भाव के सुधा पान से  
तृप्ति मिलेगी जीवन-भर ॥

कटुता का विष जो फैलाये,  
वह मानव है अधम असुर ।  
देव वही है मधुर भाव से  
पूरित जिसका अन्तर उर ॥

युग-निर्माता महापुरुषों का निर्मल मानस सदा ही जनमंगल की ओर गतिशील रहता है। वे पूर्वागत उचित परंपरा को ग्रहण करने तथा अनुचित को तोड़ने, साथ ही अनेक आवश्यक नई परंपराओं को जन्म देने की त्रिविध शक्तियाँ रखते हैं। यह बात और है कि ऐसे युगनिर्माता सभी नहीं, एक-दो ही होते हैं। युग की पुकार ही युग-निर्माता को आगे आने को विवश करती है। और ऐसे युग-निर्माता का अनुसरण देर-सबेर युग करता ही है। अन्यथा जो प्रभावहीन हो, वह युगनिर्माता कैसा? राम, कृष्ण, महावीर तथा बुद्ध ऐसे ही युग-निर्माता हुए हैं। इन सभी महापुरुषों के द्वारा सर्वतोमुखी लोकमंगल का सृजन हुआ है और धर्म, समाज तथा राजनीति आदि जीवन के सभी पक्षों को इनसे नयी प्रभावशील सृजन-दृष्टि मिली है। अतः भगवान् के रूप में इनकी अर्चना अकारण नहीं है।

लोकमंगल की दिव्य दृष्टि एवं सृष्टि के निर्माताओं के इतिहास पर ज्यों ही एक विहंगम दृष्टि डालते हैं, तो हम अनायास ही भगवान् महावीर के युग-परिवर्तनकारी दिव्य रूप का दर्शन करते हैं। धर्म, समाज और राजनीति—तीनों ही क्षेत्र में भगवान् महावीर, हमें क्रान्तिशील दृष्टि-गोचर होते हैं। यह परम सत्य है कि भगवान् महावीर और उनके मूल दिव्य संदेश शाश्वत हैं। वे किसी एक देश-काल में परिवर्द्ध नहीं हैं। फिर भी युगदृष्टि उनके संदेशों में ओझल नहीं है।

### आध्यात्मिक क्षेत्र :

ईसा-पूर्व की छठठी शती संपूर्ण विश्व के लिए धार्मिक संक्रान्ति-काल मानी जाती है। हमारा भारत तो उस समय अत्यंत ही व्याकुलता के दौर से गुजर रहा था। धर्म के क्षेत्र में यहाँ केवल रूढ़ियाँ मात्र शेष रह गई थीं, धर्म का तेजस्वी रूप रूढ़ियों के अंधकार में विलीन हो चुका था। “वेदोहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्” का ज्योति उद्घोष करने वाला राष्ट्र उस समय स्वयं अंधकार में भटक रहा था; यज्ञयागादि के रूप में मूक-पशुओं का बलिदान देकर अपने लिए वह देवताओं की अनुकंपा प्राप्त करने की विडंबना अपना रहा था। धर्म के नाम पर, यत्र-तत्र उत्पीड़न-प्रधान क्रियाकांडों की जय-जयकार बुलाई जा रही थी। “पंच पंचनखा भक्ष्याः” की तमसा में अखाद्य वस्तु भी उसके लिए खाद्य वस्तु बन गई थी। मनुष्य एक प्रकार से मानवीवृत्ति से राक्षसी-वृत्ति पर उतर आया था और वह भी देवीवृत्ति की पवित्रता के नाम पर। करुणा और दया की ज्योति मनुष्य की आँखों से दूर हो चुकी थी। कहना तो यह चाहिये कि धर्म का कोई अंग ऐसा नहीं बच रहा था, जिसमें सत्यत्व होने की क्षमता शेष रही हो। ऐसे कठिन समय में भगवान् महावीर को हम सत्य-धर्म का निरूपण करते हुए देखकर निश्चय ही विस्मय-विभोर हो उठते हैं। अर्थहीन कर्मकांड के स्थान में अंतरंग परमतत्त्व को जागृत करने वाले अध्यात्मभाव की नयी दृष्टि प्रदान कर वे धर्म को अमंगलभूमि से मंगलभूमि में स्थापित कर देते हैं। शुभ और अशुभ की सत्यलक्षी यथार्थ व्याख्या करके मनुष्य-मात्र की आँखें खोल देते हैं, इसमें तनिक भी संदेह की गुंजाइश नहीं। अस्तु, सभी प्राणियों में परमात्म-तत्त्व की भावना अपनाकर, जो भगवान् महावीर के उपदेश का अमृत तत्त्व है, मनुष्य वास्तव में मनुष्य कहलाने का अधिकारी हो गया। मानवता की दिव्य-प्रभा से मानव-हृदय आलोकित हो उठा।

### सामाजिक क्षेत्र :

सामाजिक क्षेत्र में भगवान् महावीर की जो देन है, वह तो सर्वथा क्रान्तिकारी देन कही जायगी। समत्व की चर्चा मनुष्य समाज में प्रथम बार उनके द्वारा पुनर्जीवित हुई, व्यवहार में समता का जीवन मनुष्यों को प्रथम बार उनके द्वारा प्राप्त हुआ। शूद्र और नारी-समाज के लिए उन्होंने उत्थान का मार्ग प्रशस्त कर दिया। चिर-पतितों और उपेक्षितों के जीवन में प्रथम बार जागृति आई। युगान्तर स्पष्ट दर्शित होने लगा। शूद्रों की छाया से अपवित्र होने की आशंका पवित्र विप्रों के लिए नहीं रह गई। नारी को केवल भोग्य या दासी बनाकर नारकीय जीवन बिताने की आज्ञा देने वालों को अपनी क्रूरता पर पर्चात्ताप होने लगा। भगवान् महावीर के जन्म से पूर्व का इतिहास आज अलभ्य नहीं रह गया है। हम उसके पुरातन पृष्ठों में समाज का जो हृदय-द्रावक रूप पाते हैं, उसके स्मरण मात्र से रोमांच हो आता है। बाजार में खुल आम मातृ-जाति का क्रय-विक्रय होता था, उन्हें पशुओं की तरह खरीदने के लिए सड़कों पर बोलियाँ लगाई जाती थीं। इतना ही क्यों, यदि उन दास-दासियों की मृत्यु

स्वामी की प्रताड़नाओं से हो जाती थी, तो उसकी सुनवाई के लिए कहीं कोई स्थान नहीं था। कैसी विडम्बना थी कि उन दासों के हाथों भिक्षा ग्रहण करने में भिक्षुक भी अपना अपमान समझते थे। भगवान् महावीर ने प्रथम बार इस जघन्य वृत्ति के लिए समाज को चेतावनी दी; सृजनात्मक विप्लवी घोषणा की। इतिहास के पृष्ठों में चंदनबाला की कष्ट-कथा, तत्कालीन मनुष्य-समाज की दानवी-प्रवृत्ति एवं सामाजिक-विकृति दोनों को ही उजागर करने वाली कथा है। भगवान् महावीर ने उसे यंत्रणापूर्ण जीवन से उबार कर विराट् साध्वी-संघ के प्रमुखपद की उच्चपीठिका पर समासीन करने की भूमिका निवाही। उनके धर्म-संघ में वह श्रेष्ठ मानव-आचारों की प्रवक्ता बनी। पतित तथा शूद्र कहलाने वाला, अभिशापित दासवर्ग, जो जीवन भर दासकर्म करता हुआ रोता-पीटता मृत्यु के द्वार पर पहुंचता था, समाज में श्रद्धा भाजन ही नहीं, मुक्ति-लाभ करने वाला भगवत्स्वरूप अर्हन्त के रूप में भी पूजित हुआ। समाज की विषमता दूर करने में भगवान् महावीर को हम अन्य सभी महापुरुषों से आगे पाते हैं। ज्ञात इतिहास में उनके वैशिष्ट्य की तुलना सहज ही किसी दूसरे से नहीं की जा सकती।

### राजनीतिक क्षेत्र

हम देखते हैं, राजनीति के क्षेत्र में भी भगवान् महावीर की उपलब्धि किसी प्रकार कम नहीं कही जा सकती। जिस संक्रान्ति काल में उनका जन्म हुआ था, वह राजनीति का भी सर्वथा ह्रासकाल था। भारत ने प्रजातंत्र का नवीन प्रयोग कर जो कीर्ति प्राप्त की थी, उस प्रजातंत्र का मात्र ढांचा ही शेष रह गया था। प्रजातंत्र में भी अधिनायकवाद का उभरता प्रचंड काला नाग जनता का रक्तपान करने लगा था। प्रजातंत्र की जन्मभूमि वैशाली में जननायक जन से हटकर केवल नायक के आसन पर आसीन हो चुके थे। और तो क्या, राजा और राजा से ऊपर महाराजा का उच्च आसन भी रिक्त नहीं था, तत्कालीन प्रजातंत्रों में। इतिहास महाराजा चेटक को हमारे सामने सर्वाधिकार प्राप्त महाराजा के रूप में ही उपस्थित करता है। स्वयं भगवान् महावीर का जन्म-ज्ञात गणतंत्र के वैभवशाली एक विशिष्ट राजकुल में हुआ था। हम तो कहेंगे, प्रजातंत्र की अनेक अलोकतंत्रीय खामियों ने, नित्य के होने वाले उत्पीड़नों ने ही भगवान् को तथाकथित प्रजातंत्री जननायकों तथा एकतंत्री निरंकुश राजाओं के विरुद्ध बोलने को विवश कर दिया था। यहाँ तक कि उन्होंने अपने भिक्षुओं को राजकीय अन्न तक भी ग्रहण करने का निषेध कर दिया था। उन्होंने केवल आने वाले कठिन भविष्य की ओर तत्कालीन जननायकों का ध्यान ही आकृष्ट नहीं कराया, उन्हें सही रूप में जन-प्रतिनिधि के योग्य कर्तव्य-पालन की चेतावनी भी दी। महावीर ने कहा था—कोई कैसा ही महान् क्यों न हो, महाआरंभ और महापरिग्रह नरक के द्वार हैं। समग्र भाव से प्रजा के प्रति अनुकम्पाशील होना ही राजा का सही अर्थ में राजत्व है—‘सद्व्यपयाणुकपी’। यदि और कुछ उच्चतर पावन कर्म नहीं कर सकते हो, तो कम से कम साधारण आर्यकर्म तो करो। ‘अज्जाइं कम्माइं करेहिं रायं’ राजनीति के क्षेत्र में यह कितना महान् उद्बोधन था! कौन कह सकता है कि वैशाली जनतंत्र का विघटन भगवान् महावीर के उक्त साम्यधर्म को यथार्थ रूप में ग्रहण न करने के कारण ही नहीं हुआ? यदि वैशाली के जननायक अपने को साम्य भूमि पर उतार पाते, बिखरे जनगण को समघर्मा रूप में अपनाने का साहस अपनाते, तो वैशाली का जनमानस कभी विघटित नहीं होता। मगध की राजशक्ति वैशाली को चिरकाल में भी ध्वस्त नहीं कर पाती।

इतिहास का वातायन एक-एक अन्वेषी हृदय के लिए खुला हुआ है—हम जितनी बार चाहें, भगवान् महावीर के जीवन पर दृष्टिपात कर सकते हैं। हमें उनके जीवन एवं संदेशों में किसी भी वाद, किसी भी समस्या का समुचित समाधान आज भी प्राप्त हो सकता है।

**“जाती है जिस ओर दृष्टि, बस उसी ओर आकर्षण।  
करता अग-जग को अनुप्राणित, जगनायक का जीवन।”**



# अन्तर्यात्रा का प्रस्थान बिन्दु

तथ्य को सम्यक् रूप से जानना मात्र ही सम्यक्-दर्शन नहीं है।  
स्वयं ज्ञाता का सम्यक् होना सम्यक्-दर्शन है।

आचार्य उमास्वाति कहते हैं—“तत्त्वार्थं श्रद्धानं सम्यक्-दर्शनम्”—अर्थात् तत्त्वरूप अर्थ पर श्रद्धा करना सम्यक्-दर्शन है। दर्शन के इस महापण्डित ने प्रस्तुत लघुकाय एक सूत्र में जितनी गहरी बात कह दी है, वह गंभीर विचार के योग्य तो है ही, साथ-साथ दार्शनिक-चिन्तन की महत् उपलब्धियों की अर्थवत्ता का भी दिग्दर्शन कराती है एवं साधना के प्रस्थान-बिन्दुओं का स्पष्टीकरण करती है। दर्शन का महान् आचार्य इस सूत्र के माध्यम से कहता है कि सत्य का जो तत्त्वरूप अर्थ है, उसका निष्ठापूर्वक सम्यक्-रूपेण दर्शन करना ही जीवन का प्रथम श्रेयस् है।

अनन्त ग्रनादि काल से ही मनुष्य सत्य की महत् उपलब्धियों का अन्वेषण करता आ रहा है। यह उसकी सत्य एवं परम सत्य के प्रति एक सहज जिज्ञासा है। परम चैतन्य की उपलब्धि की दिशा में एक आन्तरिक प्रेरणा-दायक शक्ति है। प्रतिक्षण परिवर्तनशील जगत् की उत्पत्ति, विकास और विनाश के मध्य हो रही अदृश्य लीला के संबंध में मानव की वृत्ति एवं प्रवृत्ति प्रारंभ से ही उत्सुक रही है। वह विश्व के सारे रहस्यावृत परिवेश के कार्य-कारण संबंधों, गूढ़ रहस्यों और विवेचना की पद्धतियों के बारे में एक सहज आन्तरिक अपनत्व की भावना रखता है और उनके समस्त आयामों को पकड़ लेना चाहता है। उसकी जिज्ञासा क्षितिज के पार—दूर और बहुत दूर तक की तमाम सीमाओं और संभावनाओं को अपने ज्ञान की इयत्ता की परिधि में आवद्ध कर लेना चाहती है। मनुष्य के अन्तर्मन की इस तीव्र आकांक्षा ने ही उसे सत्यान्वेषण की दिशा में अनवरत गतिमान बनाया और जिज्ञासा के विभिन्न पहलुओं को अपनी मनस्-प्रज्ञा में आवद्ध करने का प्रयत्न किया है।

सम्पूर्ण चराचर में सत्य विद्यमान है, यह जो चेतना की प्रखर-दीप्ति अणु-अणु को प्रकाश से आध्ला-वित कर रही है, वह मानव के समग्र कार्य-व्यापार को स्वच्छ जल की भांति निर्मलता प्रदान कर रही है। इसे हम प्रज्ञा का बोधमय संसार कह सकते हैं। विभिन्न युगों में विभिन्न महापुरुषों ने, चिन्तकों ने, सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करने का, विश्व के तमाम सत्यों को जीवन में उपलब्ध करने का सर्वदा सर्व-मंगल भाव उत्पन्न किया है। मन, वाणी और कर्म के परम तेजस् की ओर केन्द्रित किया है। मनुष्य की जो चैतन्य अवस्था है, चिन्तन के जो ऋजु संकल्प हैं, वे मनुष्य को तर्क और भाव दोनों ही प्रकार की मनीषाओं से समन्वित करते हैं और एक महिमामयी स्पन्दन से मानवीय भाव-पुष्प-वृक्ष का सौरभ दूर देशान्तरों तक पहुँचा आने का गुरु-कार्य शब्द समीर के हाथों सौंपते हैं।

सत्य के प्रति होने वाले उक्त आग्रह ने एक ओर जहाँ संकीर्ण सीमाएँ खड़ी की हैं, वहीं आकाश की भांति इसका विस्तार भी किया है। अपनी प्रज्ञा की कसौटी पर जगत् के तमाम रहस्यों को अनुभूति में न समा पाने वाली अपने तर्क की चादर पर तमाम मन्तव्यों को पसार कर, एक-एक रेशे को उधेड़ कर मनुष्य जान लेना चाहता है। वस्तुतः यथार्थ सत्य क्या है? विभिन्न दृष्टियों से, शास्त्रों के विभिन्न द्वारों से, धर्माचार्यों के विभिन्न अनुभूत तथ्यों से वह अपने मस्तिष्क की प्रयोगशाला को परिचित कराना चाहता है और इस बिन्दु पर आकर ज्ञान की भाव समृद्धि के साथ चिन्तन के सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित हो जाना चाहता है। आर्यावर्त की पुण्य-भयी धरती की यह वह महान् ऊर्जा है, जिसकी उष्मा सहस्राब्दियों से मानव के अन्तर् की अनन्त शक्ति को ज्ञात कर लेने का सोझ भाव विश्व वाङ्मय की चेतना में प्रसारित कर रही है।

भारतीय धर्माचार्यों ने विभिन्न दृष्टियों से सम्यक् रूपेण सत्य को अनुभूत कर लेने का जो मार्ग बतलाया है, उसमें जो सबसे बड़ी बात सामने आती है, वह है दृष्टि की विशुद्धता, मनश्चेतना की ऋजुता, चित्त के एकाग्र-करण की अखण्ड एवं निर्द्वन्द्व धारणा। विश्व में जो कुछ भी यथार्थ है उसे जान लेना इतना सहज नहीं है, जितना कि साधारणतया लोग समझ बैठते हैं। विश्व के रहस्यों को जानने के लिए, वस्तु के यथार्थ स्वरूप से परिचित होने के लिए दृष्टि की पक्ष-मुक्तता, समुन्नतता, चिन्तन की एकाग्रता एवं मन की निर्मलता नितान्त आवश्यक है। जब तक शुचिता के ये सारे स्वरूप मनुष्य को उपलब्ध नहीं होंगे, तब तक सम्यक् रूपेण यथार्थ ज्ञान नहीं होगा। अतएव हर जिज्ञासु को इस दिशा में गतिमान होने के पूर्व अपने चिन्तन का परिष्कार कर लेना चाहिए, अन्यथा हृदय में विशुद्ध भाव उत्पन्न नहीं होगा। और जहाँ विशुद्ध भाव नहीं है वहाँ शुद्ध सत्य की अनुभूति भी असंभव है।

‘स्व एवं पर’ को जानने की जिज्ञासा के संबंध में भगवान् महावीर दृष्टि के परिष्कार की बात कहते

हैं। उनका कहना है कि दृष्टि की शुद्धि के बिना 'स्व' या 'पर' किसी भी द्रव्य या पदार्थ अथवा तत्त्व का सम्यक्-ज्ञान नहीं हो सकता। कोई भी वस्तु हो, कोई भी आगम-शास्त्र हो, किसी भी महापुरुष के वचन हों, उनका यथार्थ मर्म उसी के अन्तर में प्रकाशमान होता है, जिसकी दृष्टि शुद्ध है, आग्रह-दुराग्रह से रहित है। वस्तु, वस्तु है। शास्त्र, शास्त्र हैं। उसे ग्रहण करने की, देखने की दृष्टि अगर सम्यक् है, तो वह उसके लिए सम्यक् रूप में परिणत होते हैं। अन्यथा आग्रहग्रहिल मानव का अशुद्ध मन और अधिक असत्य के सचन अन्धकार में भटक जाता है। शास्त्र प्रकाश भी है, और अन्धकार भी। शुद्ध दृष्टि के लिए प्रकाश है, तो अशुद्ध दृष्टि के लिए अन्धकार।

अतएव आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य की जिज्ञासु वृत्ति में विशुद्ध भावना प्रस्फुटित हो। उच्चतर अवस्था की जो भी महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं, वे साधक से यह प्राथमिक अपेक्षा रखती हैं कि वह तमाम पूर्वाग्रहों से मुक्त हो और सत्य के प्रति समर्पित विशुद्ध भाव-चेतना की सामग्रिक शक्ति को प्राप्त करे। जहाँ पूर्वाग्रहों के रंग मन-मस्तिष्क को आच्छादित किये रहते हैं, जहाँ चिन्तन में कुछ पूर्व धारणायें अवस्थित रहती हैं, वहाँ उन्हीं के अनुरूप वस्तु का स्वरूप परिलक्षित होता है। सत्य को प्राप्त करने के लिए इस प्रकार की सभी अहं भावनाओं का साधक को परित्याग करना चाहिए। जहाँ ऐसा नहीं हो पाता है, वहाँ उसी का दर्शन होता है जिसकी एक भाव-मूर्ति मन में पहले से अवस्थित रहती है। ऐसा आग्रही साधक सत्य को प्राप्त करने में, चैतन्य की स्वानुभूति को भाव-समुद्र के अतल तल में ले जाने में असमर्थ रहता है। इतिहास साक्षी है कि ज्ञान के महासागर के पास जाकर भी अशुद्ध दृष्टि के लोग कुछ नहीं प्राप्त कर सके। भगवान् महावीर जैसे विराट् ज्योतिर्मय महापुरुष के सम्पर्क में छह वर्ष तक गोशालक रह कर भी उस महाप्रकाश से कुछ भी प्राप्त नहीं कर सका। उसका अन्तर्-मन क्रोध, अहंकार, द्वेष, घृणा, नफरत, वैर एवं प्रतिशोध की आग में ही जलता रहा। ऐसा इसलिए हुआ, क्योंकि उसकी पूर्वाग्रह-ग्रस्त मानसिक प्रवृत्तियाँ परिष्कृत नहीं हो सकी। अहं आदि विकारों के विसर्जित नहीं हो जाने के कारण वह घृणा एवं द्वेष के सिवा अन्य कुछ भी नहीं प्राप्त कर सका। और तो और, एकदिन तो उसने अपने परमाराध्य महान् गुरु को भस्म करने के लिए घृणित प्रयत्न भी किया था। यही हाल जमाली का हुआ। वह वीतराग महावीर के श्रीचरणों में रहकर भी श्रेयस् तक नहीं पहुँच पाया। इतिहास में यत्र-तत्र इस प्रकार के सहस्राधिक उदाहरण आज भी उपलब्ध हैं।

शान्ति के महान् अग्रदूत तथागत बुद्ध का शिष्य देवदत्त भी इसी प्रकार के भयंकर पूर्वाग्रहों में उलझकर रह गया। बुद्ध जैसे महापुरुष के समीप रह कर भी दृष्टि की मलिनता के कारण वह अभीष्ट महत् की उपलब्धि नहीं कर सका। इतना ही नहीं, उसने उस प्रबुद्ध चैता को मारने की भी विभिन्न चेष्टाएँ कीं। ऐसा क्या था, जिसके कारण महापुरुषों के सान्निध्य में रहकर भी इनकी अहंजन्य उदंडता समाप्त नहीं हो सकी और वे विनम्र भाव से शुद्ध सत्य के अन्वेषी नहीं बन सके। इन सारी बातों की पृष्ठभूमि में एक ही बात परिलक्षित होती है कि इनकी दृष्टि में व्यामोह का तमस् था, भावनाओं में मलिनता थी और उनके अन्तश्चक्षुओं पर पूर्व धारणाओं के रंगीन चश्मे चढ़े थे।

इन सारी बातों के पश्चात् सर्वतोभावेन एक बात स्पष्ट हो जाती है कि जब हम स्वयं के पूर्व-प्रतिबद्ध आग्रह को सूत्र बनाकर चलते हैं, तब हम अनन्त ज्योतिर्मय सत्य को उपलब्ध कर पाने में असमर्थ हो जाते हैं। इसलिए भगवान् महावीर सत्य के पक्षमुक्त शुद्ध स्वरूप को देखने की विशाल एवं समुन्नत शक्ति प्राप्त करने के लिए पूर्वाग्रहों के परित्याग की बात कहते हैं। बाह्य पदार्थों का अल्प या पूर्ण त्याग महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण है त्याग-वृत्ति की भावना। जब तक दृष्टि आग्रहमुक्त नहीं होती, तब तक सत्य को अनुभूत कर पाना असंभव है। इसी परिष्कृत तत्त्वमयी शुद्ध दृष्टि को भगवान् महावीर सम्यक्-दर्शन कहते हैं।

यह सत्य है कि शास्त्र, सत्य के साक्षात् द्रष्टा महापुरुषों की वाणी के संकलन हैं, परन्तु यदि उनका अध्ययन किसी प्रकार के आग्रह को मन में रख कर किया जाता है, तब सत्य उपलब्ध नहीं होता, प्रत्युत उसके स्थान पर परिणामस्वरूप तथाकथित विभिन्न पंथों के चक्रव्यूह निर्मित हो जाते हैं। जैन-परम्परा में भी इस प्रकार के बहुत से पंथों का निर्माण हो गया है। ये सभी पंथ भगवान् महावीर का नाम लेते हैं। उन्हें अपना आराध्य देव मानते हैं। बात-बात पर उनके द्वारा प्ररूपित शास्त्रों को सामने रखते हैं। परन्तु विडम्बना की बात यह है कि इन तमाम पंथों में परस्पर बेतुका संघर्ष छिड़ा हुआ है। और दुर्भाग्य है कि वे सारे के सारे संघर्ष भगवान् के नाम

पर हैं, आगमों के ऊपर हैं। अन्तर शास्त्रों में या उनके शब्दों, एवं मन्तव्यों में नहीं है। अन्तर उनकी अर्थ-व्यंजना में है। हर पंथ अपने मान्य आग्रह के अनुरूप उन शब्दों का अर्थ करता है। ऐसी अवस्था में सही-गलत का निर्णय कर पाना कितना कठिन है, इसे कोई भी विचारक महसूस कर सकता है। अहंकार एवं दम्भ के साथ स्वयं को महावीर का सच्चा अनुयायी कहना एवं अपने पंथ को ही सम्यक्त्व का निर्णायक बिन्दु मानना, मिथ्यादृष्टि नहीं, तो और क्या है? पंथों की उक्त स्थिति पर विचार करने के पश्चात् ऐसा लगता है कि भगवान् महावीर के प्रवचनों की, आगमों की तथा उनके विचारों की दुहाई तो बहुत दी जाती है, पर उनको सही रूप से समझा नहीं गया है। शास्त्रों का पारायण इस पद्धति से किया जा रहा है कि जिसमें सत्य नहीं, बल्कि अपनी मान्यताएँ उपलब्ध हों—  
**“आग्रही वत निनीषति युक्ति, यत्र तत्र मतिरस्य निविष्टा।”**

ऐसी अवस्था में कुछ यथाप्रसंग परिकल्पित साम्प्रदायिक मान्यताएँ वीतराग की वाणी को अपनी पूर्व निर्धारित चिन्तना के साँचे में ढालने का प्रयास करती हैं। अपनी मान्यता के अनुसार वे भगवान् महावीर और उनके दर्शन की व्याख्या करना प्रारंभ कर देते हैं। सचेल-अचेल आदि के अनेक एकान्तवाद इसी आधार पर पल्लवित हुए हैं, जो आज दिग्भ्रमर और स्वैताम्बर आदि के अखाड़ों के रूप में बुरी तरह संघर्षरत हैं। यह बात सिर्फ जैनधर्म के विभिन्न पंथों में ही है, ऐसी बात नहीं है। अन्यत्र भी यही स्थिति दृष्टिगोचर होती है।

विश्वचेता श्रीकृष्ण के मुख से निःसृत भगवद्गीता ही उदाहरण के रूप में हमारे समक्ष है। गीता का शब्दशरीर एक है, परन्तु अपनी पंथगत मान्यता के अनुसार विद्वानों ने उस पर विभिन्न भाष्य एवं टीकाएँ लिखी हैं। शंकर गीता की अद्वैतपरक व्याख्या करते हैं। रामानुज विशिष्टाद्वैतपरक। कोई गीता में एकान्त कर्मयोग देखता है, तो कोई ज्ञानयोग एवं भक्तियोग। उपनिषदों की भी यही स्थिति है। प्रायः सभी टीकाकार अपनी साम्प्रदायिक मान्यताओं के अनुसार उनके अर्थ करते हैं और फलतः सबके अर्थों का स्वर परस्पर विरोधी है।

कहने का तात्पर्य यह है कि सत्यान्वेषण में हम अपनी प्रज्ञा को महापुरुषों के चिन्तन का सहयात्री नहीं बनाते, बल्कि अपनी कल्पित धारणा के साथ महापुरुषों को जोड़ लेने का दुराग्रह मन में पाल लेते हैं। परन्तु हर विचारवान प्रबुद्ध मनीषी की चेतना को यह सोचना चाहिए कि सत्य मान्यताग्रस्त पंथों में नहीं है। पंथों के संकीर्ण घेरे में तो महापुरुषों का सत्य तिरोहित हो गया है, धूमिल पड़ गया है।

इसीलिए सत्य के साक्षात् द्रष्टा भगवान् महावीर ने कहा है—कि सम्यक्त्व आत्मा की अनुभूति है। उस पर किसी पंथ का एकाधिकार नहीं है। वह स्वयं में स्वयं का बोध है। वह सत्य दर्शन की एक ज्योतिर्मय चेतना है, जो दर्शन-मोह के आवरण के नीचे दब गयी है। जिस वक्त मनुष्य मोहव्यवस्था से मुक्त होगा, उसी वक्त परम ज्योति से उसका साक्षात्कार हो जायेगा। सम्यक्त्व के लिए शास्त्र-आलोकित बहुत बड़े ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों को जानना आवश्यक नहीं है। संसार के जटिल रहस्यों में उलझने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता तो अपने अन्तर्जगत की खोज की है, अविद्या के आवरणों को छिन्न-भिन्न करने की है, और अपनी दृष्टि को सत्योन्मुखी विशुद्ध भावना से परिपूरित करने की है। दृष्टि की मलिनता को समाप्त करने की है। मूलतः दृष्टि की मलिनता के समाप्त होते ही सत्य की, स्व-स्वरूप की उपलब्धि हो जाती है। अपने यथार्थ स्वरूप को निश्चयतः जानना ही सम्यक्त्व है। यहाँ किसी प्रकार की सौदेबाजी नहीं चल सकती। यह स्वानुभूति है। संसार की सारी उपलब्धियों को हासिल कर लेने के बाद भी अगर साधक अपने यथार्थ स्वरूप से परिचित नहीं हुआ, तो सब व्यर्थ है। आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है—

**“दर्शनमात्मविनिश्चितिर्—  
आत्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।  
स्थितिरात्मनि चारित्रं,  
कुत एतेभ्यो भवति बन्धः॥”**

सबसे महत्वपूर्ण बात यही है। यह आध्यात्म दृष्टि ही बन्धन-मुक्ति का शुद्ध एवं सम्यक् साधना-पथ है। इसी की प्राप्ति जीवन का महत् उद्देश्य है। सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान, एवं सम्यक्-चारित्र्य का यह साधना-पथ किसी भी बाह्य विधि-निषेध की परिधि में आवद्ध नहीं है। यह आत्मभाव की निर्मलता का सर्वोच्च शिखर है।

यहाँ किसी भी प्रकार के साम्प्रदायिक मान्यतावाद, शास्त्रवाद तथा क्रियावाद आदि के उत्कृष्टतावाद का अहंकार एवं दंभ नहीं रहता है। यह तो जीवन की एकमात्र सत्य के प्रति समर्पित साधना है।

आत्म-विनिश्चय दर्शन है, आत्म-परिज्ञान ज्ञान है, आत्मा की आत्मरूप से आत्मा में लीनता चारित्र्य है। सर्वत्र आत्मभाव का ही ब्रह्मनाद है। 'पर', पर है, उससे पराङ्मुख होकर 'स्व' में स्व का निश्चय, दर्शन है, स्व में स्व का बोध ज्ञान है, और स्व में स्व की स्थिति ही चारित्र्य है। जो भी है, वह स्व है। यहाँ राग-द्वेष कैसा, और उसका प्रतिफल बन्ध कैसा? बन्ध नहीं, तो संसार कैसा? अतएव अध्यात्म गुरु अमृतचन्द्र ने अर्थात् सत्य ही कहा है कि चित्स्वरूप आत्मा का बाह्य भाव से हटकर आत्मस्वरूप में, स्वभाव में स्थिर हो जाना ही सम्यक्-चारित्र्य है। संसार के नाम पर हो, या धर्म के नाम पर, राग-द्वेष के जितने प्रवाह हैं, वे सब के सब स्वभाव से बाहर हैं। बन्ध के हेतु हैं। मुक्ति के साथ उनका दूर का भी कोई सम्बन्ध नहीं है, वह एक प्रकार की मृग मरीचिका है। उसका अन्तर् से कोई संबंध नहीं है। अतः वह न सम्यक्-दर्शन है, न सम्यक्-ज्ञान है और न वह वास्तविक चारित्र्य ही है। सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्-ज्ञान-मूलक सम्यक्-चारित्र्य का अर्थ तो आत्म-स्वरूप में रमण करना है।

वीतराग भावना की वृद्धि जहाँ नित्य-निरन्तर हो रही है, विकल्पों एवं राग-द्वेषों में मन जितना ही कम उलझता जा रहा है, वहाँ उतना ही दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य निर्मल होता है और जब सम्पूर्ण रूप से यह निर्मलता जीवन के अणु-अणु में व्याप जाती है, तब निरावरणता का वह अनिर्वचनीय अनन्त प्रकाश आविर्भूत होता है, जिसके होते ही 'जिनत्व' की प्राप्ति हो जाती है।

दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य के रूप में आत्मा की स्वभाव में रमण करने की यह स्थिति ही भव-बंध के समस्त पाशों का नाश करती है, जीव को कल्याण मार्ग पर लाती है। यहाँ बन्ध के हेतु राग-द्वेष रूप आश्रय का अभाव होता है और आश्रयनिरोध रूप संवर की स्थिति उत्पन्न होती है। संवर की स्थिति को प्राप्त करने के लिए ही व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह सहन, जप तथा चारित्र्य की साधना का मार्ग है। संवर से आते हुए नये कर्म अवरुद्ध हो जाते हैं। निर्जरा के द्वारा जीव पूर्ववद्ध कर्मों के बंधन से क्रमिक मुक्त होता जाता है। निर्जरा की क्रमिक यात्रा के पश्चात् अन्ततः पूर्ण मोक्षावस्था आती है। मुक्ति के ये वे आयास हैं, जहाँ सर्वप्रथम तत्त्व के प्रति जीव को श्रद्धा अर्थात् सत्यनिष्ठा होती है और यहीं से सम्यक्-ज्ञान की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। ज्ञान के सम्यक् होने में एकमात्र हेतु है सम्यक् दर्शन, अर्थात् सम्यक्त्व। सम्यक्-ज्ञान के होने पर ही आत्मा संशय, विमोह और विभ्रम से रहित हो जाता है। ज्ञान की निष्कलुषता ही ज्ञान का सम्यक्त्व है। सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-ज्ञान के आधार पर ही मोह-क्षोभ रहित, वीतरागभावरूप सम्यक्-चारित्र्य का आविर्भाव होता है।

उक्त रीत्या सम्यक् स्थिति को प्राप्त दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य अन्तर्जगत् में साधना का पवित्र त्रिवेणी-संगम है। तीनों का तीन रूप में नहीं; अन्ततः संगम के रूप में तीनों के एकरूप हो जाने में ही अर्हद्भावरूप, परमात्म-भावरूप अनन्त परम चैतन्य का, अक्षय, अजर, अमर प्रकाश प्रकट होता है। परन्तु ध्यान रखिए, उक्त अध्यात्म त्रिवेणी संगम की प्रथम धारा सम्यक्त्व है, जिसे दर्शन, दृष्टि, तत्त्वविनिश्चय, आत्मप्रतीति, आत्मानुभूति, श्रद्धा, निष्ठा एवं तत्त्वर्चि आदि अनेक अर्थगर्भित उदात्त नामों से शास्त्रकार तत्त्वदर्शी चिदात्माओं ने अभिहित किया है, अतः धर्म-साधना के लिए प्रस्थानविन्दु के रूप में सर्वप्रथम उसी का विशुद्ध होना परमावश्यक है। दर्शन विशुद्धि ही तीर्थकरत्व जैसे परम पद का प्रथम हेतु है।

अतएव आवश्यकता इस बात की है कि वृत्तियों का अन्तरंग सत्यनिष्ठा के साथ परिष्कार हो, तदनन्तर सभी रागमूलक शुभाशुभ विभावों से निवृत्त होकर, शुद्ध स्वभाव में रमणता हो। इसमें ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसे मनुष्य न कर पाये। बस, इसके लिए एकमात्र सम्यक् संकल्पवान् होने की जरूरत है, श्रद्धा की पावन कलकल निनादिनी को अपने भीतर पूर्णरूपेण आत्मसात् करने की जरूरत है।

यह एक शाश्वत सत्य है कि मनुष्य जब-जब सत्योपलब्धि की ओर प्रवृत्त हुआ है, उसके मन प्राण में अनिर्वचनीय एक दिव्य पुलक समाया है, उसकी चेतना में अमोघ जागरण-मंत्र ध्वनित हुआ है। वह तर्क और भाव की दोनों अवस्थाओं से गतिमान् रहा है। श्रद्धा समत्वरूप से इन दोनों का वहन करती रहती है। और सत्योप-

लब्धि का समुचित मार्ग ज्यों ही अधिकृत होता है, तर्क समाप्त हो जाते हैं, सम्यक्-ज्ञान प्रकाशमान हो जाता है, और भाव का अमृत सागर हिलकोरें मारने लगता है। यही तत्त्व का सम्यक्-दर्शन है, यही यथार्थ की तत्त्व-दृष्टि है और यही है बन्धमुक्ति की यात्रा का प्रस्थान बिन्दु, और चेतना के ऊर्ध्वारोहण का प्रथम सोपान। जिसके फलस्वरूप मनुष्य अतुल निधि का स्वामी बन पाया है, शाश्वत प्रदेश के गुह्य प्रान्तों का अन्वेषण कर पाया है।

भगवद्गीता में कृष्ण ने कहा है—“श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्” श्रद्धावान् को ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। आवश्यकता श्रद्धा की ही है। जीवन को उत्तरोत्तर विकास की दिशा में गतिशील रखने के लिए अन्तर् में श्रद्धा का होना नितान्त आवश्यक है। यही वह पथ है, जिस पर चलकर सम्यक् रूपेण स्व-स्वरूप की, सत्य की उपलब्धि की जा सकती है। इस विभ्रान्तिजन्य काल को चिन्तन के नये आयाम दिये जा सकते हैं। बिखरती मानवता को शाश्वत शांति का मंगल संदेश सुनाया जा सकता है।

यह सम्यक्-ज्ञान ही मनुष्य की अन्तिम अभिलाषा है। यही धर्म है, जिसे धारण कर मनुष्य मनुष्य है। क्योंकि आहार आदि और सारे कार्य तो सभी योनियों में चलते रहते हैं। नीतिकार ने लिखा है—

आहार-निद्रा-भय-मैथुनं च, सामान्यमेतत् पशुभिर् नराणाम् ।  
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥





# आत्मा वै परमेश्वरः

प्रभु का दर्शन पाना है, तो—  
खोज रहे क्यों धरती-अंबर ?  
निर्मल ज्योति विराजित है प्रभु,  
सदाकाल से निज घट अन्दर ॥

ईश्वर के सम्बन्ध में भारतीय चिन्तकों ने विभिन्न प्रकार की अवधारणाएं घोषित की हैं। कहीं द्वैत, कहीं द्वैताद्वैत, कहीं विशिष्टाद्वैत, एवम् कहीं अद्वैत भावना का प्रचार-प्रसार हमें यत्र-तत्र मतों एवम् शास्त्रों में उपलब्ध होता है। इन सबसे भिन्न जैन-दर्शन की जो अवधारणा सर्वोच्च पवित्र सत्ता की है, उसे लेकर काफी वाद-विवाद एवम् आलोचनाएं हुई हैं। जैन-दर्शन ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करता है या नहीं, यह एक बहुत ही जटिल एवम् उलझन-भरा प्रश्न है। प्राचीन इतिहास के अध्येताओं को यह ज्ञात है कि ईश्वरवादी कुछ विद्वानों ने जैन दर्शन को अनीश्वरवाद का प्रवक्ता प्रमाणित करने की कोशिश की है। उन विद्वानों के अनुसार जैन दर्शन ईश्वर की सत्ता को नहीं मानता। अतएव वह अनीश्वरवादी है। परन्तु इस प्रसंग में कहीं भी यह व्याख्या प्रस्तुत नहीं की गयी कि आखिर जैन-दर्शन ईश्वर को कैसे नहीं मानता। जैन-दर्शन का, परम चैतन्यस्वरूप ईश्वरत्व से जड़वादियों की तरह सर्वथा इन्कार है, या उसके स्वरूप के सम्बन्ध में उसका अपना एक भिन्न दृष्टिकोण है। अतः ईश्वर-सम्बन्धी आक्षेप-प्रत्याक्षेपों से जरा कुछ दूर रहकर पहले विभिन्न मतवादों की ईश्वरीय मान्यताओं के सम्बन्ध में विचार कर लेना, प्रस्तुत में अधिक प्रासंगिक है।

कुछ भारतीय दर्शनों में ईश्वर का प्रारंभिक स्वरूप व्यक्तिवादी है। उनकी मान्यता के अनुसार विश्व-व्यापी कार्य-कारणों का सर्वतंत्र स्वतंत्र स्वामी कोई एक है, जिसकी इच्छा ही सर्वोपरि है। वह सारे विश्व का नियन्ता है। इसके लिए एक सूत्र में कहा गया है— 'कर्तुम्, अकर्तुम्, अन्यथा—कर्तुम् क्षमः। कर्तुम्—अर्थात् वह जो नहीं होने जैसा है, उसे भी कर सकता है। अकर्तुम्—अर्थात् जो होने जैसा है, उसे न करे, उसे न होने दे। विधि को निषेध में परिवर्तित कर दे। तीसरा रूप है—अन्यथा कर्तुम्—यानी जो जिस रूप में घटित होनेवाला है, उसे उस रूप में न होने देकर किसी अन्य विचित्र विपरीत रूप में ही घटित कर दे। इस प्रकार न्याय-दर्शन और अन्य अनेक पौराणिक मतों के अनुसार ईश्वर में सब-कुछ करने की शक्ति है। वह सृष्टि के चक्र में किसी भी प्रकार का परिवर्तन कर सकता है। उक्त कथन से यह तात्पर्य स्पष्ट हो जाता है कि इस समग्र दृश्य-अदृश्य विश्व में एक अलग सर्वोपरि शासक ईकाई है, जो अपनी इच्छानुसार सारे विश्व का सृजन, पालन और संहरण करता है।

इस प्रकार की कर्तृत्ववादी चिन्तन परम्परा शनैः शनैः विकसित होती हुई भक्तियुग में आकर अपनी चरम अवस्था को प्राप्त करती है। भक्तियुग में ईश्वर-सम्बन्धी अनेक अवधारणाएं इतनी पुष्ट हो गयीं कि उसे किसी ने घट-घट का वासी सर्वव्यापी बताया और किसी ने व्यक्ति विशेष के रूप में वैकुण्ठ आदि स्थान-विशेष का निवासी, संसार का नियन्ता और मालिक। यथाप्रसंग विभिन्न प्रकार के छोटे-बड़े भक्ति-मार्गों की स्थापना हुई और मानव के भावना प्रधान चिन्तन को उपासना के रूप में अनेक नयी दिशाएँ मिलीं।

उक्त भक्तिवादी ईश्वरीय मान्यता में जीव एवम् ईश्वर का द्वैतभाव बना रहता है। ईश्वर को अपने से भिन्न मानने की प्रणाली में घट-घट का वासी ईश्वर को मान लेने पर भी जीव और ईश्वर के पार्थक्य में कुछ विशेष अन्तर नहीं है। जीव के अन्दर रहते हुए भी ईश्वर जीव से पृथक् है, जैसे कि घट में जल। जल घट में रहकर भी अपने गुणधर्म से वह पार्थिव घट से सर्वथा और सर्वदा भिन्न है।

जैन-दर्शन की ईश्वर-सम्बन्धी अवधारणा बहुत स्पष्ट एवम् गंभीर है। उसकी मान्यतानुसार ईश्वर परमात्म तत्त्व है, अतः वह आत्मा का ही परम रूप है। सृष्टि कर्ता, सृष्टि हर्ता आदि के कर्तृत्व से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। वह स्व-सत्ता का अवश्य अखण्ड अधीश है, पर-सत्ता का नहीं। यह पर-सत्ता का अधीशत्व परम पवित्र द्वन्द्वमुक्त परमात्मभाव के लिए क्या अर्थ रखता है? अतः इस प्रकार का कर्तृमूलक जिनेश्वर-सम्बन्धी द्वैतभाव जैन-दर्शन को स्वीकार नहीं है। इस सम्बन्ध में उसकी दार्शनिक मान्यताएं एवम् विवेचनाएं चिन्तन के नितान्त नये बोधगम्य आयामों को छूती हैं और मनुष्य को मुक्ति का वह परम पथ दिग्दर्शित कराती हैं, जहाँ मानव की अपने प्रति हीन भावना की मान्यताओं का विलोप हो जाता है और अपने सम्बन्ध में उसे एक स्पष्ट उच्चतर अध्यात्म दृष्टि प्राप्त होती है। जैन-दर्शन की दृष्टि में सर्वोपरि सत्ता के रूप में कोई भी ईश्वर कर्ता एवं हर्ता नहीं है। इस प्रकार की कोई भी मान्यता जैन-दर्शन को स्वीकार नहीं है कि ईश्वर सर्वदा ईश्वर ही रहेगा और जीव सदा ईश्वर का दास, गुलाम। वह त्रिकाल में भी ईश्वरत्व की उपलब्धि नहीं कर सकेगा। यदि साधना के बल पर आध्यात्मिक पवित्रता की प्रक्रिया में से गुजर कर संसारी आत्मा ईश्वर एवं परमात्मा हो जाए, तो फिर वह

ईश्वर ही कैसा ? ईश्वर की अपनी विशेषता ही क्या रही ? उक्त धारणा में स्पष्ट ही आत्माओं के लिए त्रैकालिक दासत्व का भाव नियत है, जो जैन-दर्शन को स्वीकार नहीं है।

जैन-दर्शन की ईश्वर-सम्बन्धी उक्त उदात्त विचारधारा के कारण अनेक दर्शनाचार्यों ने उसे अनीश्वर-वादी कह कर हठात् नास्तिकों की परंपरा में खड़ा कर दिया है एवम् उसकी कटु आलोचनाएँ की हैं। परन्तु किसी ने भी तटस्थ दृष्टि से उसकी विकासोन्मुख समृद्ध भावचेतना पर विचार नहीं किया, जिसके फलस्वरूप वे जैन-दर्शन की उदात्त आस्तिक दृष्टि को हृदयगम करने में असफल रहे। मूलभूत सत्यों के प्रति दुराग्रह वृत्ति ने उसके 'आत्मा ही परमात्मा' के सिद्धान्त पक्ष को समझने एवम् आत्मविकास की अन्तिम सर्वोच्च स्थिति निर्धारित करने में काफी बाधाएँ खड़ी की, जिनके कारण ईश्वरीय सत्य से सम्बन्धित प्रजातांत्रिक उदात्त अवधारणाएँ एक शाश्वत बिन्दु पर आकर अवस्थित नहीं हो सकीं। यही कारण है कि वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक, सगुण और निर्गुण, इन्द्रियातीत और सर्वान्तर्यामी के मध्य के परम सत्य को सर्वसाधारण जन-मन के द्वारा सम्यक् रूप से अधिगत नहीं किया जा सका। विचारों के इस संक्रमण काल में जब जैन-दर्शन ने ईश्वरीय-सत्ता सम्बन्धी अपनी मान्यताओं को प्रस्तुत किया एवं तर्क-सम्मत विवेचना के द्वारा यह प्रतिपादित किया कि आत्मा ही ईश्वर है, तब एक बड़ी ही ऊहापोहजन्य स्थिति उत्पन्न हो गयी और एकान्त खण्डन-मण्डन के वाग्-विलास में डूबे आचार्यों ने इसे नास्तिक कहना प्रारंभ कर दिया। स्पष्ट है, उक्त धारणा में धरती पर प्रत्यक्ष देखे गए एकतंत्र निरंकुश शासकों के शासन की प्रतिक्रिया प्रतिबिम्बित है।

परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। जैन-दर्शन को नास्तिक धर्म का प्रवर्तक कहना, तटस्थ बुद्धि का परिचायक नहीं है। मूलतः जैन-दर्शन ईश्वर को मानता है और उसकी मान्यता अन्य दर्शनों की अपेक्षा व्यापक भी है और उपादेय भी। मेरे यह कहने का तात्पर्य, किसी भी दर्शन की अवहेलना करना नहीं है, वरन् जिज्ञासुओं को जैन-दर्शन की चिन्तन-दृष्टि की मीमांसा से अवगत कराना है। जैन-दर्शन का ईश्वरीय बोध पौराणिक स्तर की मानवीय परिकल्पनाओं एवम् निराधार अनुमानों की अनिश्चितता से हमें परिचित कराता है एवम् ईश्वर-सम्बन्धी स्पष्ट सत्य के बारे में हमें उन्मुक्त दृष्टि प्रदान करता है।

ईश्वर को मानने के सम्बन्ध में अन्य दर्शनों से भिन्न जैन-दर्शन की जो मान्यता है, वह यह है कि जीव स्वयं ही ईश्वर है। जीव से अलग उसके स्वामी के रूप में ईश्वर का कोई अन्य स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। आत्मा का शुद्ध स्वरूप ही ईश्वरत्व है। "अप्पा खलु परमप्पा"—आत्मा ही परमात्मा है। राग-द्वेष एवम् विकारों से युक्त आत्मा का अशुद्ध रूप जीव, जीव यानी संसारी आत्मा है और विकार-रहित शुद्ध स्वरूप परमात्मा है। आत्मा ही पवित्रता के अन्तिम बिन्दु पर परमात्मा हो जाता है। जैन-दर्शन की लाक्षणिक भाषा के अनुसार "सोया हुआ ईश्वर जीव है और जागृत जीव ईश्वर है।" जब आत्मा राग, द्वेष और मोह की नींद में सोई रहती है, तब उसका स्वरूप संसारी जीव का होता है और उनसे मुक्त होते ही वह सर्वोच्च शुद्ध, पवित्र यानी परम हो जाती है। शुद्धता की दृष्टि से देखा जाए, तो वास्तव में ईश्वर का यही शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निर्विकार स्वरूप है। ईश्वरत्व व्यक्ति-विशेष के रूप में कहीं बाहर नहीं है, और न वह आत्मा से सर्वथा अलग कोई शक्ति है। आत्मा का शुद्ध स्वभाव ही ईश्वरत्व है। जैन-दर्शन इस सम्बन्ध में किसी भी अन्य भाव को स्वीकार नहीं करता। उसका यह विश्वतो-मुखी गंभीर उद्घोष है कि विश्व का प्रत्येक प्राणी, प्रत्येक जीव मूलतः ईश्वर है। जो अन्तर है, वह आवरण का है। घनाच्छन्न चन्द्र और सूर्य, अन्दर में चन्द्र-सूर्य ही हैं। कुछ और नहीं हैं। आवरणमुक्त होते ही प्रकाश जग-मगाने लगता है। यही स्थिति आत्मा की है। आवरण से मुक्त होते ही आत्मा का अनंत प्रकाश उद्भासित हो जाता है, और वह परम अर्थात् शुद्ध परमात्मा हो जाता है। यह है वह जैन दृष्टि, जो आत्मस्वरूप की दृष्टि से ईश्वर और मनुष्य को एक बिन्दु पर केन्द्रित करती है और भवचक्र में भ्रमणशील प्राणियों को अपने में अनादि-काल से सुप्त परमात्म-स्वरूप को जागृत करने के लिए ईश्वरीय स्वरूप का शुद्ध दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत करती है। जैन-दर्शन ईश्वर की शासकता पर नहीं, पवित्रता पर बल देता है, जो प्रत्येक मानव साधना के द्वारा प्राप्त कर सकता है। जैन उपासना पद्धति भी इसी विचार बिन्दु पर प्रतिष्ठित हुई है। भगवदात्माओं की उपासना साधक को अपने मूल शुद्ध स्वरूप का बोध कराने के लिए है। पवित्रात्माओं के पुण्य स्मरण से अपने में भी वह परम पवित्र भाव उद्बुद्ध हो, यही है जैनों की ईश्वरीय उपासना का मूल मर्म।

इस दृष्टि से जैन-दर्शन भारतवर्ष का वह दर्शन है, जो संसारी आत्माओं को कुण्ठाग्रस्त होने से, हीनभाव के कारण दिग्भ्रमित होने से और इसके फलस्वरूप विकास के उन्नत एवम् ऊर्ध्वमुखी मार्गों को अवरुद्ध होने से बचाता है। और पतनोन्मुखी निम्न वृत्तियों एवम् प्रवृत्तियों को चैतन्यावस्था के उच्चतर शुद्ध आयामों की ओर बिना किसी द्वैतभाव के आरोहण कर पाने की प्रेरणा देता है। भगवान् महावीर ने धरती पर के समग्र मानव-समाज को आत्मा के यथार्थ स्वरूप पर विचार प्रदान करते हुए कहा है कि “परमात्मज्योति हर व्यक्ति में निहित है। प्रत्येक आत्मा अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन की ज्योति से युक्त है। वह अनन्त सुखमय है और अनन्त शक्ति से सम्पन्न है। जो भी कुछ उसका अपना ईश्वरत्व है, वह सब उसके भीतर ही है। बाहर में उसकी खोज व्यर्थ है। आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि उस अन्तर्-ज्योति को अन्तर्मुख साधना के द्वारा प्रज्वलित किया जाए। विकारों के आवरण से आच्छादित आत्मा को निरावरणस्वरूप परमात्मतत्त्व से परिचित कराया जाय, ताकि उसका परमात्मरूप शुद्ध स्वरूप एवम् निर्मल स्वभाव पूर्णतया प्रकट हो सके, निरावरण हो सके।”

उक्त स्थिति में पहुँचते ही तमस् के सभी आवरण दूर हो जाते हैं और सच्चिदानन्दता के सभी द्वार अपने-आप खुल जाते हैं और जीव ईश्वर के रूप में परिवर्तित हो जाता है, अथवा दर्शन की भाषा में यों कहिए कि परमात्मरूप अपने मूल स्वरूप को उपलब्ध हो जाता है। जैन-दर्शन की अध्यात्म-चेतना जब इतनी उन्नत अवस्था में है, तब उसे निरीश्वरवादी कहना भ्रान्तिपूर्ण मंतव्य के सिवा और क्या हो सकता है? जैन-दर्शन स्पष्टरूप से विश्व-मानव को कहता है कि अन्तर्यात्रा के द्वारा बाहर के बिखराव से निजत्व के केन्द्र की ओर मुड़ो। क्योंकि उसे इस बात का पता है कि साधारणतया किसी व्यक्ति या समाज का बिखराव एवम् विघटन इस कारण से होता है कि वह नयी चुनौतियों का सामना करने में पर्याप्त सक्षम नहीं होता। वह अपने को क्षुद्र, तुच्छ एवम् बिल्कुल नाचीज समझे रहता है। फलतः उसकी आत्मशक्ति का तेज धूमिल रहता है। अतएव उसकी आत्म-शक्ति की ज्योतिर्मय प्रगतिशील अवस्था में लाने की आवश्यकता है, जो क्षुद्रता की दुर्बल मनोवृत्ति के कारण दयनीय स्थिति में पड़ी हुई है। जैन-दर्शन की ईश्वरवादी धारणा यही है कि मानव की उन्नति के क्रम में कोई अन्य सहायक नहीं है। वह स्वयं ही स्वयं का सहायक है, उद्धारक है। किसी भी अंश में परमुखापेक्षिता उसे मान्य नहीं है। अतः स्वयं को ही सबल, सक्षम एवं उदात्त गुणों से परिपूर्ण करने की आवश्यकता है, जिससे समय के उलट-सीधे थपड़े खाकर कोई भी मानव आस्थाहीन न बन सके। जैन-परम्परा हर क्षण सहज स्वैच्छिक निष्ठा बनाये रखने पर बल देती है और निर्विवाद रूप से युग-युग की भ्रान्त धारणाओं में प्रतिबन्धित प्रतिभाओं के लिए शुद्ध आस्तिक भावना के साथ मुक्ति का द्वार खोल देती है।

वस्तुतः सत्यान्वेषी साधक ही अपने अन्तःस्थ ईश्वरत्व के महिमामण्डित पवित्र प्रदेश तक पहुँच सकता है। अतएव विश्व के हर साधक को द्वन्द्वमुक्त हो कर सर्वतोभावेन इसी आन्तरिक अमृत तत्त्व को उपलब्ध करने की आवश्यकता है। प्रस्तुत मुक्त चिन्तन के प्रकाश में जैन-दर्शन अपनी पूरी आस्था अन्तःस्थ ईश्वरत्व के प्रति व्यक्त करता है और मानव मन के चिन्तन को हीन भावना से क्षतिग्रस्त होने से बचाता है। वह साफ कहता है कि इन्द्रियबोध की उत्तेजना, विचारों की उथल-पुथल, मनोभाव की उमड़-वुमड़ और इच्छाओं के अनर्गल स्पन्दन से दूर हटकर अपने शुद्ध आत्मस्वरूप में अवस्थित होने की आवश्यकता है। चेतना के सामान्य स्तर से ऊपर उठते ही अन्दर में ईश्वरत्व की उपलब्धि हो जाती है।

सिर्फ धार्मिक अथवा दार्शनिक दृष्टिकोण से ही नहीं, जैन-दर्शन की यह आत्मा को ही ईश्वरत्व की मान्यता समूची मानवजाति की सामाजिक चेतना की धारा को भी विकासोन्मुख दिशा में प्रेरित एवम् उत्साहित करती है। उसकी ईश्वर-सम्बन्धी यह अवधारणा मानव मन में सार्वभौम भ्रातृत्व की उदात्त एवम् उदार भावना को जागृत करती है और समस्त जीव सृष्टि के प्रति ऐक्यानुभूति उत्पन्न करती है। उसका यह दार्शनिक चिन्तन, एक ऐसी योजक शक्ति है, जो मानव समाज की एकता को सुदृढ़ बनाती है, देश, काल, जाति, पंथ आदि के क्षुद्र भ्रमों से उत्पन्न भेदभावना, तज्जन्य जातीय असहिष्णुता एवम् कट्टर धर्मान्धता आदि की हठ धर्मिता एवम् दुराग्रह के मानसिक रोग से मनुष्य को मुक्त करती है। मानवजाति का उपलब्ध इतिहास हमें बताता है कि एक सर्वोपरि स्वच्छन्द शासक के रूप में प्रचारित ईश्वर-सम्बन्धी अवधारणाओं ने मानव को एक-दूसरे के प्रति असहिष्णु और आक्रामक बनाया है। ईश्वर, खुदा और गौड आदि ईश्वरों के नाम पर धरती पर मानव का इतना रक्त बहा है, जितना कि दुनियावी स्वार्थों के कारण होने वाले युद्धों में भी नहीं। धर्मयुद्धों का इतिहास बड़ा ही भयंकर है। दो-

चार पृष्ठ पढ़ते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं और किसी भी सहृदय की आँखों से अविरल अश्रुधारा बह निकलती है। जन दर्शन का शुद्धात्मवादी ईश्वर मध्यकालीन एकतंत्र राजप्रणाली के रूप में व्यक्तिगत न होकर लोकतंत्र के रूप में सामाजिक है। वह हर किसी को बिना किसी भेदभाव के पूर्ण पवित्र होने और ईश्वर यानी परमात्मा बन जाने की प्रेरणा देता है। अतः वैयक्तिक ईश्वरवाद से होने वाले अहंमूलक संघर्षों से मानवजाति को त्राण देता है। कोई भी हो, सबके लिए ईश्वरत्व का द्वार खुला है। आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करो, अपने अन्तर को मांजो—साफ करो और ईश्वरीय पद प्राप्त करो। जैन-दर्शन का ईश्वर अर्थात् परमात्मा एक कोई खास व्यक्ति नहीं है, अपितु पवित्रता की पूर्णता का एक सर्वोच्च पद है। व्यक्ति का अपना पुरुषार्थ है, अन्तर का अपना जागरण है, फलतः जो भी साधक चाहे वह ईश्वर बन सकता है, अपने अन्तर के अनादि काल से सुप्त ईश्वरीय भाव को जगा सकता है।

भारतीय दर्शनों में वेदान्त-दर्शन भी उक्त जन ईश्वरवाद अर्थात् परमात्मस्वरूप-ब्रह्मवाद के काफी निकट है। वह भी हर जीव के लिए ब्रह्मत्वभाव एवम् परमात्मभाव की स्वीकृति देता है। उसका भी सत्य का यह महान् उद्घोष है कि 'जीवो ब्रह्मव नाऽपरः।' जीव मूलतः ब्रह्म ही है, परमात्मा ही है, दूसरा कुछ नहीं है। यहाँ जैनों का 'अप्या खलु परमण्या' और वेदान्तियों का 'अहं ब्रह्मास्मि'—दोनों सूत्र एक केन्द्र पर आ खड़े हो जाते हैं। अतः मानव जाति का उत्थान एवम् कल्याण यदि हो सकता है, तो इन्हीं उदात्त सूत्रों के आधार पर हो सकता है। यहीं पर द्वैत का अन्धकार छँटता है और चैतन्य जगत् में भावात्मक अद्वैत का निर्मल प्रकाश जगमगाता है। इससे बढ़कर ईश्वरीय आस्तिकता और क्या हो सकती है? तटस्थभाव से बहुत गहराई में उतर कर चिन्तन की अपेक्षा है।

# सर्वोत्तम शक्ति : आत्म-शक्ति

मेरा ईश्वर मेरे अन्दर, मैं ही अपना ईश्वर ।  
कर्ता, धर्ता, हर्ता अपने जग का, मैं लीलाधर ॥  
शुद्ध-बुद्ध, निष्काम, निरंजन, कालातीत सनातन ।  
एक रूप हूँ सदा-सर्वदा, ना नूतन, न पुरातन ॥



शक्ति की समस्या बड़ी गहन समस्या है। शक्ति के सामान्य रूप से लेकर उच्चतम पराक्रमों के संबंध में विचार करने के पश्चात् जो मान्यता एवं उसकी स्वीकृति उपलब्ध होती है, उसमें बहुविध एषणाओं से लोक-मुक्त एक दिव्य शक्ति है, जिसे विभिन्न परंपराओं ने विभिन्न प्रकार के शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किया है। वस्तुतः उन सभी मंतव्यों का केन्द्रीकरण एक ही स्थान पर होता है, जिसे मैं आत्मशक्ति कहता हूँ। जीवन की तमाम कल्पित एषणाओं से उद्भूत जितनी निम्न महत्वाकांक्षी शक्तियाँ हैं, उन्हें एक संयोजना के अमुक्त स्तर तक किसी विशेष रूप में तो स्वीकृति प्रदान की जा सकती है, पर उन्हें ही जीवन का मूल स्वर मान लेना भ्रान्ति का परिचायक है, जो स्थूल भौतिक संबंधों की शक्ति के महत्त्व पर बल देता है। वहाँ क्षुद्र निजत्व का गौरव अहं की संकीर्ण परिधि में आबद्ध हो जाता है और क्षणभंगुर पदार्थों को ही सार तत्त्व अथवा महत् शक्ति के रूप में मानने लगता है। यहाँ एक बात में तत्काल ही कह देना चाहता हूँ कि शक्ति की यह स्थूल मान्यता मनुष्य को निष्ठा-संपन्न नहीं करती और न जीवन और उसके मूलभूत सत्यों के प्रति निष्पक्ष ही रहने देती है। आत्मा की शक्ति की विशेषताओं को स्व से पृथक् हो कर मात्र अर्थशास्त्र और राजनीति के विशाल आवेशपूर्ण जीवन में उपलब्ध नहीं किया जा सकता। वस्तुतः आत्मा की शक्ति को अन्तर्विकास के वास्तविक शुद्ध स्वरूप में ही परिलक्षित किया जा सकता है। कोई भी ऐसा यान्त्रिक जगत्, जिसमें मानवता आत्म शून्य कार्य-कुशलता के जड़ यन्त्रजाल में ढाल दी गयी है, मानवीय प्रयत्न के उचित लक्ष्य को हृदयंगम नहीं कर सकता। और अगर ऐसा नहीं हो पाता, तो हमें यह निश्चित मान लेना चाहिए कि मानव को शक्ति के मूल स्रोत का अभी कोई पता नहीं लगा है। और जीवन की विशाल धारा अपने तल प्रदेश के उस ढलान के अनुकूल नहीं बन पायी है, जिसमें से हो कर उसे बहना है और अपने निर्धारित गंतव्य तक पहुँचना है।

आधुनिक मानव-संसार की समुन्नत आनन्दशील यात्रा के लिए किसी नये सांस्कृतिक आधार एवं कौटुम्बिक पुनर्निर्माण पर जब भी मैंने विचार किया है, आत्मा की सशक्त सुन्दरतर ऊर्जाओं के प्रयोग से ही विश्व-मानव के समुन्नत एवं सुप्रसन्न होने की बात मेरे समक्ष स्पष्ट होती रही है। जातिवाद, पंथवाद तथा राष्ट्रवाद आदि की अनेकविध विभाजक रेखाओं से पार योजक संपादन की उन्मुक्तावस्था एवं अस्तित्व की मुक्त स्वतंत्रता तक निरंतर गतिमान रहने के क्रम में, अगर इस गंभीर दायित्व का निर्वाह किसी शक्ति के द्वारा किया जा सकता है, तो वह आत्मा की ही शक्ति है। क्योंकि जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए सृजनशील अंतर्ज्ञान का होना नितान्त आवश्यक है, और यह सूत्रबद्ध वृत्ति तभी आनुक्रमिक धारा में अपना अभिलक्षित स्थान प्राप्त कर सकती है, जब मनुष्य तात्कालिक क्षुद्र आवश्यकताओं की उपयोगिता से ऊपर उठकर कर्म के महत् एवं शाश्वत स्वरूप को उपलब्ध करे। शक्ति के गहन एवं प्रशान्त भाव को समझने के लिए जब तक मनुष्य अपने अन्तर् के अव्यक्त में अवस्थित नहीं होगा, तब तक सारी अभिव्यक्तियाँ वास्तव में निरूपयोगी होंगी। एक बात यहाँ समझ लेना नितान्त आवश्यक है कि शक्ति का वास्तविक अनन्त स्रोत साधारण जन के लिए सर्वदा अव्यक्त है। जो भी कृच्छ्र लोक-यात्रा में व्यक्त होता है, वह उसका सहस्रांश भी है या नहीं, यह कह पाना मुश्किल है। वस्तुतः शक्ति का कोई बाह्य रूप नहीं होता। पदार्थ, जिस मूल ऊर्जा से संचलित है, उसे क्या कोई देख पाता है? वह अनुभूतिगम्य है, और अनुभूति आत्मा की चैतन्य शक्ति से उद्भूत है। इसे हृदयंगम करने के लिए हमें जरा और गहरें में जाना पड़ेगा।

आत्मा की चित्-स्वरूप शक्ति एक ऐसी शक्ति है, जो मनुष्य को श्रद्धावान बनाती है। बाहर में परिलक्षित होने वाली बुद्धि की खोज जहाँ-जहाँ भी पहुँचती है, यह आत्म-निष्ठा के कारण ही संभव हो पाती है। अतएव अव्यक्त रूप से बाह्य बुद्धि के विकास में भी यह आत्म-शक्ति ही सहायक होती है; चूंकि अभिव्यक्ति से भी परे कुछ है, जिस तक कोई दृश्य अभिव्यक्ति नहीं पहुँच पाती। किन्तु प्रत्यक्ष में विद्यमान वस्तुनिष्ठ स्थूल शक्ति ही अभिव्यक्तियों को संप्राण बनाती है—उन्हें तत्त्व और महत्त्व प्रदान करती है, इसलिए बौद्धिक प्रस्थापनाओं के प्रचारक अथवा चिन्तक आत्मा के इस अव्यक्त महत् सत्य को मानने से इन्कार करते हैं। परन्तु, वस्तुतः यही वह आत्मदृष्टि है, जो कर्म को सत्य, प्रेम और सौंदर्य की धारणा के साथ व्यवस्था सम्पन्न करती है और भौतिक लहरों से उत्पीड़ित होते मानव को बचाती है।

इस संसार सागर में अनादिकाल से अनन्त आत्माएँ क्रोध, मान, माया और लोभरूप मोह-क्षोभ की उच्छ्रंखल लहरों के थपेड़े खाकर जर्जरित हो रहे हैं एवं दिग्भ्रमित नाविक की तरह ये संसारी प्राणी अनेकानेक रूपों में कर्मफल की वेदना से मर्माहत हो रहे हैं—इसका मूल कारण यही है कि उन्हें सर्वोच्च ज्ञाता, द्रष्टा एवं

चेता ज्ञेयरूप की सक्रिय शक्ति, आत्मिक बल और आत्म-संयम की उपलब्धि असंदिग्ध रूप से नहीं हो सकी है। आत्मा की पहचान वह उदात्त संजीवनी शक्ति है, जो यथाप्रसंग अपने आपको दृश्य जगत् में प्रकट करती है और समूची जीवन-प्रक्रिया को मूलतः एक अखण्ड स्रोत के रूप में मानने के लिए अभिप्रेत बनाती है। इसी स्थल पर आ कर आत्माओं की वैयक्तिक स्वतंत्र शक्ति और सम्मिलित समुदाय की संगठित संकल्प शक्ति, महान् उन्नतकारी शक्ति के रूप में परिवर्तित हो जाती है, जो लोक-मंगल के अनेकविध स्वर्ग-द्वारों को अनावृत करती है। यहीं स्व और पर के रूप में विभक्त चेतनाएँ भगवान् महावीर के 'एगे आया' के उच्च दर्शन के स्वर्णिम क्षितिज पर पहुँच कर भेदमुक्त अद्वैत स्थिति को प्राप्त होती है। युगों-युगों, जन्म-जन्मान्तरों से तहियाये हुए कलुष जब आत्मा के परिष्कृत स्वरूप की निर्मल भावधारा से धुल जाते हैं, तब मानवतावादी शुद्ध दृष्टिकोण से व्याख्यात व्यष्टि का विकास होता है और मानव अनेक में एक एवं एक में अनेक समाहित होकर सर्वव्यापक समष्टि का रूप लेता है। यही वह सीमा है जो सहजानन्द का अमृत-सागर है। परन्तु यह एक ऐसी उच्चतर अवस्था है, जिसे अहंकारपूर्ण इच्छाओं और आवेशों से ऊपर उठे हुए उदात्त संत प्रकृति के ध्येयनिष्ठ लोक ही उपलब्ध कर सकते हैं। और जब इस प्रकार की निरुपम उपलब्धि हो जाती है, तब कर्म-संस्कारों की कोई भी अमंगल क्षुद्र अहं-मन्यता नहीं रहती और मानव के अन्तर में कालातीत सत्य की शाश्वतता का परिबोध प्रकाशमान हो जाता है। आत्मा की शक्ति को सर्वाङ्गीण रूप से हृदयंगम करने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य अपने भीतर कालातीत शाश्वतता का बोध जाग्रत करे और निष्काम भाव से नित्य नवीन ऊर्जाओं के द्वारा मानवीय सर्वमंगल संस्कृति, समाज एवं जन-जीवन को परिपूरित करे।

जिस व्यक्ति ने जीवन के इस महान् सत्य को प्राप्त कर लिया है, उसके हृदय में विश्व-सृष्टि के प्रति प्रेम का अविच्छिन्न अनाविल सोता फूट पड़ता है और वह इतिहास के प्रत्येक काल में सार्वभौम हित एवं सत्य को ही देखता है। उसकी जीवन पद्धति पूर्व की अपेक्षा पूर्णतया बदल जाती है और वह सर्वत्र सब ओर जन-जीवन को सहिष्णुता एवं आदर की दृष्टि से देखने लगता है। उन भगवदात्माओं की सर्वमंगल दृष्टि में कोई भी पराया जैसा नहीं रहता। उनके स्व में सब का 'स्व' 'सोऽहं' रूप में सदाकाल मुखरित रहता है।

परन्तु, इस उच्चावस्था को जो लोग अभी प्राप्त नहीं कर सके हैं, पर उनके मन में इस महान् उच्च स्थिति के प्रति गहरी आत्मीयता एवं उत्कृष्ट अभिलाषा है, उनके सामने कर्मचक्र एक बड़ी दुविधाग्रस्त स्थिति उत्पन्न कर देता है। धर्म और दर्शन के चिन्तन-क्षेत्र में यह विवादास्पद प्रश्न है कि आत्मा की शक्ति महान् है, या कर्म की शक्ति? कौन अजेय है इन दोनों में? अधिकतर लोगों ने कर्म-शक्ति को अजेय मान लिया है। उनका कहना है कि कर्म बलवान् हैं, इतने बलवान् कि उन्हें ध्वस्त नहीं किया जा सकता। कुछ भी करो अन्ततः उन्हें भोगना ही पड़ता है। भोगे विना कथमपि छुटकारा नहीं है और जीवन-यात्रा के लिए वर्तमान में जो कर्म करते हैं, उनकी बन्ध शक्ति भी भयंकर है, उन्हें कैसे भोगा जाएगा? उनसे कैसे छुटकारा होगा? इस प्रकार प्रश्नों का एक ऐसा अम्बार खड़ा हो जाता है, जो मानव को दुविधाग्रस्त मनःस्थिति में उलझा देता है, फलतः दुर्बल चेतना का मानव आत्मा की अपराजित अनन्त शक्ति के प्रति श्रद्धावान् नहीं हो पाता।

कर्म-बन्धन की समस्या सचमुच ही बहुत विकट है। यह बड़ा ही गंभीर एवं व्यापक प्रश्न है। दर्शन-शास्त्रों की बहुविध जटिलताओं ने समाधान के बदले उसे और अधिक उलझा दिया है। कुछ महानुभवों ने तो इसे इतना अधिक उलझाया है और मान लिया है कि मानव की कर्म-बन्ध से कभी मुक्ति हो ही नहीं सकती। कर्म-बन्धन से मुक्त होने की बात एक वह दिवा स्वप्न है, जिसका यथार्थ में कुछ भी अर्थ नहीं है।

परन्तु, आत्म शक्ति के महान् पुरस्कर्ता एवं उपदेष्टा श्रमण भगवान् महावीर ने इस प्रश्न के समाधान में कहा है कि कर्म की अपेक्षा आत्मा की शक्ति ही महान् है। अतः साधक कर्म-बन्धन से मुक्त हो सकता है। माना कि कर्म बहुत शक्तिशाली है, परन्तु इतना नहीं कि वह आत्मा की तेजस्विनी ऊर्जा को सदा-सर्वदा के लिए बांध कर रख सके, उसे बन्धन से मुक्त न होने दे। वस्तुतः कर्म क्या है? और वह क्यों है? उक्त कर्मपाश के मूल में व्यक्ति का अपना ही अज्ञान है। वह अपने अज्ञान के कारण ही उसमें बंधता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि व्यक्ति जैसे अज्ञान से कर्म बाँधता है, वैसे ही विवेक-ज्ञान के द्वारा बड़े ही सहज रूप से कर्मपाश से मुक्त भी हो सकता है। आत्मा में दोनों ही शक्तियाँ हैं—बन्ध की भी और मुक्ति की भी। सूर्य स्वयं बादलों का निर्माण

करता है, और उनसे आच्छन्न हो जाता है और वही उन्हें बिखेर भी देता है और मुक्त हो कर प्रकाशमान हो जाता है। दोनों ही लीला सूर्य की अपनी है, और किसी की नहीं। यही स्थिति अन्तर्जगत में आत्मसूर्य की है। वह जब अपनी विभाव शक्ति के द्वारा चालित होता है, तो अनन्त-अनन्त कर्मपुद्गलों का बन्धन करता चला जाता है और कर्मपटल से आवृत हो जाता है। और जब वही स्वभाव शक्ति के रूप में परिणत होता है, हर क्षण में अनन्त-अनन्त कर्म दलिकों को क्षीण कर बन्धन मुक्त हो जाता है, फलतः मूल रूप प्रकाशमान हो जाता है। साधक जब इस प्रकार कर्म के अशाश्वत और आत्मा के शाश्वत सत्य की अनुभूति को हृदयंगम कर लेता है, तब वह क्यों नहीं प्रबुद्धता को प्राप्त होगा? और क्यों नहीं बन्धन मुक्त होगा? समस्त पार्थिव अस्तित्वों के बंधनों से मुक्त हो कर वह अवश्य ही दिव्यात्मा बनता है, और अन्ततः परमात्मभाव की अनन्त ज्योतिर्मय स्थिति प्राप्त करता है।

कर्म के विविध आयामी स्वरूपों एवं तत्सम्बन्धित समस्त भ्रान्तियों को जिसने अपने अन्तर्जीवन में से निराकृत करने की दिशा में अन्तर्यात्रा प्रारंभ की है, उसके सामने आत्मिक एवं मानवीय मूल्यों की आचार-संहिता स्पष्ट हो जाती है। जिनके अन्तर में इन्द्रियातीत मूल्यों का समावेश हो जाता है, तमस् से ज्योति की ओर अग्रसर होने के लिए जिनकी आन्तरिक अस्मिता एक अद्भुत तीव्रता का अनुभव करती है, अन्तर विरोध से परे निष्ठागत अनुठापन और निजी वैशिष्ट्य के जीवन्त रूप को उपलब्ध करने के लिए जो देशकालानुसार इतस्ततः विकीर्ण हुए सारे विभेदों को सहानुभूतिपूर्वक समझने की कोशिश करते हैं, वे जड़ विचारों और कट्टर धर्मान्धता से परे होकर धर्म-भावना को अन्तश्चेतना के साथ-साथ काल के जागतिक प्रश्नों में भी अनुस्यूत करते हैं। इस स्थिति में आत्मवान् साधक पूर्ववद्ध कर्मशृंखला को तो एक झटके के साथ तोड़ते ही हैं, साथ ही रागद्वेष आदि के विकल्पों से मुक्त, निर्लिप्त भाव से यथाप्राप्त कर्म करते हुए भी उसके बन्धन में नहीं आते। बाहर की क्रियाओं में बन्धन नहीं है। बन्धन है क्रियाओं के मूल में रहे हुए राग-द्वेषादि वैभाविक भावों में। अतः साधक आत्मा की यह भी एक महाशक्ति है, जो कर्म को अकर्म का रूप देती है, यथाकाल-कर्म करके भी उससे जल-कमल की भाँति लिप्त नहीं होती है। इसलिए भगवान् महावीर का कहना है कि आत्मा की जो महान् एवं अनन्त शक्ति है, उस शक्ति से जब साधक का यथार्थ परिचय प्राप्त हो जाता है, तब एक अद्वितीय आलोक शिक्षा ऊर्ध्वगमन करने लगती है और योग के परिभाषित शब्दों में कुण्डली से सहस्रार तक अपनी दिव्य किरणों को विकीर्ण कर देती है। यह जैन दर्शन का परिभाषित अहंद्-भाव है और वेदान्त-दर्शन का परिभाषित ब्रह्म-भाव।

जो साधक आत्म-शोधन और आत्मालोचन की प्रक्रिया से साहस के साथ गुजरते हैं, वे कर्मबंधन की उत्कट चुनौतियों का निष्ठापूर्वक सामना करते हैं। उन्हें इस बात का पता होता है कि कर्म के दृष्टिकोण और मन्तव्यों में धर्म और दर्शनों की अपनी कुछ भिन्नताएँ हो सकती हैं। पर, आत्मा की शक्ति के सम्बन्ध में ऐसा कुछ भी नहीं है। वह एक ऐसी महतो महीयाम् शक्ति है, जिसे प्रज्ञा-जगत् में जागृत कर सहज रूप से अपने को कर्मपाश से मुक्त किया जा सकता है। इतना ही नहीं, आत्मा की नित्य-निरन्तर विस्तृत एवं विकसित होती शक्ति, धर्म के मूलभूत अनन्त स्रोत को मनुष्य के सामने सूर्य की भाँति पूर्णतया स्पष्ट कर देती है। और इस विभक्त चेतना वाले जगत् में समत्व का, स्वातंत्र्य का एवं अनाविल प्रेम का विस्तार करती है। यह एक प्रकार का आन्तरिक रूपान्तरण है, एक आध्यात्मिक परिवर्तन है, और साधक के स्वभाव में विसंवादी स्वरो में सामंजस्य लाने की अमोघ क्रिया है। जब कर्म के मलधुल जाते हैं, और स्वभाव का रूपान्तर हो जाता है, तब अज्ञान की अधम एवं आत्मोद्धार-बाधक दशा के पाश से छूट कर आत्मा आत्मज्ञान की परम दशा में पहुँच जाती है। एक दशा से दूसरी उच्चतर दशा में विकसित होना, संक्रमण करना, उच्चतर जीवन के अन्वेषण का वह अंग है, जो चेतना में विखंडन की जगह संश्लेषण लाने का प्रयत्न करता है और तब प्राकृतिक शक्तियों और अपरिहार्य परिस्थितियों में भी मनुष्य किसी बंधे-बंधाये निष्ठुर एवं जड़ विधि-विधान में अपनी प्राज्ञ चेतना को विस्मृत नहीं करता, किसी भी प्रकार की जड़ता को स्वीकार नहीं करता। वस्तुतः यह एक वह अवस्था होती है, जहाँ चेतना का प्रतिबिम्ब अन्तर्जगत् की व्यापकता, अनन्तता, अविनश्वरता और रहस्यात्मकता पर एक भाव से झलकने लगता है। अवि-नश्वर एवं अविच्छिन्न अन्तः सत्ता से मानव का अविरल सम्पर्क होने पर अन्दर में आत्मशक्ति का वह विस्फोट-होता है कि जीवन की सारी धारा ही बदल जाती है। अनादि काल से अधोमुख प्रवाहित होनेवाला शक्ति-स्रोत ऊर्ध्वमुखी हो कर प्रवाहित होने लगता है। और तब साधक देह से नर हो या नारी हो, अन्दर में आत्मनिष्ठ होते हुए भी बाह्य जगत् में निष्काम भाव से अन्यो के लिए भी उभयमुखी जीवन के विकास हेतु मंगलकारी कार्य कर सकते हैं, और कर्ममल से लिप्त भी नहीं होते हैं। जो अपने को अपुनर्भव दशा में ऊपर उठा लेते हैं, ऐसे ही

महामानव मानव सृष्टि को नयी दृष्टि देते हैं और बन्धन-मुक्ति की दिशा में उसे साहस के साथ अग्रसर करते हैं। वस्तुतः वही मानवता की भावी नियति की आशाएँ और संकल्प होते हैं। और तब जिस प्रकार सूर्य भले और बुरे सभी पर समान रूप से अपनी उज्ज्वल किरणों को प्रसारित करता है, उसी प्रकार वे धरती पर की अखिल मानव जाति की सभी सन्तानों पर समभाव से अपनी स्नेहपूर्ण दयालुता की अजस्र वर्षा करते हैं। मानव ही क्यों, प्राणि-मात्र पर उनके करुणामृत की वर्षा होती है, जो जन्म-जन्मान्तर के ताप को शमन कर एक अनिर्वचनीय शान्ति प्रदान करती है।

यह देश अपने इतिहास के आदि काल से लेकर आज तक इसी महान आदर्श का पोषक रहा है। जब हम मोहन-जोदड़ो और हड़प्पा के पुरातन काल से लेकर इस आधुनिक काल तक के प्रतीकों, मूर्तियों और अन्य अवशेषों को देखते हैं, तब हमें उस जनकल्याणी-परम्परा की स्मृति ही आती है, जो मनुष्य अपने में आत्मा की सर्वश्रेष्ठता स्थापित कर लेता है और भौतिकता की अपेक्षा आध्यात्मिकता को महत्त्व देता है, वही आदर्श मनुष्य है। इसी आदर्श ने हमारे देश के धार्मिक एवं सामाजिक जगत् को सहस्राधिक शताब्दियों से अनुप्राणित कर रखा है। भगवान् महावीर ऐसे ही एक भगवदात्मरूप महान् आदर्श पुरुष थे। कर्मबन्धन से मुक्ति के लिए और आत्म-शक्ति से परिचय के लिए उनके द्वारा जो दिव्य सन्देश प्रसारित हुए हैं, यदि उन्हें दृढ़ निष्ठा एवं श्रद्धा के साथ जीवन में उतारा जाए, तो आज का अधमाधम स्थिति में गिरा हुआ मानव भी श्रेष्ठता के उच्चतम आदर्श पर पहुँच सकता है।

आज विश्व एक नये जन्म की प्रसव-पीड़ा को भोग रहा है। हम सबका लक्ष्य 'परस्परोग्रहो जीवानाम्' के आदर्श पर स्व और पर का सर्वोदय है, और इस प्रकार 'एगो आया' के रूप में एक अखण्ड विश्व है। परन्तु आज के हमारे युग का लक्ष्य सर्वमंगल एकता नहीं, विभेद बन गया है। आज के तथाकथित दो विश्व के ढाँचे में हममें से कई लोगों के लिए यह प्रलोभन है कि हम एक को गलत और दूसरे को सही समझें। और जिसे गलत समझें, उसका हर बात पर प्रत्याख्यान करें। स्पष्टतः यही वह दारुण अवस्था है, जिसके कारण विभिन्न प्रकार की मायावी एवं आसुरी शक्तियाँ उभर रही हैं और आध्यात्मिक मूल्यों का लोप होता जा रहा है। अतएव ऐसे संकटकाल के साधकों के लिए आवश्यकता इस बात की है कि वे सदाचार के सर्वमान्य शाश्वत सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए अपनी सुप्त आत्म-शक्ति को जाग्रत करें और सत्य के विभिन्न पहलुओं को अनेकान्त की समतामूलक समन्वय-दृष्टि से स्वीकारें। क्योंकि इस अशान्त भू-ग्रह के इतिहास में शायद ही कोई ऐसी शताब्दी गुजरी हो, जिसने हमारे सामने चुनौतियाँ न रखी हों। वस्तुतः इतिहास परिवर्तन की एक शाश्वत प्रक्रिया है, इस सत्य को हृदयंगम कर हमें अपने अंतःकरण में भय और मृत्यु के आवेगों पर विजय प्राप्त करके जीवन का सर्वतोमुखी मंगल-ध्वज लहराना चाहिए। निर्णय का क्षण उपस्थित है, अतएव व्यर्थ के तर्कवाद और भोगवाद को तिलांजलि दे कर आत्माभिमुख अन्तर्यात्रा करनी होगी। अस्तव्यस्त एवं अव्यवस्थित विचार के इस अनात्मवादी भोगपरायण वातावरण में मानव-जाति की श्रेष्ठतम परम्परा की रक्षा तभी हो सकती है, जबकि आत्म-शक्ति के तेज से काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, घृणा और स्वार्थपरता की आसुरी वृत्ति एवं प्रवृत्ति पराभूत होगी।

आत्मा की महान् मंगलमयी शक्ति का अभी इस वर्तमान और अनागत भविष्य में जो अनुभव करेंगे, वे ही थोड़े से लोग इस संसार की कटुता को दूर करने में सहायक सिद्ध होंगे। इसलिए अच्छे एवं अभेद्य आत्म-तत्त्व की इस महान् शक्ति का महत्त्व समझना चाहिए, जो चिदात्मा के समस्त मायापाशों को छिन्न-भिन्न कर देती है और तमस् से मुक्त कर उसे ज्योतिर्मय बना देती है।

# नियति का सर्वतोष दर्शन

कुछ तत्त्व-दर्शन जीवन के तेज को समाप्त करते हुए प्रतीत होते हैं।

संघर्ष की शक्ति एवम् कर्म के उत्स को मिटाने का भ्रम पैदा करते हैं।

कुछ अंश में यह सत्य तो है। पर, वस्तुतः नासमझ-लोगों के द्वारा रहस्यपूर्ण गूढ़ चिन्तन का दुरुपयोग ही देखा गया है।

नियतिवाद के सम्बन्ध में कुछ ऐसी ही टिप्पणी की जा सकती है।

पर, दुरुपयोग के भय से सत्य का उजागर होना रोका नहीं जा सकता।

**“ण एवम् भूतं वा, भव्वं वा, भविस्सति वा।”**

जो नियत है, उसको अतीत, अनागत या वर्तमान में अनियत नहीं किया जा सकता।

अनन्तानन्त अतीत से काल की अविराम यात्रा जीवन के कटु-मृदु अनुभवों को प्राण में स्पंदित करती हुई चल रही है। न जाने कितने घात-प्रतिघात, उत्थान-पतन और सृजन-संहार की कथा-यात्रा अतीत के स्मृति-प्रदेश को आन्दोलित कर रही है। कहीं सब-कुछ अनजाने ही घटता चल गया है। उद्भव, स्थिति और संहार का अलक्ष्य कौतुक, जिज्ञासा की परत-दर-परत अपने ज्ञानकोष में समेट रही है। पर, यह एक ऐसा चक्र है, जिसके निर्णायक बिंदु का साधारण जन-मन को कहीं पता नहीं है? अरमानों की एक सजी-संवरी आस्था को ले कर मनुष्य विकास की धारा में गतिमान होने को प्रस्तुत होता है, पर उसके हर पदक्षेप में नियति की एक अदृष्ट महाशक्ति इस रूप में खड़ी रहती है कि मानव की संकल्पित इच्छा एवं योजना के विपरीत वह जिधर भी मोड़ देती है, उधर ही उसे मुड़ जाना पड़ता है। जिन भग्न सेतुओं के साथ वह जोड़ दे, वहाँ उसे जुड़ जाना पड़ता है। ऐसा लगता है कि बिखरे हुए तमाम मंतव्य अभी-अभी पकड़ में आ जायेंगे, पर शीघ्र ही वे ऐसे छूट जाते हैं, उनके अस्तित्व का भी कहीं अता-पता नहीं रहता। समय की वेगवती धारा उन तमाम मंतव्यों को बहाये लिए जाती है और हम लुटे-लुटे-से, हतप्रभ हो किनारे पर असहाय खड़े रह जाते हैं। आंखों की कोरों में छलक आयी दो बूंदें भी साहचर्य सुख नहीं दे पाती और तत्कालीन वेदना की स्पंदनहीन अवस्था में उसे ढुलकते देखकर हम शून्य में ताकते रह जाते हैं। कहीं चीड़-वन से छनती हुई चाँदनी प्रिय के अवसादग्रस्त मुखमण्डल पर पड़ती है और सहसा अतीत की अनथक स्मृतियाँ पीड़ा के पट खोल देती हैं। हम नहीं चाहते, पर फिर भी कोई कोयल अरण्य के कोने में कुहकमयी वाणी बोल उठती है।

उक्त स्थिति-चित्र पर से स्पष्ट है कि काल के इस लीला-चक्र में जो कुछ भी हो रहा है, वह सब-का-सब पूर्व नियत है। कहीं कुछ अपने आप्रह का करणीय नहीं है। पूर्व नियत प्रक्रिया में सबको चलना है। काल की गति बड़ी निर्मम है। उस की राहें कहीं सम हैं, तो कहीं विषम हैं। परदे के पीछे नियति की अविराम लीला जारी है। अबोध मन-भस्तिष्क के व्यक्ति कहते हैं कि इसे हमने किया है। यह धन-सम्पत्ति हमारी है। यह परिवार-परिजन हमारे हैं। इसे मैंने बचाया है, और उसे मैंने मारा है। न जाने कितने व्यर्थ के दायित्व अपने क्षुद्र अहं पर लादे रहते हैं।

मानव के जीवन-प्रांगण में कभी अनुकूल तो कभी प्रतिकूल, अनेकविध घटनाओं के संयोग-वियोग, मिलन और विच्छेद के कटु-मृदु अध्यायों का निर्माण हर क्षण होता रहता है। एक ओर जीवन संवेग की एक-एक कड़ियाँ जुड़ती हैं और दूसरी ओर पारद की भाँति न जाने कैसे बिखरती चली जाती हैं। चेतना का अन्तरंग मधुरिम प्रदेश अघटनीय को आत्मसात् करना नहीं चाहता है, पर न चाहने से क्या होता है? अनचाहा भी सब-कुछ घटता चला जाता है। पलक अभी पूरी तरह खुल भी नहीं पाती है कि सपना टूट जाता है। मनुष्य चाहता, तो बहुत-कुछ है, पर अनन्तः वह क्या और कितना पाता है, यह सभी के अपने-अपने जीवन क्षेत्र की प्रत्यक्ष अनुभूति है, जिसे यों ही नकारा नहीं जा सकता।

ये प्रश्न हैं—प्रश्नों के अम्बार हैं, जो मृग-मरीचिका में दौड़ रहे हैं? वह सागर कहाँ है, जो दृष्टि को रसाप्लावित कर सके? सूर्य की सुनहली किरण रेत के ऊबड़-खाबड़ टीले पर पड़ती है और एक भ्रम-दृष्टि में समा जाता है। एक तीव्र दौड़ चलती है, पर बीच राह में ही जीवन-लीला समाप्त हो जाती है। यात्रा अधरी रह जाती है। प्रश्न फिर पनपते हैं। यही क्रम है। यह क्रम निरवधि है। इसका कहीं कोई ओर-छोर नहीं है। एक अखण्ड शृंखला के रूप में सब-कुछ पूर्व-नियत है।

अतीत, अनागत और वर्तमान की सारी क्रियाएँ, दार्शनिक चिन्तन की सुनिश्चित 'नियति' नामक एक अदृश्य शक्ति के हाथों संगलित हैं। 'अहं करोमि' के रूप में व्यक्ति का कर्तृत्व-बोध, बोध नहीं, कल्पित अहंकार है। यह अहंकार जीवन को पीड़ित करता रहता है। अनागत के प्रति अनास्था उत्पन्न करता है। शाश्वत के प्रति शंका उत्पन्न करता है। जीवन को विभ्रम के मायाजाल में फंसा कर उपहासास्पद तांडव नृत्य करवाता रहता है। यह नृत्य की प्रक्रिया कभी समाप्त नहीं होती, और मनुष्य जल-बुद्बुद के समान एक झटके में सहसा समाप्त हो जाता है।

अतीत में जितनी क्रियाएँ सम्पादित हो गयी हैं, तथा जो प्रत्यक्ष वर्तमान की महालीला में अभी दृष्टि-

गोचर हो रही हैं, या जो अनागत के प्रति आस्था और अनास्था के सेतु निर्मित कर रही हैं, वे सब-की-सब पूर्व नियत थीं, पूर्व नियत हैं और पूर्व नियत ही होंगी। नियति से पृथक् कुछ नहीं है। ज्ञान-ज्योति से दीप्त चेतना का धनी साधक सहज भाव से कर्ता नहीं, अपितु द्रष्टा बनकर घटना-प्रवाह को तटस्थ दृष्टि से निहारता चला जाता है। वह देखता कि अणु-अणु का स्पन्दन भी पूर्व नियत है। भाव-भूमि की ऊर्जा और उष्मा के सारे तरंग पूर्व नियत हैं। जीवन-मृत्यु की सारी क्रीड़ाएँ पूर्व नियत हैं। काल का अवाध रथ-चक्र किस ओर किस गति से चलता है, इसे कौन कह सकता है? मोहमूढ़ व्यक्ति स्वयं के परिकल्पित कर्तृत्व-बोध के अहं में एक फूली हुई लाश की तरह इस संसार-सागर में डूबता-उतराता रहता है। वह विस्फारित नेत्रों से महाकाल के नर्तन को देखता है और व्यग्र होकर सफलता और असफलता के द्वन्द्व पाश में उलझता जाता है। कभी हर्ष-हास्य तो कभी रोष-रुदन। बस, इन्हीं दो बिन्दुओं पर उसकी भटकन होती रहती है। परन्तु प्रबुद्धचेता वीतराग-ज्ञानी राग-विराग की, अर्थात् मोह और क्षोभ की तमाम सीमाओं और संभावित परिस्थितियों की उद्वेलन की गयी अवस्थाओं के पार चला जाता है और जगत् के समग्र शुभाशुभ घटनाचक्रों के संबंधों में समत्व की आत्मलक्षी दिव्य-ज्योति का दर्शन करता है। वह संज्ञा एवं विशेषण की तमाम परिधियों से अपने को मुक्त कर लेता है। अन्दर और बाहर सृष्टि के तमाम रहस्यों में उसे एक पूर्व-निर्धारित क्रमबद्ध योजना परिलक्षित होती है। वह नियति के अखण्ड, अबाधित एवं अविच्छिन्न सत्य को आत्मस्थ कर, स्वयं में अनुभूत कर निर्विकल्प भाव के मौन केन्द्र में चञ्चलतामुक्त सुस्थिर हो जाता है। उसकी अहं से परिचालित वाचलता स्वयं समाप्त हो जाती है। जिस तरह गुंगा गुड के स्वाद का विवरण प्रस्तुत करने में असमर्थ होता है, उसी तरह जगत् के लीलामय रहस्यों की रसानुभूति का वर्णन इन्द्रियों के क्षुद्र उपकरणों के द्वारा कभी नहीं हो सकता। इसी अवाच्यता के सन्दर्भ में कभी कहा गया था—

**“गुंगे का गुड है भगवान,  
बाहर-भीतर एक समान।”**

प्रज्ञावान जीव को यह ज्ञात है कि जो कुछ भी घटित हो रहा है अथवा होने वाला है—उसमें अकस्मात् जैसा कुछ नहीं है। द्रव्य चाहे जड़ हो अथवा चेतन, जिसका जो भी पर्याय, परिणति, गति, स्थिति एवं परिवर्तन जिस काल और जिस क्षेत्र में, जिस अनुकूल या प्रतिकूल निमित्त एवं साधन से होना होता है, वह होकर रहता है। क्यों? क्योंकि सब कुछ व्यवस्थित है। चर्म-चक्षुओं को ऐसा लगता है कि यह सारा-का-सारा हर्ष-विषाद, संयोग-वियोग, हानि-लाभ आदि का बिखराव तत्काल घटित होने वाली, क्रियमाण परिस्थितियों के प्रभाव से हो रहा है। पर ऐसा कुछ नहीं है। तत्त्वदृष्टि से संपन्न मनीषी साधक को इस बात का पता है कि वह सब पूर्वनियत है। अकस्मात् जैसा कुछ नहीं है। व्यक्ति स्वयं हो, या अन्य कोई हो, वह नियति के अनुरूप इधर या उधर निमित्त तो हो सकता है, अन्य कुछ नहीं।

राम का जिस वक्त वनवास होता है, भरत व्याकुल हो जाते हैं। वनवास में निमित्तभूत अपनी माता कैकेयी पर रुष्ट होते हैं। किन्तु विक्षुब्ध भरत को नियति के परिप्रेक्ष्य में सान्त्वना देते हुए महर्षि वशिष्ठ समाधान देते हैं—

**“सुनहु भरत भावो प्रबल, बिलिखि कहेउ मुनि नाथ।  
हानि-लाभ, जीवन-मरण, यज्ञ-अपयज्ञ विधि हाथ ॥”**

इस प्रकार के दो-चार कथा, हजारों और भी ऐसे अनेक प्रमाण हैं, जो नियति की महालीला का दिग्दर्शन कराते हैं। वर्तमान काल की दृष्टि में अनुपस्थित अनन्तज्ञानी सर्वज्ञ सर्वदर्शी सर्वोत्तमों की बात छोड़ भी दी जाय, तब भी सिद्धयोग और ज्योतिष-शास्त्र आदि भवितव्यता का अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। ध्याताओं की परिशुद्ध अनुभूति में जब भी जो कुछ भी भावी कार्य प्रतिबिम्बित हुआ है, वह आगे चलकर निर्दिष्ट समय पर बिन्दु मात्र भी हेर-फेर के बिना सम्पादित हुआ है। उन मंतव्यों के क्रियान्वयन में जब भी कभी भूलें हुई हैं, उसका कारण प्रवक्ता का विद्यागत अल्पज्ञत्व एवं प्रमाद ही रहा है। सैद्धान्तिकता में कहीं प्रमाद नहीं है। स्वलित चिन्तना से बुद्धि में प्रमाद उत्पन्न होता है और वह प्रमाद ही बोधित निर्णय की विपरीतता में हेतु होता है।



प्रायः यह भी देखा जाता है कि स्वप्नावस्था में भी भावी घटनाओं का पूर्वाभास हो जाता है। घटनाओं के घटित हो जाने के बाद अक्सर लोग कहा करते हैं कि—मुझे इसका आभास अमुक रात्रि को स्वप्न में हो गया था। घटना के घटित होने के बाद क्या, पहले ही सम्बन्धित व्यक्तियों को सूचित कर दिया गया है कि ऐसा होने वाला है। और वह वैसा ही हुआ है। लोग आश्चर्यचकित रह गये हैं। यह मेरा भी अनेक बार का प्रत्यक्ष सिद्ध व्यक्तिगत अनुभव है।

प्रश्न है, यह कैसे संभव है? प्रश्न साधारण नहीं है। बहुत गंभीर है। घटना के घटित होने के पूर्व उसका आभास हो जाना, स्वप्न में चलचित्र की तरह उस अस्तित्व के अस्तित्व का उभर आना कैसे संभव है? इसका मूलाधार क्या है? कारण से ही कार्य होता है। अकारण कुछ नहीं है। अतः स्पष्ट ही प्रश्न खड़ा हो जाता है कि जब भावी घटना के घटित होने का कहीं-कोई दृष्ट सूक्ष्म कारण है ही नहीं, तो फिर वह पूर्व में ही कैसे दृष्टिगोचर हो गयी? इसका एकमात्र उत्तर—नियति है। हर द्रव्य की अपने ही अन्दर की एक नियति है। क्रमबद्ध पर्यायों का अखण्ड शृंखला-सूत्र है।

जैन-दर्शन में हर द्रव्य को, हर जड़-चैतन्य व्यक्ति को अनन्तानन्त गुण-पर्यायों का अखण्ड पुंज माना गया है। द्रव्य में पर्यायों का प्रवहमान एक अनन्त प्रवाह है और वे सब पर्याय परस्पर क्रमबद्ध हैं। अर्थात् वे एक के बाद एक क्रम से उद्भूत होती रहती हैं। प्रथम क्षण में उद्भूत होने वाले पर्याय एवं विवर्त दूसरे या तीसरे क्षण में नहीं होते। और न दूसरे या तीसरे आदि क्षणों में उद्भूत होने वाले हठात् प्रथम क्षण में होते हैं। इधर-उधर का कुछ भी हेरफेर नहीं होता। पहले फूल होता है, तत्पश्चात् फल। ऐसा नहीं होता कि पहले फल हो जाएँ, तत्पश्चात् फूल खिले। प्रकृति में भी क्रमभंग जैसी कोई स्थिति नहीं है। सर्वत्र क्रमवाद का अखण्ड राज्य है।

यवनिका के पृष्ठ भाग में सारे पात्र पहले से प्रस्तुत हैं। अभिनय के क्रम में रंगमंच पर जब भी जिनकी उपस्थिति अपेक्षित होती है, नियमानुसार उनका आगमन होता है और वे अपनी नियत भूमिका अदा करते हैं। कार्यान्तर पुनः यवनिका के पृष्ठभाग में चले जाते हैं। दर्शन की भाषा में यह शक्ति से व्यक्ति का, तिरोभाव से आविर्भाव का एक अभेद्य क्रम है। समुद्र में तरंग उठती है, फिर उसीमें विलीन हो जाती है, उसी प्रकार हर द्रव्य एक सागर है, जिसमें पर्यायों का आविर्भाव और तिरोभाव निरन्तर होता रहता है। भविष्य के पूर्वाभास के संबंध में भी यह स्वीकार करना होगा कि वह पहले से ही पूर्णरूप से निर्धारित, स्थिर एवं निश्चित स्थिति है, और उसका आधार नियति है, पर्यायों की क्रमबद्धता है। हम व्यवहार से काल का भूत, वर्तमान और भविष्य तीन कालों में विभक्त करते हैं, अन्यथा वह एक अविभक्त अखण्ड है। अतः आने वाला जो भविष्य वर्तमान में रूपान्तरित होने वाला है, वह साधारण मानव की परिकल्पना में भले ही नहीं आता हो, परन्तु वह तत्त्वतः पहले से ही द्रव्य की सत्ता में है। अतएव सिद्धान्ततः यह मानना होगा कि भवितव्यता का अगोचर संसार नियति के द्वारा निर्मित है। काल की प्रवहमान धारा में यथावसर उसका आविर्भाव एवं तिरोभाव होता रहता है। यह तत्त्वदृष्टि ही प्राज्ञ मानव को जीवन की उद्वेगजनक समस्त शंका-कुशंकाओं से मुक्त करती है। अन्यथा करने और कराने के अभिमान में मानव मन अधिकाधिक अशान्त एवं उद्विग्न होता जाएगा, उसे अभीष्ट शान्ति कथमपि प्राप्त न हो सकेगी। चिन्तन के इन्हीं क्षणों में अध्यात्म-दर्शन के आचार्यों का एकमत से यह महास्वर मुखरित हुआ है—“अहं करोमीति वृथाऽभिमानः।”

जैन-दर्शन की मान्यता के अनुसार नियतिवाद मानव मन को निर्भय और निर्द्वन्द्व बनाता है। ज्ञान के उच्चतम शिखरों पर आरोहण कर जाने में नियतिवाद का यह भाव साधक को सहायता प्रदान करता है। सत्य के चिन्तन की यह एक ऐसी अवस्था है, जहाँ प्राज्ञता के कालातीत अध्याय जुड़ते हैं, जो साधक को समत्व योग के निकष पर चढ़ाकर शक्तिमान बनाते हैं। जन-दर्शन की इस मान्यता की पृष्ठभूमि में दिव्यतम जीवन की उपलब्धियों की वे प्राज्ञरश्मियाँ प्रस्फुटित हुई हैं, जिनसे आर्यावर्त की चिन्तन-परम्परा गौरवान्वित हुई है। यह एक ऐसी अवस्था है, जो साधक को शुभाशुभ के परिधिओं से बाहर ले आती है। इस ज्ञानमय स्थिति में किसी भी राग-द्वेष की आकुलता साधक को विचलित नहीं करती, उसके सम्मुख विघ्न-बाधाओं की जितनी भी पर्वत श्रेणियाँ उपस्थित होती हैं, वे सारी की सारी उसके विराट् समत्वभाव में समाहित हो जाती हैं। अतः काल के परिवर्तन-चक्र का उद्दाम वेग उसे कहीं से भी आन्दोलित नहीं करता।

अनुकूल एवं प्रतिकूल के द्वन्द्व-चक्र में से ही रागद्वेष का जन्म होता है। पर कब होता है? तब होता है, जब व्यक्ति उसके हानि-लाभ सम्बन्धी गुण-दोषों के विश्लेषण में ग्रस्त हो जाता है। नियति का दर्शन उक्त ग्रस्तता से बचाता है। मानसिक चिन्तन की यह एक ऐसी ऊंचाई है, जहाँ साधक किसी के द्वारा अपने विरुद्ध कार्य होने पर न तो उसके प्रति द्वेष करता है और न अपने द्वारा अच्छा किये जाने पर अपने प्रति श्रेष्ठता के अहं का राग ही करता है। वह सर्वत्र समभाव से अवस्थित होता है—अनाकुल, अनुद्वेलित, अक्षुब्ध और अस्तब्ध रहता है। यही वेदान्त की ब्राह्मी स्थिति है, जैन-दर्शन की वीतराग अवस्था और बौद्ध-दर्शन की विषयना स्थिति है।

समस्त प्राच्य दर्शन-शास्त्रों के बन्धन मुक्ति की दिशा में अन्ततः यही मन्तव्य है कि आत्मज्ञानी को, प्रबुद्ध साधक को कर्ताभाव त्याग कर द्रष्टाभाव में अवस्थित होना है। जो हो रहा है, वह उसका एक तटस्थ दर्शक है, जिसके मन-वचन में कहीं भी विषमता नहीं है। समयानुरूप शुभाशुभ के प्रतिकार एवं स्वीकार में कहीं भी लिप्तता नहीं है। कर्म और कर्मफल के साथ कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व के अहंकार का वहाँ विसर्जन हो जाता है, अतः यथा-प्राप्त कर्म और कर्मफल के गहरे जल में रह कर भी वह कमल के समान निर्लिप्त भाव से अवस्थित है। समस्त मानसिक तनावों से सभी भाँति मुक्त रहने की अपने में यह अमोघ दार्शनिक प्रक्रिया है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में कुछ लोगों का कहना है कि नियति के इस सिद्धान्त से तो मनुष्य के कर्म करने की स्वतंत्रता ही समाप्त हो जाती है। जब नियति से ही क्रमबद्धता के रूपमें सब-कुछ होता है, तब मनुष्य के अधिकार में क्या रह जाता है? वह कर्म क्यों करेगा? जो होना होगा, वह स्वतः हो जाएगा। यह तो स्पष्ट ही निष्क्रियता का, कर्तव्य विमुखता का अघोषित सिद्धान्त है, जो जन-मंगल के अभ्युदय एवं निःश्रेयस् का प्रतिरोधी है।

प्रश्न ऊपर से गहरा लगता है। परन्तु तत्त्वतः बिल्कुल उथला हुआ है यह प्रश्न। व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन तो तब होता, जब कोई बाहर का ईश्वर या अन्य कोई कर्ता माना जाता। परन्तु, यहाँ तो दूसरे का कर्तृत्व किसी भी अंश में स्वीकार्य नहीं है। यहाँ तो स्वयं का कर्तृत्व स्वयं में ही नियत है। नियति अन्य की नहीं; अपनी है। हर द्रव्य की अपनी एक नियति है। वह द्रव्य से भिन्न नहीं है। अतः जैन-दर्शन के अनुसार मानव स्वयं स्वयं का कर्ता, स्रष्टा है, स्वयं का ईश्वर स्वयं है। जल से उद्भूत होने वाली तरंग जल की ही तो होती है। जैन-दर्शन की तत्त्वदृष्टि में हर द्रव्य स्वयं में प्रत्येक क्षण एक पूर्ण एवं अखण्ड इकाई है, वह अपनी परिधि में सर्व-तंत्र स्वतंत्र है। द्रव्य में जो भी कार्य-व्यापार घटित होते हैं, वे द्रव्य की अपनी सत्ता में से उद्भूत होते हैं। जो कुछ होता है, वह सब मूलतः भीतर से घटित होता है। बाहर में से किसी अन्य के द्वारा उसमें गुणाधान नहीं होता। अतः नियतिवाद में स्वतःसंभूत कर्म से इन्कार नहीं है; इन्कार है उसके कर्ता होने के अहं से। ज्ञानी सहज भाव से कहता है—हो रहा है, और अज्ञानी दर्प से कहता है—मैं कर रहा हूँ। ज्ञानी की दृष्टि में कहीं मैं नहीं है। और अज्ञानी की दृष्टि में सर्वत्र मैं—मैं—मैं की एक कुरूप छवि सदा छायी रहती है। नियति कर्म के विसर्जन के लिए नहीं, अपितु कर्म के आगे-पीछे जो विभाव परिणति का हेतु कर्म के कर्तृत्व का अहम् भाव है, उसका विसर्जन है। जब हम कर्तव्य कर्म को और उससे प्राप्त होने वाले फल को होने के रूप में स्वीकार लेते हैं, तो सहज ही, कर्म और कर्म के भोग से बन्धनरूप में होने वाली लिप्तता समाप्त हो जाती है। इस प्रकार माधुर्य-मयी ऋजु संकल्प की भावधारा समाहित करने में नियतिवादी मान्यता साधक की अन्तश्चेतना में सत्यानुप्राणित नवीन तथ्यों को उजागर करती है एवं कर्म के क्षेत्र में वैविध्य के अतिसंकुल परिवेश में स्थैर्य प्रदान करती है। नियतिवादी दृष्टि वह विमुक्त दृष्टि है, जिसमें किसी भी प्रकार की रागात्मक प्रीति एवं आसक्ति, घृणा एवं द्वेष तथा संत्रासजन्य शंकाकुल मनःस्थितियाँ अपना स्थान नहीं पाती और न चित्त में किसी भी प्रकार की उद्विग्नता, चंचलता एवं बाधा ही उत्पन्न करती है।

नियतिवाद मनुष्य की तमाम कुण्ठाओं को विसर्जित करता है। जीवन को सभी प्रकार के तनाव एवं द्वन्द्व से मुक्त करता है। मनुष्य को कर्ताभाव त्यागने का पावन सन्देश देता है और कर्म के प्रांजल स्वरूप को ज्ञानोन्मेष में उद्घाटित करता है। होनी ही होती है। अनहोनी न कभी हुई है, न कभी होगी। शान्त चित्त से प्राप्त कर्म कीजिए। यदि उसे होना है, तो समय पर हो जाएगा। और यदि उसे नहीं होना है, तो न होगा। साधक को अनुकूल या प्रतिकूल दोनों ही परिणामों के लिए सहर्ष तैयार रहना चाहिए। किसी भी प्रकार की आकुलता की आवश्यकता नहीं है। आकुल हो कर तो कुछ भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। आकुलता से तो प्राप्ति या अप्राप्ति

दोनों में ही शान्ति की अपेक्षा अशान्ति की ही संभावना अधिक रहती है। जो कुछ भी नियत है, प्राप्तव्य है, उसे संसार की कोई भी ताकत रोक पाने में समर्थ नहीं है, और जो अप्राप्तव्य है, उसे कोई प्राप्त कराने में सक्षम नहीं है। मनुष्य व्यर्थ ही विकल्पों में उलझता है। और उलझकर अपने स्वर्णिम समय को आलोचनाओं के कटु संवादों में परिणत कर देता है। यह संसार अपने नियत पथ पर गतिमान है। इसकी गति नियति से स्पन्दित है।

प्रस्तुत संदर्भ में भारत के एक महान् तत्त्वदर्शी ऋषि ने कहा था कि सुख हो अथवा दुख हो, प्रिय हो, अथवा अप्रिय, जो भी यथाप्रसंग प्राप्त होता जाय, उसे स्वीकार कर लेना ही उत्तम है। परन्तु उक्त स्वीकृति में सावधान रहने की जरूरत है, हृदय में किसी भी प्रकार के पराजित भाव को उत्पन्न न होने देने की आवश्यकता है और न मन को किसी भी रूप में तरंगाकुल होने देना है।

प्राप्त होने वाली हर परिस्थिति को स्वीकृति देने का यह अर्थ नहीं है कि जो अनुचित हो, प्रतिहार्य हो, उसका प्रतिहार एवं प्रतिकार न किया जाए। नियति का अर्थ हताश हो कर हर कहीं घुटने टेक देना नहीं है। प्रतिकार करने की भी अपनी नियति है, बस अपेक्षा एकमात्र यही है कि वह प्रतिकार भी नियति के रूप में स्वीकृत किया जाना चाहिए, फलतः आकुलता से मुक्त रह कर सब-कुछ अनाकुल भाव से होना चाहिए।

अस्तु नियतिवाद मानव मन को सर्वदा अनाकुल, अनाविल, स्वच्छ रहने की प्रेरणा देता है। निष्कलुष ज्ञान की तेजोमय आभा से हर क्षण दीप्त रहने का मंगलमय संदेश देता है। यह चिन्तन, वह प्रशान्त सागर है, जहाँ कलुष के हाहाकार करते तमाम तूफान शान्त हो जाते हैं और एक परम शान्त स्निग्ध वातावरण की मंदमदिर सौरभ से आत्म-चेतना आप्यायित हो जाती है। इसी अनाकुल शान्त भाव की उपलब्धि के लिए तत्व-द्रष्टा ऋषि की पुरातन, किन्तु हर क्षण नूतन दिव्य वाणी है :

“सुखं वा यदि वा दुःखं।  
 प्रियं वा यदि वाऽप्रियम् ॥  
 प्राप्तं प्राप्नुमुपासितं।  
 हृदयेनाऽपराजितः ॥”



# विश्व-शान्ति का आधार अनेकान्त

मुक्ति और संसार चक्र के  
गूढ़ तत्त्व का भद्र खोलता ।  
अनेकान्त जो ज्ञान-तुला पर,  
परम सत्य का सम तोलता ॥

भगवान् महावीर ने जितनी गहराई के साथ अहिंसा और अपरिग्रह का विवेचन किया, अनेकान्त-दर्शन के चिन्तन में भी वे उतने ही गहरे उतरे। अनेकान्त को न केवल एक दर्शन के रूप में, किन्तु सर्वमान्य जीवन-धर्म के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय महावीर को ही है। अहिंसा और अपरिग्रह के चिन्तन में भी उन्होंने अनेकान्त-दृष्टि का प्रयोग किया। प्रयोग ही क्यों, यहाँ तक कहा जा सकता है कि अनेकान्त-रहित अहिंसा और अपरिग्रह भी महावीर को मान्य नहीं थे।

आप शायद चौकेंगे यह कैसे? किन्तु वस्तुस्थिति यही है। चूँकि प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक सत्ता, प्रत्येक स्थिति और प्रत्येक विचार अनन्त धर्मात्मक है। उसके विभिन्न पहलू, विभिन्न पक्ष होते हैं। उन पहलुओं और पक्षों पर विचार किए बिना यदि हम कुछ निर्णय करते हैं, तो यह उस वस्तुत्व के प्रति स्वरूपघात होगा, वस्तु-विज्ञान के साथ अन्याय होगा और स्वयं अपनी ज्ञान-चेतना के साथ भी एक धोखा होगा। किसी भी वस्तु के तत्त्व-स्वरूप पर चिन्तन करने से पहले हमें अपनी दृष्टि को पूर्वाग्रहों से मुक्त, स्वतन्त्र और व्यापक बनाना होगा, उसके प्रत्येक पहलू को अस्ति, नास्ति आदि विभिन्न विकल्पों द्वारा परखना होगा, तभी हम उसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। अहिंसा और अपरिग्रह के विषय में भी यही बात है, इसलिए मैंने कहा—महावीर के अहिंसा और अपरिग्रह भी अनेकान्तात्मक थे।

अहिंसात्मक अनेकान्तवाद का एक उदाहरण लीजिए। भगवान् महावीर ने साधक के लिए सर्वथा हिंसा का निषेध किया। “सव्वाओ पाणाइवायाओ विरमणं।” किसी भी प्रकार की हिंसा का समर्थन उन्होंने नहीं किया। किन्तु जनकल्याण की भावना से, किसी उदात्त ध्येय की प्राप्ति के लिए, तथा वीतराग जीवन-चर्या में भी कभी कहीं परिस्थितिवश अनचाहे भी जो सूक्ष्म या स्थूल प्राणिघात हो जाता है, उस विषय में उन्होंने कभी एकान्त निवृत्ति का आग्रह नहीं किया, अपितु व्यवहार में उस प्राणिहिंसा को हिंसा स्वीकार करके भी उसे निश्चय में हिंसा की परिधि से मुक्त माना। क्योंकि उन्होंने अहिंसा की मौलिक तत्त्व-दृष्टि से बाहर में दृश्यमान प्राणिवध को नहीं, किन्तु राग-द्वेषात्मक अन्तर्वृत्ति को, प्रमत्त-योग “पमायं कम्ममाहंसु” को ही हिंसा बताया, कर्म-बन्धन का हेतु कहा, यही उनका अहिंसा के क्षेत्र में अनेकान्तवादी चिन्तन था।

परिग्रह और अपरिग्रह के विषय में भी महावीर बहुत उदार और स्पष्ट थे। यद्यपि जहाँ परिग्रह की गणना की गई, वहाँ वस्त्र, पात्र, भोजन, भवन आदि बाह्य वस्तुओं को, यहाँ तक कि शरीर को भी परिग्रह की परिगणना में लिया गया, किन्तु जहाँ परिग्रह का तात्त्विक प्रश्न आया, वहाँ उन्होंने मूर्च्छा भाव के रूप में परिग्रह की एक स्वतंत्र एवं व्यापक व्याख्या की। महावीर वस्तुवादी नहीं, भाववादी थे, अतः उनका अपरिग्रह का सिद्धान्त बाह्य जड़ वस्तुवाद में कैसे उलझ जाता? उन्होंने स्पष्ट घोषणा की—वस्तु परिग्रह नहीं, भाव ही (ममता) परिग्रह है। मन की मूर्च्छा, आसक्ति और रागात्मक विकल्प—यही परिग्रह है, बन्धन है—“मुच्छा परिगहो”।

इसी प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, चिन्तन के हर नये मोड़ पर महावीर—‘हाँ-और-ना’ के साथ चले। उनका उत्तर ‘अस्ति-नास्ति’ के साथ अपेक्षापूर्वक होता था। एकान्त अस्ति या एकान्त नास्ति जैसा निरपेक्ष कुछ भी उनके तत्त्व-दर्शन में नहीं था।

अपने शिष्यों से महावीर ने स्पष्ट कहा था—“सत्य अनन्त है, विराट् है। कोई भी अल्पज्ञानी सत्य को सम्पूर्ण रूप से जान नहीं सकता। जो जानता है, वह उसका केवल एक पहलू होता है, एक अंश होता है। सर्वज्ञ सर्वदर्शी, जो सत्य का सम्पूर्ण साक्षात्कार कर लेता है, वह भी उस ज्ञात सत्य को वाणी द्वारा पूर्णरूप से अविकल व्यक्त नहीं कर सकता।” इस स्थिति में सत्य को संपूर्ण रूप से जानने का, और समग्र रूप से कथन करने का दावा कौन कर सकता है? हम जो कुछ देखते हैं, वह एक-पक्षीय होता है। और जो कुछ कथन करते हैं, वह भी एक-पक्षीय ही है। वस्तुतः सत्य के सम्पूर्ण स्वरूप को न हम एक साथ पूर्णरूप से देख सकते हैं, न व्यक्त कर सकते हैं, फिर अपने दर्शन को एकान्त रूप से पूर्ण, यथार्थ और अपने कथन को एकान्त सत्य करार देकर दूसरों के दर्शन और कथन को एकान्त रूप से असत्य घोषित करना, क्या सत्य के साथ अन्याय नहीं है?

इस तथ्य को हम एक अन्य उदाहरण से भी समझ सकते हैं। एक विशाल एवं उत्तुंग सुरम्य पर्वत है, समझ लीजिए हिमालय है। अनेक पर्वतारोही विभिन्न मार्गों से उस पर चढ़ते हैं, और भिन्न-भिन्न दिशाओं की ओर से उसके चित्र लेते हैं। कोई पूरब से तो कोई पश्चिम से, कोई उत्तर से तो कोई दक्षिण से। यह तो निश्चित है कि विभिन्न दिशाओं से लिए गए चित्र परस्पर एक-दूसरे से कुछ भिन्न ही होंगे, फलस्वरूप देखने में वे एक-दूसरे से विपरीत ही दिखाई देंगे। इस पर यदि कोई हिमालय की एक दिशा के चित्र को ही सही बताकर अन्य दिशाओं के चित्रों को झूठा बताये, या उन्हें हिमालय के चित्र मानने से ही इन्कार कर दे, तो उसे आप क्या कहेंगे ?

वस्तुतः सभी चित्र एक-पक्षीय हैं। हिमालय की एक-देशीय प्रतिच्छवि ही उनमें अंकित है। किन्तु, हम उन्हें असत्य और अवास्तविक तो नहीं कह सकते। सब चित्रों को यथाक्रम मिलाइये, तो हिमालय का एक पूर्ण रूप आपके सामने उपस्थित हो जायेगा। खण्ड-खण्ड हिमालय एक अखण्ड आकृति ले लेगा, और इसके साथ हिमालय के दृश्यों का खण्ड-खण्ड सत्य एक अखण्ड सत्य की अनुभूति को अभिव्यक्ति देगा।

यही बात विश्व के समग्र सत्यों के सम्बन्ध में है। कोई भी सत्य हो, उसके एक-पक्षीय दृष्टिकोणों को ले कर अन्य दृष्टिकोणों का अपलाप या विरोध नहीं होना चाहिए, किन्तु उन परस्पर-विरुद्ध प्रतीत होने वाले दृष्टिकोणों के यथार्थ समन्वय का प्रयत्न होना चाहिए। दूसरों को असत्य घोषित कर स्वयं को ही सत्य का एकमात्र ठेकेदार बताना, एक प्रकार का अज्ञान-भरा अन्ध अहं है, दंभ है, छलना है। भगवान् महावीर ने कहा है, सम्पूर्ण सत्य को समझने के लिए सत्य के समस्त अंगों का अनाग्रहपूर्वक अवलोकन करो और फिर उनका अपेक्षा-पूर्वक कथन करो।

भगवान् महावीर की यह चिन्तनशैली अपेक्षावादी अनेकान्तवादी शैली थी, और उनकी कथनशैली स्या-द्वाद या विभज्यवाद के नाम से प्रचलित हुई—“विभज्जवायं च वियागरेज्जा।” अर्थात् अनेकान्त वस्तु में अनन्त धर्म की तत्त्वदृष्टि रखता है, अतः वह वस्तुपरक होता है, और स्याद्वाद अनन्तधर्मात्मक वस्तु के स्वरूप का अपेक्षा-प्रधान वर्णन है, अतः वह शब्दपरक होता है। जन-साधारण इतना सूक्ष्म भेद ले कर नहीं चलता, अतः वह दोनों को पर्यायवाची मान लेता है। वैसे दोनों में ही अनेकान्त का स्वर है।

जन-सुलभ भाषा में एक उदाहरण के द्वारा महावीर के अनेकान्त एवं स्याद्वाद का स्वरूप इस प्रकार समझा जा सकता है—आप जब एक कच्चे आम को देखते हैं, तो सहसा कह उठते हैं—आम हरा है, उसको चखते हैं तो कहते हैं—आम खट्टा है। इस कथन में आम में रहे हुए अन्य गंध, स्पर्श आदि वर्तमान गुण-धर्मों की, तथा भविष्य में परिवर्तित होने वाले पीत एवं माधुर्य आदि परिणमन-पर्यायों की सहज अपेक्षा-सी हो गई है। निषेध नहीं, उन्हें गौण कर दिया गया है। और वर्तमान में जिस वर्ण एवं रस का विशिष्ट अनुभव हो रहा है, उसी की अपेक्षा से आम को हरा और खट्टा कहा गया है। आम के सम्बन्ध में यह कथन सत्य कथन है, क्योंकि उसमें अनेकान्त-मूलक स्वर है। किन्तु यदि कोई कहे कि आम हरा ही है, खट्टा ही है, तो यह एकान्त आग्रहवादी कथन होगा। ‘ही’ के प्रयोग में वर्तमान एवं भविष्य-कालीन अन्य गुण-धर्मों का सर्वथा निषेध है, इतर-सत्य का सर्वथा अपलाप है, एक ही प्रतिभासित आंशिक सत्य का आग्रह है। और जहाँ इस तरह का आग्रह होता है, वहाँ आंशिक सत्य भी सत्य न रह कर असत्य का चोला पहन लेता है। इसलिए महावीर ने प्रतिभासित सत्य को स्वीकृति दे कर भी, अन्य सत्यांशों को लक्ष्य में रखते हुए आग्रह का नहीं, अनाग्रह का उदार दृष्टिकोण ही दिया।

लोक-जीवन के व्यवहार-क्षेत्र में भी हम ‘ही’ का प्रयोग करके नहीं, किन्तु ‘भी’ का प्रयोग करके ही अधिक सफल और संतुलित रह सकते हैं। कल्पना करिए, आपके पास एक प्रौढ़ व्यक्ति खड़ा है, तभी कोई एक युवक आता है और उसे पूछता है—‘भैया ! किधर जा रहे हो ?’ दूसरे ही क्षण एक बालक दौड़ा-दौड़ा आता है और पुकारता है—‘पिताजी ! मेरे लिए मिठाई लाना।’ तभी कोई वृद्ध पुरुष उधर आ जाता है और वह उस प्रौढ़ व्यक्ति को पूछता है—‘बेटा ! इस धूप में कहाँ चले ? इस प्रकार अनेक व्यक्ति आते हैं, और कोई उसे चाचा कहता है, कोई मामा, कोई मित्र और कोई भतीजा।

आप आश्चर्य में तो नहीं पड़ेंगे ? यह क्या बात है ? एक ही व्यक्ति किसी का भाई है, किसी का भतीजा



है, किसी का बेटा है और किसी का बाप है। बाप है तो बेटा कैसे? और बेटा है तो बाप कैसे? इसी प्रकार चाचा और भतीजा भी एक ही व्यक्ति एक साथ कैसे हो सकता है? ये सब रिश्ते-नाते परस्पर-विरोधी हैं, और दो विरोधी तत्त्व एक व्यक्ति में कैसे घटित हो सकते हैं? उक्त शंका एवं भ्रम का समाधान अपेक्षावाद में है। अपेक्षावाद वस्तु को विभिन्न अपेक्षाओं, दृष्टि बिन्दुओं से देखता है। इसके लिए वह 'ही' का नहीं 'भी' का प्रयोग करता है। जो बेटा है, वह सिर्फ किसी का बेटा ही नहीं, किसी का बाप भी है। वह सिर्फ किसी का चाचा ही नहीं, किसी का भतीजा भी है। यही बात 'मामा' आदि के सम्बन्ध में है। यदि हम 'ही' को ही पकड़ कर बैठ जाएँगे, तो सत्य की रक्षा नहीं कर सकेंगे। एकान्त 'ही' का प्रयोग अपने से भिन्न समस्त सत्यों को झुठला देता है, जब कि 'भी' का प्रयोग अपने द्वारा प्रस्तुत सत्य को अभिव्यक्ति देता हुआ भी दूसरे सत्यों को भी बगल में मूक एवं गौण स्वीकृति दिये रहता है। अतः किसी एक पक्ष एवं एक सत्यांश के प्रति एकान्त अन्ध आग्रह न रख कर उदारतापूर्वक अन्य पक्षों एवं सत्यांशों को भी सोचना-समझना और अपेक्षापूर्वक उन्हें स्वीकार करना, यही है श्रमण भगवान् महावीर का अनेकान्त-दर्शन।

भगवान् महावीर ने कहा—किसी एक पक्ष की सत्ता स्वीकार भले ही करो, किन्तु उसके विरोधी जैसे प्रतिभासित होने वाले (सर्वथा विरोधी नहीं) दूसरे पक्ष की भी जो सत्ता है, उसे झुठलाओ मत। विपक्षी सत्य को भी जीने दो, चूँकि देश-काल के परिवर्तन के साथ आज का प्रच्छन्न सत्यांश कल प्रकट हो सकता है, उसकी सत्ता, उसका अस्तित्व व्यापक एवं उपादेय बन सकता है—अतः हमें दोनों सत्यों के प्रति जागरूक रहना है, व्यक्त सत्य को स्वीकार करना है, साथ ही अव्यक्त सत्य को भी। हाँ, देश, काल, व्यक्ति एवं स्थिति के अनुसार उसकी कथंचित् गौणता, सामयिक उपेक्षा की जा सकती है, किन्तु सर्वथा निषेध नहीं।

भगवान् महावीर का यह दार्शनिक चिन्तन सिर्फ दर्शन और धर्म के क्षेत्र में ही नहीं, किन्तु संपूर्ण जीवन को स्पर्श करने वाला चिन्तन है। इसी अनेकान्त-दर्शन के आधार पर हम गरीबों को, दुर्बलों को और अल्प-संख्यकों को न्याय दे सकते हैं, उनके अस्तित्व को स्वीकार कर उन्हें भी विकसित होने का अवसर दे सकते हैं। आज विभिन्न वर्गों में, राष्ट्र-जाति-धर्मों में जो विग्रह, कलह एवं संघर्ष हैं, उसका मूल कारण भी एक-दूसरे के दृष्टिकोण को न समझना है, वैयक्तिक आग्रह एवं हठ है। अनेकान्त ही इन सब में समन्वय स्थापित कर सकता है। अनेकान्त संकुचित एवं अनुदार दृष्टि को विशाल बनाता है, उदार बनाता है। और, यह विशालता, उदारता ही परस्पर के सौहार्द, सहयोग, सद्भावना एवं समन्वय का मूल प्राण है।

अनेकान्तवाद वस्तुतः मानव का जीवन-धर्म है, समग्र मानव-जाति का जीवन-दर्शन है। आज के युग में इसकी और भी आवश्यकता है। समानता और सहअस्तित्व का सिद्धान्त अनेकान्त के बिना चल ही नहीं सकेगा। उदारता और सहयोग की भावना तभी बलवती होगी, जब हमारा चिन्तन अनेकान्तवादी होगा। भगवान् महावीर के व्यापक चिन्तन की यह समन्वयात्मक देन—धार्मिक सामाजिक जगत् में, बाह्य और अन्तर् जीवन में सदा-सर्वदा के लिए एक अद्भुत देन मानी जा सकती है। अस्तु, हम अनेकान्त को समग्र मानवता के सहज विकास की, विश्व-मंगल और जनमंगल की धुरी भी कह सकते हैं।



# श्रमण-संस्कृति में: अहिंसा-दर्शन

‘प्राणिमात्र प्रभु के बेटे’—यह धर्म-कथन है,  
प्राणि-प्राणि से यही भाव, समता का धन है।  
समता के इस बंधुभाव पर धर्म टिका है—  
बंधु भाव ही अतः विश्व का सत्य परम है ॥

‘अहिंसा’ धर्म और दर्शन के शब्द संसार का एक महत्तर शब्द है। इस शब्द के ध्वनित होते ही उच्चतर भारतीय मनीषा की एक लम्बी चिन्तन-परम्परा विश्व वाङ्मय के चित्रपट पर वैचारिकता के नितान्त उदात्त एवम् महान् मानवतावादी आयामों का मन-भावन अंकन करना प्रारम्भ कर देती है। अनेक कालाविधियों के व्यतीत हो जाने के बाद भी इसके जन-मंगल अस्तित्व के अक्षुण्ण रह पाने के पृष्ठभाग में मानवीय ऊर्जा की विकास-यात्रा के जो सम्बन्ध-सेतु दृष्टिगोचर होते हैं, उन्हें करुणामयी प्रज्ञा की सर्वोच्च उपलब्धि कह सकते हैं। उपलब्धियों के तरल उष्मायित प्राण-संजीवन की कुहक से जिस प्रेमास्पद वैचारिक नवनीत का संग्रह, तपस्या के दुग्ध समुद्र से किया गया है, वह प्राणिमात्र के प्रति अपनत्व का सार-गर्भित भाव है, सृष्टि के बहुआयामी विकास-क्रम का ऋजु संकल्प है, मानवीय चेतना की प्रखर दीप्ति है, मनुष्य के देवत्व पद पर प्रतिष्ठित होने के रचनाधर्मी सांघाषिक विजय का मनोहर गान है। प्राणिमात्र के प्रति अपनत्व के इस पावन भाव ने सृष्टि के उदात्त संकल्पों को एक ओर जहाँ नये सुरों से सजाया है, वहीं दूसरी ओर इसके विकास-क्रम में आने वाले भ्रान्तिजन्य आधिभौतिक, आधि-दैविक एवम् आध्यात्मिक प्रवृत्तियों का भी यथादेश, यथाकाल परिष्कार किया है और परस्पर सहयोगी सहयात्री के रूप में मानव के मन-वाणी और कर्म को गति दी है। इस भावना ने मनुष्य के क्रूर स्वार्थी अहम् को तोड़ा है और प्रीतिमयी शब्दावलियों को एक सूत्र में ला जोड़ा है।

“मिती मे सव्वभूएसु” श्रमण संस्कृति की विराट् भावना से निःसृत वह अमृतसूत्र है, जिसके एक-एक अक्षर तथा शब्द के ध्वनिवर्धक चित्रपट को अगर ध्यान से देखा जाय, तो उपर्युक्त कही गयी सारी बातें सहज ही स्पष्ट हो जायंगी। सर्वभूत में यह जो समत्व का मैत्री भाव है, प्राण की प्रत्येक स्फुरणाओं में यह जो शाश्वत मंगल-संदेश हैं, समस्त रोमकूपों में यह जो सजल स्पंदन है, यही तो अभिव्यक्त करता है—“मिती मे सव्वभूएसु” ‘मैत्री मे सर्वभूतेषु’ का यह विश्वतोमुखी माहात्म्य। यह वह विविध-वर्णी पुष्प सज्जित प्राण-सुषमा है, जो अपने में सर्वहित आह्लाद के कितने ही मन्वन्तरों को आबद्ध कर लेती हैं। अपने दिव्य प्रेमालिगन में जब सारा संसार नेत्रों के सम्मुख अपनत्व के पराग में हिल्लोलित होने लगता है, तब अहिंसा भगवती विश्वजननी के रूप में अभेद भाव से स्नेहवर्षण करती है। श्रमण संस्कृति की प्राणवत्ता यही तो है। इसी स्थल पर तो वह समग्र मानवीय चिन्तन-शास्त्र को प्राणिमात्र के प्रति करुणामय स्वरूप में अवस्थित रहने का मंगलमय महान् संदेश देती हैं। अहिंसा मरणधर्मी देह की अमृतमयी प्राण-प्रतिष्ठा है। अभयमुद्रा में प्राणिमात्र को जीवन धारण करने का प्रथम पाठ है, प्रथम मंगलाचरण है। इसके आलोक में चिन्तकों ने जब भी विश्व को अपना संदेश दिया है—कल्याण का मार्ग प्रशस्त हुआ है। जीवन में संजीवनी सुधा का संचार हुआ है। दिग्भ्रमित मानव-जाति सर्वहित में सृजनात्मक ऊर्जा को प्राप्त करती रही है। इसी कन्द्र पर एक में अनेक का और अनेक में एक का हित समाहित होता है। ‘परस्परोपग्रहो जीवानम्’ का सिद्ध मंत्र इसी के ब्रह्मकण्ठ से मुखरित हुआ है।

मनुष्य की आदिम प्रवृत्तियों से लेकर आज तक की विकास-यात्रा के मध्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कड़ी अगर कुछ है, तो वह प्राणिमात्र की रक्षा की अहिंसा भावना ही है। एक मात्र इसी चिन्तना ने मनुष्य को भगवदात्मा के रूप में ऋषि-देवत्व और ईश्वरत्व जैसे महान् पदों पर प्रतिष्ठित किया है। मानवीय सद्गुण जहाँ कहीं भी दृष्टि-गोचर होते हैं, उन सब के मूल में अहिंसा भावना ही अपना प्रमुख स्थान रखती है।

विकास की इस समृद्ध भाव-चेतना में जीवन के बहुविध आयामों को एक ओर जहाँ कल्याण-दृष्टि प्रदान की है, वहीं दूसरी ओर उसे ऊर्ध्वमुखी प्रेरकत्वों से सौंदर्य-विभूषित भी किया है। विश्व में जहाँ कहीं निर्मल निष्पाप सौंदर्य दिखाई पड़ता है, मानवीय चित्त जहाँ कहीं भी सहज आकर्षण को प्राप्त करता है, क्षुद्र अणु जहाँ कहीं भी विराट् में तदाकार होने को प्रस्तुत होता है, उन तमाम बिन्दुओं पर ज्ञान का जो संजीवन-प्राण परिलक्षित होता है, वह अहिंसा में से प्रस्फुटित हुआ है। करुणामयी के असंख्य कण्ठों से ऋजु प्रज्ञा के दिव्य स्वर फूटते हैं। और फलतः भारती का वरद पुत्र अपनत्व के असीम स्नेह और पुलक रोमांचित हो गद्गद भाव से कह उठता है—  
“अहिंसा परमोधर्मः।”

अहिंसा के प्राण-प्रतिष्ठक करुणामूर्ति श्रमण भगवान् महावीर ने प्रश्नव्याकरण के अहिंसा सूत्र में अहिंसा को “भगवती” कहा है—“भगवई अहिंसा।” और उन्हीं के महान् उत्तराधिकारी आचार्य समन्तभद्र ने अहिंसा को प्राणिमात्र के लिए उपास्य परब्रह्म कहा है—“अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्।” जी हाँ! सचमुच

ही अहिंसा भगवती है, परब्रह्म है। यह अपने कोमल अंक में सर्वव्यापकता के रूप में समग्र विश्व को समेट लेती है। यहाँ पराया जैसा कुछ भी तो शेष नहीं रहता। इसी रूप में तो यह श्रमण-संस्कृति की विचार-प्रक्रिया की चरम परिणति है। अपने मानवतावादी अतीत के प्रति अपने सर्वमंगल त्याग और तपस्या के प्रति श्रमण-परम्परा का यह जो अहिंसा परक चिर प्रसिद्ध ममत्त्व है, उसके मूल स्रोत में जीव मात्र के भेदमुक्त कल्याण की ही भावना छिपी है। अहिंसा किसी परीलोक का शब्द अथवा अजनबी भाव नहीं है। व्यवहार और सिद्धान्त का अर्थात् कर्म और धर्म का समन्वयरूप अद्भुत उद्गम स्रोत है। 'शिवमस्तु सर्वजगतः' एवम् 'सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु' की विश्व-दृष्टि, मानवीय चेतना की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है। सत्य के शाश्वत मूल्यों को समझने एवं हृदयंगम करने के लिए यह आवश्यक है कि अहिंसा को चतुष्कोणीय विचार-प्रक्रिया को उन्मुक्त एवम् प्रातिभ दृष्टि से देखा जाय। समुची भारतीय चेतना को विश्व में समुचित आदर प्राप्त करने, श्रद्धावान होने एवं देवत्व की सीमा तक प्रतिष्ठित होने के पृष्ठ भाग में एक मात्र यह अहिंसा दर्शन ही है। और इतिहास के परिप्रेक्ष्य में तटस्थभाव से देखा जाए, तो इस अहिंसा दर्शन को सर्वप्रथम सर्वोच्च शिखर तक प्रतिष्ठापित करने का श्रेय श्रमण-संस्कृति के विश्वमंगल महान् अध्यात्मचेताओं को ही है।

आदिम युग के इतिहास के अध्येताओं को यह ज्ञात है कि मानव का प्रारम्भिक जीवन पशु के समान ही व्यक्ति-निष्ठ था। मनुष्य की इन आदिम प्रवृत्तियों के मध्य भोगवादी निम्नस्तरीय, एकांगी चित्तवृत्तियों की चरम स्थितियों का समावेश था और इस तरह उसका जीवन पशु से किसी भी प्रकार उन्नत न था। अहिंसा-दर्शन के माध्यम से मानव के प्रारम्भिक विकास एवम् उसकी क्रमशः अधोमुख से ऊर्ध्वमुख होती जाती चेतना की मनो-वैज्ञानिक व्याख्या की जा सकती है, जिसके आधार पर आधुनिक विकृत होते मानवीय जीवन को भी चिन्तन के सर्वथा नये आयाम दिये जा सकते हैं।

अहिंसा के परिप्रेक्ष्य में जिस किसी भी वक्त भारतीय चिन्तन-परम्परा पर विचार किया जायगा, एक बात स्पष्ट हो जाएगी कि इसके सांघर्षिक अतीत में मानव-कल्याण की भावना के समृद्ध बीज निरन्तर ऊर्जा प्राप्त करते रहे हैं और यही कारण है कि आज के अनेकानेक विकृतियों से भरे युग में भी भारतीय चिन्तन-परम्परा एवं उसकी सांस्कृतिक मर्यादा पूर्णतः विनष्ट नहीं हो पायी है। अहिंसा ने मानव को सिर्फ दया-करुणा करना ही नहीं सिखाया है, बल्कि बन्धुता के समान धरातल पर परस्पर मैत्री भाव से विचार एवम् आचार की समृद्धि के सर्वोच्च शिखर पर आरोहण कर जाने का भी दिव्य पाठ पढ़ाया है। इस दृष्टि से अहिंसा भारतीय चिन्तन-परम्परा और उसके इतिहास को एक विराट् स्वरूप प्रदान करती है। और यही कारण है कि संसार की उन महान् सभ्यताओं में से, जो कालक्रम से बहुत पुरानी हैं और वृद्ध हैं, यही एक जीवित है। वस्तुतः अगर काफी गहराई के साथ भारतीय मनीषा की सचेतन दृष्टि और विकास के प्रति संकल्पित ऊर्जा की बहुआयामी दृष्टिकोण से छानबीन की जाए, तो अहिंसा दर्शन की स्थापना और उसका महत्त्व सूर्यालोक की भाँति स्पष्ट हो जाएगा। उक्त दृष्टिकोण से विचार करने पर यह साफ परिलक्षित होता है कि अहिंसा वस्तुतः सर्वप्रथम एक आत्मानुशासन है, जो दुष्प्रवृत्तियों की गति को अवरुद्ध करता है और सत्-प्रवृत्तियों को विचार के नये आयाम प्रदान करता है।

मानव-विकास के अध्ययन के पश्चात् उसकी मनोवृत्तियों की गवेषणा के मध्य यह बात स्पष्ट परिलक्षित होती है कि मनुष्य अमुक अंश में प्रकृति से कुछ उच्छृंखल है। उसका यह स्वभाव कुछ अंशों में उसकी परम्परागत वैभाविक प्रकृति के कारण है और कुछ देश, काल, पात्र और परिस्थिति के अनुसार। इन्द्रियजन्य आवश्यकताएँ एवं परिवेशगत मान्यताएँ मनुष्य के विकास और पतन की द्वन्द्वात्मक यात्रा है। इसी यात्रा के मध्य से हो कर मनुष्य जैन इतिहास के सुदर्शन और ईसाई इतिहास के जोसस जैसे अमृतपुत्रों को सूली पर लटकाता रहा है एवम् वहीं दूसरी ओर अमृतपुत्र अपराधी के अज्ञानजन्य कृतघ्न कार्य के लिए प्रभु से क्षमा कर देने की प्रार्थना करते रहे हैं। मानव के पतन और विकास की चरम परिणति के रूप में इस उदाहरण को लिया जा सकता है। इस द्वन्द्वात्मक भाव संबंध में अहिंसा-दर्शन की सर्वोत्तम उपलब्धियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। अतएव अहिंसा एक ऐसा सत्य है, जिसे किसी भी ओर से नकारा नहीं जा सकता। और यह अहिंसा-दर्शन श्रमण-संस्कृति की अमर देन है। अहिंसा की दृष्टि से भारतीय जनमानस का विकसित इतिहास तीर्थंकर परम्परा से प्राप्त होता है, जिसे कालान्तर में सभी धर्मों के प्रवर्तकों, चिन्तकों और अनुयायियों ने समान रूप से अंगीकार किया। परिणाम-स्वरूप मनुष्य की आदिम हिंसात्मक उग्र मनोवृत्तियों पर अंकुश लगा और धीरे-धीरे समाज, शास्त्र तथा राजतंत्र में भी इसने प्रमुख रूप से

अपना स्थान बना लिया। व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज, समाज से राष्ट्र और अन्त में “स्वदेशो भुवन-त्रयम्” के रूप में मानव-चेतना की जो विस्तार यात्रा है, उसके मूल में येन-केन रूप में अहिंसा का मधुर स्निग्ध राग अनुगुंजित है।

मैं पूर्व में कह आया हूँ कि संसार की बड़ी-बड़ी सभ्यताओं में से, जो कालक्रम से बहुत पुरानी हैं—एक भारतीय संस्कृति ही अभी तक जीवित बची है। अगर अहिंसा-दर्शन के माध्यम से अपनी परम्परा को समझने का प्रयत्न किया जाए, तो इससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि जीवमात्र के प्रति कल्याण की भावना बन्धुता की उदारता, भारतीय मनश्चेतना का ही प्राण है। हमारे ऋषि-मुनिजनों के द्वारा, समय-समय पर किया गया “बान्धवाः प्राणिनः सर्वे” का ब्रह्मनाद ही भारत की श्रेष्ठता का प्रधान रहस्य है। इसके सिवा और क्या है, भारत की जन-कल्याणी ज्योतिर्मयी सभ्यता की अस्मिता ?

मिश्र की सभ्यता की महत्ता का पता पुरातत्त्ववेत्ताओं की लेखबद्ध सूचनाओं एवं चित्र लेखों के अध्ययन द्वारा ही पाया जा सकता है। बेबिलोनियम साम्राज्य अपनी आश्चर्यजनक वैज्ञानिक उपलब्धियों, सिंचाई व इंजीनियरी काल के साथ आज खण्डहरों के अतिरिक्त कुछ नहीं रह गया है। महान रोमन संस्कृति अपनी राजनीतिक संस्थाओं और कानून व समानता के सिद्धान्तों के साथ अधिकांश में आज भूतकाल का ही एक चर्चणीय विषय रह गयी है। किन्तु आश्चर्य है, भारतीय सभ्यता के सम्बन्ध में इतिहास-वेत्ताओं को कि महाकाल के अनेक भीषण वज्राघातों को, तूफानों को, उतार-चढ़ावों को सहन करते हुए आज भी जीवित है, आज भी अपनी अनेक आदर्श विशेषताओं को अक्षुण्ण रखे हुए है। और ऐसा क्यों है? इतिहास और दर्शन-शास्त्र के गवेषक अगर ध्यान से देखें, तो उन्हें साफ पता चल जायगा कि भारतीय-संस्कृति विनाश की संस्कृति नहीं; विकास की संस्कृति है; संहार की संस्कृति नहीं; उद्धार की संस्कृति है। अतएव वह अपनी धरोहर को बचाकर मानवजाति को अभ्युदय एवम् निःश्रेयस् के विकास-क्रम में ले जाना चाहती है।

अहिंसा भारतीय जन-मानस में अपनी परम्परा और प्रगति के प्रति एक विशेष गुण के रूप में अवस्थित है। यह उसकी श्रद्धा भावना है। अगर बहुत स्पष्ट रूप से कहा जाय तो यह राष्ट्र की चारित्रिक विशेषता है। परम्परा का निरन्तर अनुसरण करते रहना, हमारी एक विशिष्ट मनोवृत्ति है अर्थात् युगों तक बराबर प्रचलित प्रथाओं के अन्दर एक प्रकार की आग्रह-पूर्ण भक्ति। जब तब नयी संस्कृतियों से सामना हुआ अथवा नवीन ज्ञान आगे आया, भारतियों ने सामयिक प्रलोभन की अधीनता स्वीकार किये बिना अपने परम्परागत विश्वास को दृढ़तापूर्वक पकड़ कर स्थिर रखा। यही कारण है कि नानाविध झंझावातों को झेलते रहने के बावजूद भारतवर्ष की मिट्टी में अहिंसा-रूपी महान् दर्शन की सौधी गंध अभी भी दिग्दिगन्तों में व्याप्त रही है।

अहिंसा की जीवन यात्रा में यहाँ तक बहुत कुछ ठीक है, उपादेय है। किन्तु खेद है, अहिंसा कुछ ऐसे प्रश्नों से भी घिर गयी है, जो उसकी महत्ता को धूमिल करने लगे हैं। कैसा भी उच्चतम सिद्धान्त हो, जनमानस के अबोध की कुछ भ्रान्तियाँ उसका पीछा करने ही लगती हैं।

इस सम्बन्ध में खास बात यह है कि वस्तुतः जो सूक्ष्म है, यदि उसे कोई स्थूल रूप दे दिया जाता है, तो उसकी प्राणवत्ता समाप्त हो जाती है। यही बात अहिंसा के संबंध में भी है। अहिंसा मात्र लोकाचाररूप बाह्य व्यवहार का स्थूल विधि-निषेध नहीं है, अपितु वह अन्तर्-चेतना का एक सूक्ष्म दिव्य भाव है। परन्तु कालक्रम से दुर्भाग्यवश कुछ ऐसी स्थितियाँ बनती गयीं कि अहिंसा का मूल तात्पर्य बहुत कुछ धूमिल हो गया, एक कोने में सिमट कर रह गया और वह स्थूल व्यवहार के सामान्य विधि-निषेधों में फसकर रह गयी। फलतः अहिंसा की ऊर्जा और प्राणवत्ता सिद्धान्त की थोथी शब्दावलियों के भीतर आवद्ध होकर रह गयी। यह इतिहास का अनुभव प्रमाण है कि जब किसी सिद्धान्त की ऊर्जा और प्राणवत्ता व्यावहारिक चिन्तन से विलय होने लगती है, तो उसकी तेजस्विता समाप्त हो जाती है और उससे विकास तो दूर की बात एक निर्जीव-सा समस्याग्रस्त वातावरण निर्मित होने लगता है। उत्थान के स्थान में पतनशील वृत्तियाँ जन्म लेने लगती हैं। फिर वह दर्शन जीवन की समस्याओं का समाधान नहीं खोज पाता और एक दिन स्वयं ही एक समस्या बन जाता है। अहिंसा जसे महान् मानवीय दर्शन के सम्बन्ध में भी ऐसी ही स्थितियाँ उत्पन्न हुयी है। सहस्राब्दियों से चली आ रही इस दार्शनिक चेतना के व्याव-

हारिक स्वरूप में जो स्वलन कालक्रम से सामने आया है, उसके मूल में कोरे सिद्धान्तालोचन की समस्याएँ हैं। यह बिल्कुल तयशुदा बात है कि किसी भी दर्शन की मान्यता जन-मानस में तभी स्वीकृति प्राप्त करती है, जबकि उसका व्यावहारिक पक्ष स्पष्ट एवम् समुन्नत हो। अहिंसा के सम्बन्ध में कुछ इसके विपरीत भी हुआ है। उसके हृदय-पक्ष को अमुक अंश में एक तरह नकार दिया गया है और स्थूल वस्तु पक्ष की सुरक्षा में ही लोग प्राणपण से लग गए हैं। भगवान् महावीर ने इसीलिए बार बार इस ओर सतर्क रहने का संकेत किया है।

आम लोगों के मन में अहिंसा के प्रति यह धारणा बन गयी है कि जीव की हत्या करने से नरक का भागी बनना पड़ेगा। किसी को पीड़ा देने से स्वयं भी पीड़ित होना पड़ेगा। स्थूल बुद्धि के लोगों के लिए तो यह धारणा ठीक है। परन्तु अहिंसा को निरन्तर इसी प्रकार भय पर प्रतिष्ठित करने रहना ठीक नहीं है। भय के आधार पर प्रचलित धर्मशासन या राजशासन, कोई भी अधिक समय तक नहीं चल सकता। सूक्ष्मता से देखा जाए, तो भय स्वयं ही एक हिंसा है। यह आत्मा की अपनी स्व-हिंसा में आता है। जहाँ 'स्व' की, आत्मा के अनाकुल भाव की हिंसा हो जाए, वहाँ पर-अहिंसा के रूप में सिवा लोकाचार के और क्या बच रहता है? अहिंसा का मूल तात्पर्य ही अभय में है, जीवमात्र के भयमुक्त हो जाने में है। कायिक, वाचिक तथा मानसिक सभी प्रकार की पीड़ा, शोक और संताप से विरहित का नाम ही अहिंसा है। अहिंसा कहीं से भी किसी भी प्रकार की भीरुता एवम् दुर्बलता को स्वीकार नहीं करती। वह तो मनुष्य को निरन्तर सबल सशक्त बनाती है, और आत्मतेज से परिपूर्ण करती है। और यह भावना तभी पल्लवित हो सकेगी, जब कि हम सुहृद् भाव से सम्पूर्ण विश्व को देखना प्रारम्भ करेंगे, सर्वत्र आत्मीयता का विस्तार करेंगे। जसा मैं हूँ, वैसे ही विश्व के सब प्राणी हैं, इस भावधारा में—“सत्त्वेषु मैत्री” का सहज उद्घोष होगा, तभी अहिंसा अपने “सन्वभूय खेमंकरी”—“सर्वभूत क्षेमंकरी” के सही अर्थ में प्रकाशमान होगी। यहाँ कहाँ है—अपने या पर के लिए भय की किसी भी रूप में प्रताड़ना।

अहिंसा के संबन्ध में बहुधा यह देखा जाता है कि लोग स्वर्गीय प्रलोभन के कारण इसे स्वीकारते हैं और पशु-पक्षी तथा कीट-पतंगों की रक्षा तक ही अहिंसा की सीमाएँ बाँध लेते हैं; बंधे-बंधाये दो चार प्रत्याख्यानों को ही अहिंसा का मूल-मंत्र समझ लेते हैं। परन्तु तत्त्व-चिन्तन के आलोक में स्पष्ट देखिए कि वस्तुतः यह एक प्रकार का वैचारिक भ्रम है। मन की तात्कालिक वृत्तियाँ अहिंसा के गुणात्मक पक्ष को जब समझने में असमर्थ होने लगती हैं, तो बाह्य व्यवहार का प्रदर्शनात्मक आडम्बर चेतना को स्वर्णित करने लगता है और इसमें प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के दार्शनिक दृष्टिकोण उलझ जाते हैं। प्रवृत्ति और निवृत्ति के मध्य में वृत्ति है। वृत्ति का अर्थ है—चेतना-भाव। यही निर्मल चेतना-भाव मन को तरंगित करता है। अहिंसा इन्हीं उदात्त एवम् कल्याणकारी चेतना-तरंगों के अधार पर जीवन की स्थूल व्यवहार धारा में प्रवहमान विधि-निषेध के रूप में प्रकट होती है, जिसे हम शास्त्रीय भाषा में प्रवृत्ति और निवृत्ति कहते हैं। मानव मन की मूल पवित्र वृत्ति के साथ ही अहिंसा का साक्षात् सम्बन्ध है। यही वृत्ति वास्तविक जीवन है। अहिंसा की बीज भूमि है। क्रान्त-द्रष्टा ऋषि निरन्तर इस बीजभूमि को उर्वर बनाते रहते हैं। जिसके भीतर से अनेकानेक सद्गुण रूपी शाखा-प्रशाखाएँ निकलती हैं और मनुष्य को अनुशासित दृष्टि देती है।

मनोभाव की उक्त मूल स्थिति पर ध्यान न दे कर यदि अहिंसा को कवल बाह्याचार की प्रवृत्ति-निवृत्ति के चक्र में ही उलझाये रखा तो अहिंसा अपना शुद्धरूप न पा सकेगी। प्रवृत्तिमात्र निषिद्ध नहीं है, और न निवृत्ति मात्र उपादेय। कितनी ही बार ऐसा होता है कि बाह्य प्रवृत्ति में हिंसा के होते हुए भी वह हिंसा नहीं होती, और बाह्य निवृत्ति में अहिंसा के होते हुए भी अंतरंग में अहिंसा की ज्योति प्रज्वलित नहीं हो पाती। इसीलिए अहिंसा के पुरातन सूत्रधारों ने कहा है कि हिंसा और अहिंसा के सही निर्णय के लिए व्यक्ति के मनोभावों को देखना चाहिए। बाहर में किसी प्राणी का जीना या मरना, एक अलग बात है, यद्यपि यह भी प्रारंभिक स्थिति में उपेक्षित नहीं है; किन्तु मूलतः इतने में ही हिंसा और अहिंसा की भेदरेखा स्पष्ट नहीं हो जाती। शल्य-चिकित्सक वैद्य या डाक्टर का उदाहरण इस सन्दर्भ में सर्वविदित है। शल्यक्रिया में रोगी के क्षतिग्रस्त अंग को काटा जाता है, छील जाता है। रोगी भी पीड़ा पाता है, फलतः आक्रोश एवम् रुदन भी करता है। यह प्रत्यक्ष में हिंसा है, किन्तु वस्तुतः शल्यचिकित्सक के लिए यह पवित्र अहिंसा एवं करुणा का अमृत निर्झर है। जैन-धर्म के प्रज्ञापना आदि पुरातन शास्त्रों में कृषि आदि प्रवृत्ति-प्रधान कर्मों में अमुक अंश में हिंसा होते हुए भी उन्हें आर्य कर्म अर्थात् पवित्र कर्म की संज्ञा दी है। यह भी प्रबुद्ध उद्योगी के मनोभावों पर ही आधारित है। दूसरी ओर जैन इतिहास के परमयोगी



राजर्षि प्रसन्नचन्द्र जैसे साधक बाहर में निवृत्तिरूप अहिंसा के उच्च शिखर पर पहुँचे हुए भी अन्दर की हिंसा-वृत्ति के फलस्वरूप सप्तम नरक तक की यात्रा पर चल पड़ते हैं और पुनः अहिंसा की धारा के प्रवहमान होते ही अनन्तज्ञान की कैवल्य भूमि पर विराजित हो जाते हैं। स्पष्ट है, यह खेल मूलतः अन्तर्मन का है। अहिंसा सम्बन्धी बाहर के विधि-निषेध, देश, काल तथा व्यक्ति की स्थिति के अनुरूप साध्य हैं। पर, इतना ही सब कुछ नहीं है। अहिंसा का मूल स्रोत अन्ततः अन्तर्जगत् में है, व्यक्ति की भावना में है; इसे नहीं भूलना चाहिए।

चिन्तन के इस भाव-बिन्दु पर इधर-उधर के हिंसा-अहिंसा सम्बन्धी दुराग्रह स्वतः समाप्त हो जाते हैं और अहिंसा कि अन्तःसलिला का माधुर्यमय भाव-प्रवाह समाज की पवित्र संरचना में देश-कालानुरूप अपना महान् योगदान देना प्रारम्भ करता है। जीवन के गहन-गंभीर तल में तब सब-कुछ सहजावस्था के केन्द्र पर पहुँच जाता है और तब अहिंसा जीवन का महान् वरदान बन जाती है। ऐसा वरदान, जिसकी समकक्षता में न धरती पर कोई है, और न आकाश में। सत्य, अस्तेय आदि सभी धर्म इसी एक धर्म में समाहित हो जाते हैं। इसी भावना को लक्ष कर भगवान् महावीर का उपदिष्ट एक धर्मसूत्र आज भी आचारांग सूत्र १।५।५ में उपलब्ध है :

“तुमसि नाम तं चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि;  
तुमसि नाम तं चेव जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि;  
तुमसि नाम तं चेव जं परियावेयव्वं ति मन्नसि।”

—जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है।  
जिसे तू शासित करना चाहता है, वह तू ही है।  
जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह तू ही है।

महाप्रभु महावीर की इसी विराट् विश्वात्म भावना को अपने शब्दों में अवतरित करते हुए द्वितीय श्रुत-केवली चतुर्दशपूर्वविद् आचार्य शंय्यभव ने दशवैकालिक सूत्र में कहा है :

“सव्वभूयप्प भूयस्स, . . . पावकम्मं न बंधई।”

—विश्व की सब आत्माओं को अपनी आत्मा के समान समझनेवाले को पापकर्म का बन्ध नहीं होता।

इस दृष्टि से अहिंसा का यथार्थ भाव है, विश्व की समग्र आत्माओं को अपनी आत्मा के समान समझने वाले को पापकर्म का बन्ध नहीं होता।

इस दृष्टि से अहिंसा का यथार्थ भाव विश्व की समग्र आत्माओं को अपने समान समझना है, फलतः उनके साथ अपने जैसा व्यवहार करना है। हम अपने लिए जिस प्रकार का व्यवहार दूसरों से चाहते हैं एवं जिस स्थिति की अपेक्षा हम दूसरों से करते हैं, वैसा ही व्यवहार हमें समस्त प्राणियों के लिए करना चाहिए। अहिंसा की इस विश्वात्मक स्थिति को जो साधक यथोचित रूप से हृदयंगम कर लेता है, वह संसार में रहते हुए भी, जीवन-यात्रा के लिए विवेक-पूर्वक आवश्यक कर्म करते हुए भी पापकर्म से लिप्त नहीं होता। पाप का मूल द्वैतभाव में है, अद्वैत भाव में नहीं। अहिंसा का चरमोत्कर्ष विश्वात्माओं के अद्वैत भाव में है; अतः वहाँ कहीं पापकर्म-कालुष्य है। अहिंसा की पावन-गंगा में तो बिन्दु-बिन्दु में पावनता का अमृत है।



**अहिंसा अंदर में या बाहर में ?**

**“प्रमत्त योगात् प्राण व्यपरोषणं हिंसा।”**

अप्रमत्त अर्थात् जागे हुए साधक के द्वारा कभी हिंसा हो भी जाए, तो वह केवल द्रव्य-हिंसा है। भाव-हिंसा नहीं।

किन्तु जो प्रमत्त है, अर्थात् मूर्च्छित है, वह बाहर में हिंसा न करता हुआ भी सतत भाव-हिंसा करता रहता है।

अहिंसा के सम्बन्ध में आज तक जितना लिखा गया है और कहा गया है, शायद ही किसी और विषय पर इतना लिखा गया हो या कहा गया हो। पर, इसके साथ ही जितनी भ्रान्तियाँ अहिंसा के संबंध में आज तक हुई हैं, और किसी विषय में नहीं हुई। इस विरोधात्मक स्थिति का एक सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक कारण है। इसी कारण का मैं स्पष्टीकरण कर देना चाहता हूँ।

### अहिंसा की आत्म :

जो सूक्ष्म है, यदि उसे स्थूल बना दिया जाता है, तो उसकी आत्मा समाप्त हो जाती है। यही बात अहिंसा के संबंध में भी हुई है। अहिंसा मात्र वाह्य व्यवहार का स्थूल विधि-निषेध नहीं है, बल्कि अन्तर्-चेतना का एक सूक्ष्म भाग है। किन्तु दुर्भाग्य से कुछ ऐसी स्थिति बनती गई कि अहिंसा का सूक्ष्मभाव निरन्तर क्षीण होता गया और उसको स्थूल व्यवहार का, ओघ-बुद्धि से मात्र दिखाऊ विधि-निषेधों का रूप दे दिया गया। फलतः अहिंसा की ऊर्जा और आत्मा एक प्रकार से समाप्त ही हो गई। जब किसी सिद्धान्तकी ऊर्जा एवं आत्मा समाप्त हो जाती है, तो वह निष्प्राण तत्त्व जीवन को तेजस्वी नहीं बना सकता। वह जीवन की समस्याओं का सही समाधान नहीं खोज सकता। वह स्वयं ही एक दिन एक समस्या बन जाता है। क्या स्थूल व्यवहार से संबंधित अहिंसा के संबंध में भी ऐसा नहीं हुआ है? पिछली कितनी ही सहस्राब्दियों से हमने अहिंसा की महान् धर्म के रूप में उद्घोषणा की है। अहिंसा को जीवन का परम सत्य मान कर उसकी उपासना की है। सामाजिक, आध्यात्मिक और राज-नैतिक जीवन की सुरक्षा का आधार अहिंसा को माना है, विश्वव्यापी सिद्धान्त के रूप में हजारों वर्षों से अहिंसा को मान्यता दी है। हजारों वर्षों से पीढ़ी-दर-पीढ़ी इसकी चर्चा एवं परिचर्चा होती रही है। परन्तु प्रश्न है, कहाँ है इन सबकी फल-निष्पत्ति? हम अब तक अहिंसक समाज की रचना क्यों नहीं कर पाए? इस प्रश्न के दो ही उत्तर हो सकते हैं—जिस अहिंसा तत्त्व की हम बात करते हैं, वह केवल बौद्धिक व्यायाम बन कर रह गया है। ऐसा लगता है, जैसे वह काल्पनिक दुनिया का कोई अलौकिक तत्त्व है, जिसका धरती की दुनिया के साथ कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है। गलत समस्या के आसपास हजारों मस्तिष्क व्यर्थ ही उलझते रहे हैं और आज भी उलझ रहे हैं। अथवा इसका दूसरा ही विकल्प है। वह यह कि अहिंसा स्वयं तो एक जलवत जागृत तत्त्व है, जन-कल्याणकारी है, पर उसको सही अर्थ में हमने जाना नहीं है। ऐसा होता है कि कभी-कभी बड़ी लम्बी काल-यात्रा के बाद अच्छे-से-अच्छे सिद्धान्त भी धूमिल हो जाते हैं या धूमिल कर दिये जाते हैं। मैं इस प्रश्न का दूसरा उत्तर सोचता हूँ।

### अहिंसा का सम्बन्ध हृदय के साथ :

वस्तुतः अहिंसा का सम्बन्ध मनुष्य के हृदय के साथ है, मस्तिष्क के साथ नहीं है; तर्क-वितर्क के साथ नहीं है, कुछ बंधे-बंधाए विवेकशून्य विश्वासों के साथ नहीं है; विभिन्न शब्दों के जाल में बंधी और उलझी हुई भाषा के साथ भी नहीं है, बल्कि अन्तर्जीवन के साथ है, अन्दर गहरी आध्यात्मिक अनुभूति के साथ है। अहिंसा की भूमि जीवन है। जब भूमि से वृक्ष का सम्बन्ध टूट जाता है, तो वह फिर हरा-भरा एवं विकसित नहीं रह सकता है। प्रवक्ता को अपनी बात साफ कहनी चाहिए, अतः साफ और बेलाग कह रहा हूँ कि अहिंसा भी जीवन से टूट चुकी है। मूल से असंपृक्त रख कर उसे किस प्रकार पल्लवित रखा जा सकता है? यही कारण है कि अहिंसा आज केवल स्थूल व्यवहार की क्षुद्र परिधि में सीमित हो गई है। जन-जीवन में उसका रस संचार क्षीण एवं क्षीणतर हो गया है। और इस प्रकार अहिंसा के प्राणों की एक तरह से हत्या ही हो गई है।

अगर अहिंसा की प्राण-प्रतिष्ठा करनी है, तो आवश्यकता है, अहिंसा को हम स्थूल व्यवहार की संकीर्ण परिधि से मुक्त कर व्यापक बनाएँ, जीवन की सूक्ष्म अनुभूति एवं हृदय की गहराई तक उसे अवतरित करें।

### वृत्ति में अहिंसा ही अहिंसा का स्थायी रूप :

निवृत्ति और प्रवृत्ति के मध्य में वृत्ति है। वृत्ति का अर्थ है—चेतना का भाव। यही भाव मन को तरंगित करता है। अहिंसा इन्हीं उदात्त एवं कल्याणकारी तरंगों के आधार पर जीवन के स्थूल व्यवहारों व विधि-निषेधों के रूप में प्रगट होती है। इसे ही हम प्रवृत्ति और निवृत्ति कहते हैं।

धरती के समग्र आध्यात्मिक दर्शन व्यवहार के स्थूल विधि-निषेध के साथ अहिंसा का सम्बन्ध स्थापित

अहिंसा अंदर में या बाहर में?

नहीं करते हैं, मानव-मन की मूल पवित्र वृत्ति के साथ ही अहिंसा को सम्बन्धित करते हैं। यही वृत्ति जीवन है। यही अहिंसा का बीज है।

यही सब-कुछ है। अगर यह नहीं है, तो कुछ भी नहीं है। अहिंसा के क्रान्तद्रष्टा ऋषि उक्त बीज की जितनी चिन्ता करते हैं, उतनी इधर-उधर के विधि-निषेधरूप फल-फूल और टहनियों की नहीं। बाह्य व्यवहार के आधार पर लिए गये अहिंसा के विधि-निषेध देश, समाज तथा व्यक्ति की स्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं, पर मूल बीज नहीं बदलता है। किन्तु मध्यकाल के सामाजिक व्यवस्थापक चाहे वे धार्मिक रहे हों या राज-नैतिक, अहिंसा को उसकी मौलिक सूक्ष्मता से पकड़ नहीं सके हैं। निवृत्ति और प्रवृत्ति के स्थूल परिवेश में ही अहिंसा को मानने और मनवाने के आसान तरीके अपनाते रहे और यथाप्रसंग तत्कालिक समाधान निकालते रहे। किन्तु, हिंसा की समस्या ऐसी न थी, जो प्रचलित परम्परा के स्थूल चिन्तन से एवं विधि-निषेध के भाव-हीन विधानों से समाधान पा जाती। वह नये-नये रूपों में प्रकट होती रही और मानव-जीवन के सभी पक्षों को दूषित करती रही। यही कारण है कि हजारों वर्षों से समस्या समस्या ही बनी रही। कोई भी समाधान उभरते प्रश्नों को मिटा नहीं सका। यदि हम इधर-उधर के विकल्पों में न उलझ कर अहिंसा की मूल भावना को समझने का प्रयत्न करें, तो आज भी अहिंसा के मूल केन्द्र स्वरूप आन्तरिक वृत्ति पर अहिंसक समाज की रचना हो सकती है। मैं यह स्पष्ट रूप से कह देना चाहता हूँ कि अहिंसा के आधार पर परस्पर सहयोगी समाज की रचना के लिए निवृत्ति और प्रवृत्ति के प्रचलित व्यामोह के ऐकान्तिक आग्रह को हमें छोड़ देना होगा, तभी हम मानव की आन्तरिक वृत्ति से सम्बन्धित अहिंसा के वास्तविक रूप को समझ सकेंगे। भय एवं प्रलोभन पर आधारित अहिंसा स्थायी नहीं है।

अहिंसा का मर्म समझाते हुए मैंने कुछ लोगों को सुना है—“किसी को कष्ट मत दो, किसी के प्राणों का वध न करो, किसी को रुलाओ मत। अगर तुम दूसरों को कष्ट दोगे, तो तुम्हें भी कष्ट भोगने होंगे, अगर किसी को मारोगे, तो तुम्हें भी मरना पड़ेगा। अगर किसी को रुलाओगे, तो तुम्हें भी रोना होगा।” अपने दुःखों की संभावना उन्हें पीड़ित कर देती है, और इसी चिन्तन-धारा में दूसरों को परिताप पहुँचाने से अपने आपको बचाने की कोशिश करते हैं। इस उपदेश ने मनुष्य के मन में एक भय की भावना पैदा की, जो स्वयं अपने में एक हिंसा है। उक्त स्थिति में प्रवृत्ति और निवृत्ति के स्थूल स्तर पर अहिंसा प्रकाशमान होती दिखाई देती है और हम इतने भर से सन्तोष कर लेते हैं। परन्तु अन्य किसी प्रसंग विशेष पर जब यह समझाया जाता है कि ‘अपने दुश्मनों को समाप्त करो, स्वर्ग मिलेगा। यज्ञ में पशुओं को देवताओं के लिए समर्पित कर दो, वे प्रसन्न हो कर तुम्हें सुख-समृद्धि देंगे। संघर्षरत प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त कर दो, तुम्हें सम्मान मिलेगा, सम्पत्ति मिलेगी, पद मिलेगा।’ इतिहास का हर विद्यार्थी जानता है कि इन प्रलोभनों ने मनुष्य से कितने क्रूर और भयानक कार्य करवाए हैं। प्रश्न है कि यह सब किस कारण हो सका है? स्पष्ट है कि भय के माध्यम से हिंसा का त्याग कराया गया था। ज्यों ही भय के स्थान पर प्रलोभन आ खड़ा हुआ कि मानव गड़बड़ा गया। प्रलोभन ने हिंसा को फिर से उत्तेजित कर दिया। प्रलोभन हिंसा को इसी कारण उत्तेजित कर सका कि हमने अन्तर्मन में वृत्ति की हिंसा को छोड़ने के लिए उचित ध्यान नहीं दिया। अगर वृत्ति की अहिंसा जाग जाती है, तो दुनिया का कोई भी भय या प्रलोभन हिंसा को जन्म नहीं दे सकता। जो अहिंसा केवल स्थूल प्रवृत्ति-निवृत्ति में है, विधि-निषेध में है, उसे साधारण-सा विरोधी वातावरण भी समाप्त कर देता है। जन-जीवन में उसका मूल स्थायी नहीं होता।

### वृत्ति में अहिंसा का अर्थ :

वृत्ति की अहिंसा का अर्थ है—जीवन की गहराई में अहिंसा की भाव-धारा का सतत प्रवाहित होना। जो अन्दर की वृत्ति से अहिंसक है, वह किसी को मार नहीं सकता, किसी को कष्ट नहीं दे सकता, किसी के प्राणों का वध नहीं कर सकता। अर्थात् वृत्ति के अहिंसक होने में हिंसा की योग्यता ही निर्मूल हो जाती है। यह अहिंसा मरणोत्तर स्वर्ग के लिए, सामाजिक एवं पारिवारिक सुख-सुविधा के लिए या प्रतिष्ठा के लिए नहीं होती। वृत्ति के अहिंसक की स्वयं ही यह सहज अवस्था हो जाती है कि वह हिंसा कर ही नहीं सकता, चाहे उसके लिए प्राप्त प्रतिष्ठा ही क्यों न खोनी पड़े, जीवन को दाँव पर ही क्यों न लगा देना पड़े। उसके लिए अहिंसा स्वाभाविक हो जाती है। मुझे शत्रु से भी प्रेम करना चाहिए, यह उसका सिद्धान्त नहीं होता, अपितु दुनिया में उसका कोई दुश्मन ही नहीं होता। वह यह नहीं कहता कि अहिंसा की शिक्षा से हमें सब के प्रति द्वेष नहीं, प्रेम करना चाहिए,

अपितु प्रेम के अतिरिक्त उसके पास करने को और कुछ है ही नहीं। यह है वृत्ति में अहिंसा, जो अहिंसा का शाश्वत और सर्वव्यापी रूप है।

### अहिंसा की निष्ठा और भावना में अन्तर

वृत्ति में अहिंसा होगी, तो अहिंसा की निष्ठा होगी। वही उसका सर्वग्राही रूप है। अहिंसा, करुणा और सत्य की धाराएँ तो हमारे जीवन में बहती रहती हैं, भावनाएँ उमड़ती चली जाती हैं; पर जब तक अहिंसा और करुणा की निष्ठा जागृत नहीं होती, तब तक दर्शन नहीं बन पाता।

एक माता के हृदय में पुत्र के प्रति जो करुणा और प्रेम का प्रवाह उमड़ता है, उसमें अहिंसा की धारा छिपी भले ही हो, परन्तु उसे हम अहिंसा की निष्ठा नहीं कह सकते। उसकी करुणा के साथ मोह का अंश जुड़ा हुआ है, व्यक्तिवाद जुड़ा है। इसलिए अनन्त-काल से करुणा का, प्रेम का प्रवाह उसके हृदय में उमड़ते हुए भी उससे आत्मा का विकास नहीं हो सका, उत्थान नहीं हो सका।

बिल्ली जब अपने बच्चों को दाँतों से पकड़ कर ले जाती है, तो एक दाँत भी उनके शरीर पर गड़ने नहीं पाता। क्या बात है कि जब वे ही दाँत चूहे पर लगते हैं, तो रक्त की धारा बह चलती है, वह चीं-चीं कर उठता है। इसमें क्या अन्तर आया? भावना का ही तो अन्तर है! भावना में एक जगह प्रेम और ममता है, दूसरी जगह क्रूरता है। खूंखार शेरनी भी अपने बच्चों को प्यार से दुलारती-पुचकारती है, उन्हें दूध पिलाती है। किन्तु यह प्रेम की भावना दया और अहिंसा के रूप में वहाँ विकसित नहीं हुई है। इसलिए बिल्ली और शेरनी की ममता को अहिंसा का विकास नहीं कहा जा सकता, चूँकि वहाँ अहिंसा की दृष्टि नहीं है। जहाँ अहिंसा निष्ठा और श्रद्धा के रूप में नहीं है, वहाँ वह बंधन से मुक्त करने वाली नहीं बन सकती। अहिंसा का आदर्श वहाँ जागृत नहीं हो सकता। अहिंसा की भावना और संस्कार होना एक बात है, और उसमें निष्ठा होना और बात है।

अतः अहिंसा के बाह्य-पक्ष पर ही मत उलझो। उसके हृदय-पक्ष की ओर देखो। अपने मस्तिष्क से उत्पन्न तर्क को हृदय की सहज-सरल सौहार्दपूर्ण भावनाओं के रस से सिंचित करो। फिर, जो अहिंसा का रूप निखरेगा, वही यथार्थ और चिरस्थायी ही होगा।





**कौन आँसू मोती है ?**

कोई रोती आँख मिले ना,  
मिले न मुख की करुण पुकार ।  
हंसता-खिलता हर जीवन हो,  
विश्व बने यह सुख आगार ॥

आँखों के खारे पानी से,  
किसका जग में काम चला ?  
वज्र-हृदय मानव ही देते—  
हैं संकट की शान गला ॥

• •

मानव जब कभी अपने ऊपर कोई दुःख, संकट, रोग, अपमान या अन्य अभाव आदि का प्रहार होते देखता है, तो झटपट रोने बैठ जाता है, हजार-हजार आँसू बहाने लग जाता है। कभी-कभी तो इतना हाहाकार करता है, चिल्लाने लगता है कि आसपास के खुशनुमा वातावरण को भी गमगीन बना देता है।

किन्तु, वह यह नहीं समझता है कि इन आँसुओं का आखिर मूल्य क्या है? इस प्रकार के रोने-धोने से समस्या का क्या समाधान है, जीवन-निर्माण के लिए क्या विशिष्ट उपलब्धि है? यह मानसिक दुर्बलता, यह हीन-भावना इस बात की सूचक है कि व्यक्ति ने अंधकार को भेदकर प्रकाशमान होने वाली उज्ज्वल भविष्य की स्वर्ण-किरण का विश्वास गंवा दिया है। वह एक भयंकर निराशा के भंवर में उलझ गया है, जिसमें से सकुशल पार हो जाने का आत्म-विश्वास पूरी तरह खो बैठा है। अब यह व्यक्ति वह व्यक्ति है, जो तन से जिन्दा रह कर भी मन से मर चुका है। यह वह सड़ती हुई जिन्दा लाश है, जो मुर्दा लाश से भी अधिक भयंकर है।

यह अर्थहीन एदन और बकवास उत्थान नहीं, पतन का ही हेतु है। वह दुःख का प्रतीकार करने के लिए आँसू बहाता है, पर वह यह नहीं जानता कि इस तरह से तो दुःख को और अधिक गहरा बनाता है। दुःख के आँसू दुःख को ही जन्म देते हैं? जो जैसा है, उससे वैसी ही तो संतति होगी। यह एक अटल प्राकृतिक नियम है। जो से जो और चना से चना ही पैदा होता है। इस उत्पत्तिक्रम में कभी विपर्यय होता है क्या? भगवान् महावीर का तत्त्व-दर्शन है कि दुःख, शोक, ताप, क्रन्दन तथा विलाप आदि असातावेदन अर्थात् दुःख के ही कारण होते हैं। ज्येष्ठ मास की तपती दोपहरिया में बाहर खुले आकाश में आग उगलते सूरज के नीचे बैठकर कोई विचार-मूढ़ शीतलता का आनंद लेना चाहे, तो यह कैसे हो सकता है? शीतलता के लिए छाया में बैठना चाहिए या धूप में?

जिस व्यक्ति की चिन्तन-शक्ति दुर्बल है, या विपरीताभिव्येश से ग्रस्त है, वह दुःखजन्य शोक की स्थिति में आस-पास के समाज या व्यक्ति को अपने प्राप्त दुःख का हेतु मानकर उसके प्रति घृणा, द्वेष एवं वैर की भावना को हवा देता है। आक्रोश करता है, बुरे-से-बुरे अनिष्ट का विकल्प करता है। यहाँ तक देखा गया है कि प्रकृति-जन्य दुःख के होने पर जड़ प्रकृति के प्रति भी रोष करता है। ठोकर लगने पर पथ में पड़े पत्थर को भी गालियाँ देने लगता है। वर्षा होने पर बादलों को दोषी ठहराता है और तेज धूप पड़ने पर सूर्य को। अपनी स्वयं की गलती को न स्वीकार कर इस प्रकार दोषारोपण या नफरत करने से क्या लाभ है, कभी सोचा है रोने वालों ने? देखा गया है, रोते जाते हैं और इधर-उधर दोषारोपण की गन्दगी बिखेरते जाते हैं। और, यह गन्दगी कैसे शुभ को जन्म दे सकती है, जिससे कि दुःख दूर हो, सुख प्राप्त हो। अशुभ का पुत्र अशुभ ही होता है।

दूसरे के दुःख पर हंसनेवाला व्यक्ति मानव नहीं, मानव-तनधारी क्रूर पिशाच होता है। हृदयहीन अकर्मण्य व्यक्ति को भारतीय-संस्कृति में राक्षस माना गया है। इसीलिए पुराणों के ब्रह्मा ने राक्षसों को 'दया करो' का उपदेश दिया था—'दयध्वम्।'

दुःख आने पर जो व्यक्ति दिग्भ्रष्ट होकर रोने लग जाता है, अपने को असहाय, अनाथ समझते हुए कर्तव्य-शून्य होकर बैठ जाता है, वह पशुकोटि का मानव है। पशु की लाचारी तो फिर भी समझ में आ जाती है। उसका मन-मस्तिष्क इतना विकसित नहीं कि वह दीर्घकालीन योजना के रूप में कुछ सोच-समझ सके। परन्तु, प्राणि-जगत का सर्वोत्तम विकसित मानव जब लाचार होकर रोने लगता है तो विचार होता है, यह क्या? मानव की आँखों में अपने दुःख के लिए आँसू। यह तो पवित्र मानवता का घोर अधःपतन है। व्यक्तिगत दुःख के आँसुओं से बढ़कर और क्या अपवित्र होगा, और क्या पाप होगा! यह आत्म अवज्ञा एक प्रकार की वैचारिक एवं आन्तरिक आत्म-हत्या है।

आँसू ही बहाने हैं, तो अपनी आँखों में छिपे हुए कर्मणा के पवित्र आँसू बहाइए, जिससे व्यक्ति का स्वयं अपना भी कल्याण हो, और आसपास के समाज का भी। अनुकम्पा एवं कर्मणा के आँसू इतने पवित्र हैं कि मन पर लगे पाप के गन्दे दागों को धोकर साफ कर देते हैं, अशुभ की दुर्गन्ध दूर कर शुभ की सुगन्ध से मन का कण-कण महका देते हैं। सही अर्थ में मानव वही है, जो अपने दुःखों में तो गिरिराज सुमेरु के समान झटल अचल रहते हैं, क्या मजाल एक भी आँसू आँख से बह जाए। दुःख के कड़वे से कड़वे विष को पीकर भी हंसते रहते हैं,

कौन आँसू मोती है?

६५

मुस्कराते रहते हैं, मानो अमृतरस का पान कर रहे हों। परन्तु ऐसे, महामानव जब कभी किसी और को दुःख से संतप्त देखते हैं, तो उनका हृदय का कण-कण द्रवित हो जाता है, बर्फ की तरह पिघल जाता है और तब सहज ही उनकी आँखों में से करुणा एवं सहानुभूति के पवित्र आँसू छलक जाते हैं। अनुकम्पा के आँसुओं का यह क्षण पवित्र क्षण है, मानव चेतना को शुभ की पावनगंगा में डुबकी लगाने का मंगलमय क्षण है, जन्म-जन्म के कलष को धो डालने का महान्क्षण है। मानव की मानवता इन्हीं आँसुओं से सिंचित होकर जीवन पाती है। यदि मानव भी पर दुःख कातर न हुआ, दूसरों को पीड़ित देखकर भी जिसका मन न पिघला तो उस मानव में और पशु में क्या अन्तर रह जाता है, मानव और दानव में कौन-सी विभेद-रेखा बच पाती है? परस्पररोपग्रह ही, अन्योज्य भावित्व ही मानवता का लक्षण है। उक्त मानवता पर ही परिवार, समाज और राष्ट्र आदि को उत्तरोत्तर समष्टि रूप भावना का विकास हुआ है। मानव, मानव है। वह जंगल में अकेला भटकनेवाला पागल पशु नहीं है।

महायान की बौद्ध परंपरा में तो उक्त अनुकम्पा भावना का इतना अधिक विकास हुआ है कि बोधिसत्त्व निर्वाण भी नहीं लेना चाहता, मोक्ष की भी कोई इच्छा नहीं रखता। वह तो कहता है--“**मोक्षेणारसिकेन किम्?**” अर्थात् निष्क्रिय अरसिक मोक्ष पाकर मुझे क्या करना है? मैं तो विश्व में बार-बार जन्म लेता रहूँ, पीड़ित प्राणि जगत् का कल्याण करता रहूँ, इसी में मुझे आनन्द है। संसार के जितने भी दुःखी प्राणी हैं, उन सबका दुःख मैं भोग लूँ और मेरा सुख वे भोग लें, यह है उदात्त-चेतना बोधिसत्त्व की।

भारत का राजा रन्तिदेव राजा है, ऋषि-मुनि नहीं है, फिर भी वह कितना करुणाद्र है, कि इक्कीस दिनों की लम्बी भूख के बाद उसे भोजन उपलब्ध होता है, और वह उसी समय द्वार पर आए भूखे चाण्डाल को सहर्ष अर्पण कर देता है। और इसी अनुकम्पा की लहर में वह कहता है, मुझे राज्य नहीं चाहिए, स्वर्ग नहीं चाहिए और मोक्ष भी नहीं चाहिए। मैं तो एकमात्र यही कामना करता हूँ कि, दुःख से तप्त प्राणियों की पीड़ा दूर हो। मूल श्लोक है--

“**नत्वहं कामये राज्यं,  
न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम् ।  
कामये दुःखतप्तानां,  
प्राणिनामाति - नाशनम् ॥**”

भगवान् महावीर के दर्शन में धर्म का मूल है सम्यक्त्व। सम्यक्त्व है आत्म-दृष्टि। आत्म-दृष्टि का अर्थ केवल अपने शरीर में ही आत्मा की अनुभूति नहीं है। वह है विश्व के प्राणिमात्र में स्वतंत्र अस्तित्वरूप आत्मा की अनुभूति। और, विश्व की समग्र आत्माएँ एक स्वरूप हैं, एक समान सुख-दुःख की अनुभूतिवाले हैं, यह आत्मौ-पम्य दृष्टि ही अहिंसा और करुणा का रूप है। अतः महावीर अनुकम्पा, पर-दुःख प्रहाणेच्छा को सम्यक्त्व का व्यावहारिक लक्षण बताते हैं। इस पर से स्पष्ट है कि पर-दुःख की अनुभूति से द्रवित होनेवाला मन किस उच्चतर भूमिका का मन है।

राज्य वैभव त्याग कर महावीर प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं, एक वस्त्र लेकर साधना के पथ पर चल पड़ते हैं। उसी दिन एक दरिद्र ब्राह्मण आ जाता है, याचना करता है। महावीर उसकी दयनीय स्थिति से इतने अधिक करुणा-द्रवित होते हैं कि तत्काल वस्त्र का अर्धभाग उसे दे देते हैं। जबकि भिक्षु को गृहस्थ के लिए ऐसा करना नहीं चाहिए। यहाँ महावीर की करुणा शास्त्रीय विधि-निषेधों से भी ऊपर हो जाती है। वह करुणा ही क्या, जो सामाजिक परिवेश को लक्ष्य में रखकर निरूपित किए गए शास्त्रीय शब्दों की घेरावन्दी में पड़कर निष्क्रिय हो जाए। भगवान् महावीर के उक्त महादान के प्रसंग पर ‘महावीर चरिय’ के लेखक महान् पुरातन जैनाचार्य गुणचन्द्र के अक्षर लेख द्रष्टव्य हैं, जिन पर से स्पष्ट होता है कि सहज असीम करुणा से पूर्ण चित्त होकर भगवान् ने यह दान, भिक्षु को नहीं करने जैसा था, वह भी किया-

“**समुच्छलियापरिकलित कारुण्यपुष्पाचित्तेण . . . . . जइ  
वि असारिच्छमेयं तथा वि . . . . . ।**”

ऐसा ही एक और प्रसंग है, गणधर गौतम के जीवन का। पंद्रह सौ तीन तापस भूख से पीड़ित हैं, जो उन्हें कैलाश पर मिलते हैं। बोध पाकर गौतम के साथ चल पड़ते हैं। किन्तु, भूख से इतने अधिक जर्जर एवं क्षीणकाय हैं, चलें तो चलें कैसे? गौतमस्वामी ने एक चुल्लू भर क्षीर-पायस से लब्धि का प्रयोग कर सभी तापसों को आकण्ठ तृप्त कर दिया। लब्धि का इस प्रकार प्रयोग भिक्षु के लिए निषिद्ध है। आज भी इसके लिए आगम की साक्षी उपलब्ध है। परन्तु गौतम की करुणा ने उक्त निषेध की सीमा को लांघकर लब्धि का प्रयोग कर तापसों को पारणा करा ही दिया। लब्धि अर्थात् चमत्कारी योग-शक्ति। गौतम ने अपने किसी स्वार्थ विशेष की पूर्ति या यश-कीर्ति आदि के लिए कभी भी लब्धि का प्रयोग नहीं किया। परन्तु, यह करुणा का क्षेत्र था, क्षुधा-पीड़ितों का प्रश्न था। अतः गौतम के उदात्त मन ने इस प्रसंग पर कुछ क्षणों के लिए भी इधर-उधर ननु-नच नहीं किया। करुणा के लिए निषेध के सब द्वार विधि के रूप में खुल जाते हैं।

अपने दुःखों के लिए तो प्राणी, जहाँ भी रहा है, रोता ही रहा है। नरक, पशु, पक्षी, जलचर, स्थलचर, मानव तथा देव सर्वत्र दुःख के क्षणों में क्रन्दन का प्रवाह अनन्तकाल से बहता आया है। और, योनियों को तो जाने दीजिए, मानव जन्मों के ही दुःख में बहे आँसुओं को यदि एकत्र किया जाए, तो अध्रुजल से लाखों-लाख सागर भर जाएँ, फिर भी सब आँसू न समा सकें। परन्तु, उन आँसुओं ने पाप को ही जन्म दिया, और पाप ने दुःखों को। दुःख से आँसू और आँसू से पुनः दुःख, यह एक ऐसी शृंखला बन जाती है कि जब तक विवेक की ज्योति प्राप्त न हो, तब तक यह कभी टूट न सकेगी। अतः अपने वैयक्तिक दुःख के प्रसंगों पर विवेक एवं धैर्य अपेक्षित है।

पवित्र आँसू करुणा के होते हैं। ये वे आँसू हैं, जो पुण्य के हेतु हैं, अतः स्वयं अश्रुमुख व्यक्ति को भी सुख देते हैं, और जिस दुःखी के निमित्त से आँसू बहे हैं, उसे भी यथोचित सहयोग एवं आश्वासन के रूप में सुख अर्पण करते हैं। ये देहली पर के दीप हैं, जो अन्दर और बाहर दोनों ओर प्रकाश करते हैं।

तप का बहुत बड़ा महत्त्व है। जप का भी अपना एक महत्त्व है। प्रभु पूजा और प्रभु स्मरण की गरिमा भी कम नहीं है। परन्तु, मानवता को प्राणवान् बनानेवाली करुणा, मैत्री, सद्भावना एवं आत्मौपम्य दृष्टि की अपनी एक अलग ही विलक्षण महत्ता है। 'दया के बिना सिद्ध भी कसाई है' यह लोकोक्ति बहुत ही अर्थगंभीर है। तप, जप आदि प्रायः व्यक्तिगत दुःख-मुक्ति एवं सुख-प्राप्ति की स्वार्थ-दिशा में प्रधावित हैं। स्पष्ट ही उसमें स्वार्थ की गन्ध है। जब कि करुणा और करुणा से समुद्भूत सेवा परार्थ की दिशा में गतिशील है। यहाँ चेतना, सद्भावना का विराट रूप लेती है, आत्मीयता का विस्तार करती है।

इसी संदर्भ में एक लोककथा है। एक आश्रम के सुदीर्घ उपवासी घोर तपस्वी और जन-सेवक किसी आकस्मिक दुर्घटना में मर कर स्वर्ग में गए। स्वर्ग में नवागन्तुकों का स्वागत समारोह हुआ। तपस्वियों को स्वर्ग-मुकुट पहनाये गए, जब कि जन-सेवक को मणि, मुक्ता और रत्नों से अलंकृत स्वर्णमुकुट अर्पण किया गया। तपस्वियों ने विरोध किया, यह भेद-भाव कैसा? इसकी अपेक्षा तो हम महान् हैं। उत्तर मिला, "जन-सेवा ही महान् है। ये मणि-मुक्ता और कुछ नहीं है, जन-सेवा में करुणा से बहे हुए आँसू ही हैं। करुणा का हर अश्रुकण मणि-मुक्ता बनता है।"



**अहंकार : हिंसा है**

जीवन की उत्तप्त धरा को,  
स्नेह-सुधा से प्लावित कर दो।  
व्यक्ति, जाति के अहंभाव को,  
धिवकृत और तिरस्कृत कर दो ॥



बन्धन कर्म में नहीं है, कर्म का कर्ता होने के अहम् में है। मानव को गिराने वाला और कोई नहीं है, उसका अपना निज का ही 'अहम्' है, 'मैं' है, जो उसे गिरा देता है।

अहम् किसी भी रूप में हो, वह अन्ततः कलुष ही है। उससे निर्मलता नहीं मिल पाती।

### जाति और कुल का मद :

कुछ लोग श्रेष्ठ जाति और कुल के अहम् में लिप्त हैं। उन्हें अपनी जाति और कुल से श्रेष्ठ दूसरा कोई नजर ही नहीं आता। वे दूसरों को हीन दृष्टि से देखते हैं, और जब देखो तब, अपनी जाति और कुल की श्रेष्ठता एवं पवित्रता के ही राग अलापते रहते हैं। हजारों वर्ष हो गये, न वे जिनवर महावीर को समझ पाये हैं, और न तथागत बुद्ध को ही। जिन्होंने कहा था—जन्म की कोई श्रेष्ठता नहीं है, श्रेष्ठता है सत्कर्म की। जन्म शरीर का है, और शरीर सबका मांस, मज्जा, अस्थि, रक्त, मलमूत्र का पिण्ड है। यह तो अशुचि का सबसे बड़ा केन्द्र है। यह खुद भी अशुचि है, अपने सम्पर्क में वस्त्र, मकान, भोजन आदि हर उपयोगी वस्तु को भी अशुचि बना देता है। सुन्दर से सुन्दर बहुमूल्य स्वादिष्ट मिष्ठान्न होठों से छूते ही अपवित्र हो जाता है।

### बल का मद :

कुछ लोग बल का अभिमान करते हैं। अपनी ताकत का नशा इतना तीव्र होता है कि कलियुग के भीमसेन बने फिरते हैं, राह चलते हर किसी से लड़ाई मोल ले लेते हैं। श्रेष्ठता बल में नहीं है। श्रेष्ठता है बल का जनहित में सदुपयोग करने में। किसी को बहती नदी में डुबोने के लिए फेंक देने में क्या गौरव है? गौरव है तुफानी नदी में किसी डूबते हुए को बचा लेने में। अपने बल की मार से किसी को रुलाया तो क्या? मजा तब है, जब किसी रोते को हंसा सकें आप।

### परिवार का मद :

बड़े परिवार का भी एक गर्व होता है, और इस पर लोग कहते हैं; जानते हो, मैं अकेला नहीं हूँ। मेरे पीछे मेरा कितना बड़ा परिवार है। तुमने जरा भी चू-चपड़ की, तो तुम्हें एक-एक को मार कर भूसा बना दिया जायेगा। फिर कोई रोने वाला भी नहीं मिलेगा कहीं तुम्हें। इन अज्ञानी आत्माओं को पता नहीं, यह अपना परिवार कब तक अपना है। जब तक पुण्य का उदय है, तभी तक अपना है। पुण्य क्षीण होने पर तो आत्मजात पुत्र और सहोदर बन्धु भी प्राणघातक शत्रु हो जाते हैं। इतिहास साक्षी है इस सत्य का।

बड़े परिवार का क्या महत्व है? एक मछली एक साथ सैकड़ों बच्चों को जन्म देती है। कहते हैं, साँपन को एक साथ सैकड़ों अंडे होते हैं। कूकर और सूकर जैसे निम्नस्तरीय पशुओं के कितनी अधिक सन्तान होती है हर वर्ष। एक कीटाणु चन्द ही मिनटों में लाखों-करोड़ों कीटाणुओं का पिता हो जाता है। बन्दरों, हिरनों और अन्य अनेक जंगली जानवरों के झुंड के झुंड फिरते हैं। क्या हो जाता है इससे? रावण का कितना बड़ा परिवार था? पर, क्या परिणाम आया इस बड़े परिवार का? यादव जाति का कितना बड़ा विस्तार! फिर कितना भीषण संहार! आपस में ही अनेक दुर्व्यसनों के कारण लड़-झगड़ कर समाप्त हो गये। एक भी अच्छी सदाचारी सन्तान हो, तो ठीक है। चन्द्रमा एक ही गगन में आता है, तो सारे भूमण्डल को प्रकाशित कर देता है, 'न च ताराः सहस्रशः।' महावीर कहते हैं: "निर्मल चरित्र के आलोक में अकेला विचरण करना ही अच्छा है, दुराचारी, दुर्व्यसनी लोगों की भीड़ के साथ से तो।"

### रूप का मद :

रूप का अहम् भी व्यक्ति को बहुत परेशान करता है। चमड़े का रंग जरा साफ हुआ कि आदमी आसमान में उड़ने लगता है। रूप का अभिमानी व्यक्ति धूप से बचकर चलता है, धूल से दूर भागता है। गर्मी, सर्दी, वर्षा सबसे परेशान रहता है। ऐसे लोग समय पर किसी भी सेवा या सत्कर्म में अपने को झोंक नहीं सकते। उन्हें हर क्षण अपने उजले रंग के काला पड़ जाने की चिन्ता रहती है। कितना अज्ञान है, इन रूप के अन्धों का? यह नहीं देख पाते कि इस उजली चादर के नीचे कितनी भयंकर गन्दगी छिपी पड़ी है, तन में कहीं भी एक फुन्सी उभर आती है, पस पड़ जाती है, तो उस पर मक्खियाँ भिनभिनाने लगती हैं। साफ स्वच्छ रहना अच्छा है। पर,

अहंकार : हिंसा है

इसका यह अर्थ तो नहीं कि घंटों ही दर्पण के सामने खड़े होकर अपने को कामदेव के रूप में ढालने का हास्यास्पद प्रयत्न किया जाये। जिन्हें जनसेवा के क्षेत्र में काम करना है, उन्हें तन की सुन्दरता के इस मोह से अमुक अंश में मुक्त होना ही होगा।

### सेवा का मद :

सेवा का अहम् भी व्यक्ति को कहीं का नहीं रख छोड़ता। मैंने ऐसे अनेक व्यक्तियों को देखा है, जो कभी किसी को थोड़ा-बहुत सहयोग दे देते हैं, तो हर जगह उसका खुद ही ढोल बजाते फिरते हैं। यह अच्छे काम की नहीं, अच्छे नाम की भूख है। इस भूख की पूर्ति होना बड़ी मुश्किल बात है। पता नहीं, क्या हो गया है आज की दुनिया को! 'नेकी कर कूबे में डाल' का पुराना सिद्धान्त तो वस्तुतः किसी अन्ध कूप में ही डाल दिया गया है।

सेवा क्या करते हैं, सेवा के नाम पर दूसरों का अपमान करते हैं। कितनी ही बार आपने कुछ लोगों को यह कहते हुए सुना होगा, "अरे भाई साहब, क्या बताऊँ? मैं ही था, जो उसे बर्बाद होने से बचा सका। मैं न होता तो सचमुच ही उसका बेड़ा गर्क हो गया होता। वह बच सकता था भला! कोई भी तो नहीं था उसे तब बचाने वाला।" कितना अहम् है मनुष्य को अपने तुच्छ-सेवा कर्म का। ऐसे लोगों को पता होना चाहिए, हर आदमी का अपना भाग्य होता है। उसका अपना भाग्य ही मूल में बचाने वाला है। तुम तो एक निमित्त बन गये हो। गंगा को आना होता है, भागीरथ को लाने का यश मिल जाता है। और, यह भी क्या पता कि तूने इस सेवा के रूप में पूर्व जन्म का उससे लिया गया कोई अपना पुराना ऋण ही चुकाया हो तो! भारत का दर्शन पुनर्जन्मवादी है। अतः यहाँ अनेक जन्म-जन्मान्तरों से चले आये कभी पुराने ऋण भी चुकाये जाते हैं।

सेवक जितना विनम्र होगा, उतना ही महान् होगा। फलों से लदे वृक्ष धरती की ओर झुक जाते हैं। बरसने वाली घटाएँ ऊँचे आकाश से नीचे उतर कर धरती पर बरसती हैं। माँ-बाप अपने नन्हे-मुझे बच्चों को उंगली पकड़ कर चलाते हैं, तो देखा है कितने नीचे झुकते हैं?

### प्रभुता का मद :

प्रभुता का मद भी बड़ा भयंकर होता है। सिंहासन पर बैठते ही आदमी भूल जाता है कि कल तक तू भी तो सबके साथ धरती पर बैठने वालों में से ही एक था। बंगला कहावत है—**"जो भी लंका जाता है, रावण हो जाता है।"** आये दिन नम्रता का, विनय का, जनसेवक का उद्घोष करने वाले सिंहासन पर पहुँचते ही अकड़ कर नीरस सूखे काठ हो जाते हैं। पहले के प्रशासक, जिनकी स्वयं आलोचना करता रहा है, जल्दी ही स्वयं भी उन्हीं के पथ पर दौड़ने लगता है। पीछे नहीं, उनसे आगे ही निकल जाना चाहता है। याद रखिये, सिंहासन स्वामित्व के लिए नहीं, सेवा के लिए है। यदि कोई सस्नेह यह विहित सेवा नहीं कर सकता है, तो उसे सिंहासन पर बैठने का कोई अधिकार नहीं है। सिंहासन पर बैठने के लिए राजा राम बनना होगा, राक्षस रावण नहीं।

सिंहासन स्थायी नहीं हैं। समय पर चक्रवर्तियों के सिंहासन भी ढोल जाते हैं, इन्द्रासन भी खाली हो जाते हैं। प्रभुता चञ्चल है। बिजली से भी अधिक चञ्चल। चमकते देर नहीं, तो बुझते भी देर नहीं। पानी का बूलबुला कब तक पानी पर तैर सकेगा? कागज की नाव कब तक जल में तैरती रहेगी? संसार में हर चीज क्षण-भंगुर है। **'सर्वे क्षणिक'** का बुद्ध-घोष गलत नहीं है। अतः सिंहासन पर बैठते समय बहुत सम्भलकर बैठना चाहिए। सिंहासन पर बैठना बुरा नहीं है। बुरा है, सिंहासन का अहम् सिर पर लाद कर बैठना। बड़ी विचित्र स्थिति हो जाती है, इस तरह बैठने वालों की। बाहर में लगता है, यह महानुभाव कुर्सी पर बैठे हैं। खुद भी वह ऐसा ही समझता है। पर, वास्तव में वह कुर्सी पर नहीं बैठा है, कुर्सी ही उस पर बैठ गयी है। दिमाग पर कुर्सी का अहं जो सवार है। कुर्सी यश नहीं देती है। कुर्सी पर से किये जाने वाले सेवा-सत्कर्म ही यश देते हैं। यह बात हर कुर्सी पर बैठने वाले को ध्यान में रखने जैसी है।

## त्याग का अहं भी त्याज्य

भगवान् महावीर का तो अहम् के सम्बन्ध में बहुत गंभीर सिद्धान्त है, भगवान् तो जातिमद, कुलमद, रूपमद, ऐश्वर्यमद आदि संसारी मदों के समान ही श्रुत एवं तप आदि के धार्मिक मद को भी त्याज्य बताते हैं। त्याग का मद भी डूबा देने वाला है। कुछ लोग अपने उत्कृष्ट तप, नियम, त्याग आदि का भी मद करते हैं कि हम कितने उग्र आचारी हैं, कितने कठोर तपस्वी हैं। उन्हें बोध नहीं है कि यह विष भी बड़ा भयंकर है। महाभारत में उल्लेख है कि राजा ययाति हजारों वर्ष तप करता रहा, जल पीकर, हवा खाकर रहा। कई महीनों एक टाँग से अधर में खड़ा रहा। किन्तु जब स्वर्ग में गया, और अपने मुख अपने तप त्याग का बखान करने लगा, तो उसका तत्काल स्वर्ग से पतन हो गया। जैन-पुराणों में ऐसे अनेक त्यागी-तपस्वियों का वर्णन है कि वे अपने उत्कृष्ट त्याग का अहम् करने के कारण वीतराग-पथ से भ्रष्ट हो गये। 'अहम्' बन्धन है, फिर भले ही वह किसी भी तरह का हो।

जैन आगमों में जिनकल्प का वर्णन है। जिनकल्पी मुनि बड़े ही उग्र तपस्वी, संयमी एवं कठोरव्रती होते हैं। वे रोग होने पर उसका उपचार नहीं कराते। शिष्य नहीं बनाते, कैंसी भी दुःखद स्थिति हो, किसी से तनिक भी सेवा नहीं लेते। पैर में लगा काँटा तो क्या निकालेंगे, आँख में पड़ा धूल का कण भी नहीं निकालते, भले ही त्याग के इस हठ में आँख ही क्यों न चली जाए। सर्दी, गर्मी और वर्षा कुछ भी हो, दंश-मशक का कितना ही क्यों न उपद्रव हो, हमेशा निरावरण नंगे तन रहते हैं। वन में क्रूर जंगली हिंसक जानवरों से भी अपने को वचाने का प्रयत्न नहीं करते। इतना कठोर आचार है। फिर भी आगम कहते हैं—“जिनकल्पी को केवलज्ञान नहीं होता, अतः मोक्ष भी नहीं होता।” केवलज्ञान होता है कल्पातीत स्थिति में। जबकि साधक कल्प के अर्थात् आचार के कर्तृत्व सम्बन्धी अहम् से मुक्त हो जाता है, त्याग-तप सब कुछ करके भी त्याग-तप से परे सहज आत्म-भाव में लीन हो जाता है, तभी अनन्त कैवल्य ज्योति की उपलब्धि होती है। कहीं भी हो, कैसे भी हो, सर्वत्र सहज भाव अपेक्षित है। साधना का प्रभुत्व से वैर है। प्रभुता से प्रभु दूर हैं। मुझे कहना है, यह प्रभुता और कुछ नहीं, प्रभुता का अहम् है। सर्वत्र 'मैं' को तोड़ो, 'मैं' से बचो। 'प्रेम गली अति साँकरी, ता में दो न समाय।' साधक! तू और तेरा प्रभु, दोनों साथ-साथ नहीं रह सकते। दो में से कोई एक ही रह सकता है। तू अपने को हटा, मिटा। वस, एक अपने आराध्य प्रभु को ही रहने दे।



# क्रोध-शक्ति का नियन्त्रण

विष के बदले अमृत बाँटें,  
विष को भी अमृत में बदलें ।  
क्रोध-घृणा की ज्वालाओं को  
मधु स्मित की लहरों में बदलें ॥

जीवन, जीवन हैं। उसमें न तो सब-कुछ अच्छा है और न सब-कुछ बुरा है। अच्छा और बुरा दोनों सापेक्ष है। कभी-कभी मनुष्य के जीवन में ऐसी घटनाएँ घटित होती हैं कि वे जीवन को पूर्णतः मोड़ देती हैं। जिन बातों को हम बुरा कहते हैं, वे ही हमें सही रास्ते पर ले जाती हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि बाहर से परिलक्षित अच्छाई भी गलत रास्ते पर ले जाती है। प्रश्न—अच्छाई-बुराई का उतना नहीं है, जो बाहर में दिखाई देती है। प्रश्न है, उनके परिणाम का और सीमा का।

वात यह है कि क्रोध बुरा है। परन्तु, वह सर्वत्र और हर परिस्थिति में एकान्त रूप से बुरा नहीं है। उसकी भी एक सीमा और मर्यादा अपेक्षित है। जीवन में कभी क्रोध की स्थिति आ सकती है। परन्तु, जो व्यक्ति उसको सीमा से बाहर नहीं जाने देता, अपने दायरे में ही रोके रखता है, तो उससे जीवन का विकास भी हो सकता है। वह जीवन का विध्वंसक नहीं, निर्माता बन जाता है। आप देखते हैं, कोयला जलते-जलते ठण्डा हो जाता है, बुझ जाता है, तो वह राख बन जाता है। उससे पकाने आदि का कोई भी कार्य नहीं हो सकता। अगर, वह प्रज्वलित है, तो उस पर रोटी, दाल, सब्जी, मिष्ठान्न आदि बनाये जा सकते हैं। यदि उसकी आग सीमा में रहती है, तो सब कुछ ठीक चलता है। लेकिन, आग सीमा से बाहर चली जाय, तो वह जहाँ तक फैलती है, सब-कुछ भस्म कर देती है। यदि यह सोचकर आग जलाना ही बन्द कर दें कि अग्नि सब-कुछ जला देती है, तब तो हम उससे कुछ भी काम नहीं ले सकेंगे। याद रखिए कि अग्नि को प्रज्वलित करने पर ही काम होगा, परन्तु उसे नियंत्रण में रखें। आग को नियंत्रित रखना भी एक कला है। बहनों में यह वैज्ञानिक बुद्धि है, यह कला है कि आग से कैसे काम लिया जाय। वे रोटी बेलती हैं और उसे तवे पर रख देती हैं, तथा तवे से हटाकर आग पर रख देती हैं। रोटी को कितनी देर और किस प्रकार से तवे पर रखनी चाहिए और उसे कितने समय तक अंगारों पर रखनी चाहिए? यह ज्ञान उन्हें है। यदि समय की सीमा एवं रखने का तरीका न हो, तो या तो रोटी जल जायगी, उस पर दाग पड़ जायेंगे या कच्ची रह जायगी। अतः आग बुरी नहीं है। बुराई है आग की अति में। रोटी को बिल्कुल आग से दूर रखना भी अति है और मर्यादा से अधिक आँच पर रखना भी अति है। दोनों अति रोटी के लिए हानिप्रद हैं।

इसी प्रकार जब क्रोध आता है, आवेश आता है, तो उस समय वाणी में कठोरता दिखाई देती है। यदि विवेक जागृत है और रोष अपनी सीमा में है, तो वह स्व और पर के जीवन का हित करने वाला भी बन जाता है। गुरु शिष्य को गर्म होकर डाँटता है। परन्तु, उसका वह रोष, उसकी वह डाँट-फटकार शिष्य की गलतियों को दूर करने के लिए होती है। गलतियाँ कूड़ा है और उसे नष्ट करने के लिए जरा-सा ताप चाहिए। माँ को कोमलता की मूर्ति कहा है। स्नेह, ममता एवं वात्सल्य में माँ की बराबरी करने वाला अन्य कोई नहीं है। परन्तु, कभी-कभी वह बच्चे पर गर्म हो जाती है। वह वाणी से भी फटकार देती है और चांटा भी मार देती है। परन्तु, उसे उसकी सीमा का पता है। वह उसका विध्वंस करना नहीं चाहती, चाहती है उसके जीवन का भव्य निर्माण। शत्रु भी चांटा मारता है। चांटा, चांटा ही है। ऐसा नहीं है कि माँ के चांटे में और शत्रु की चांटे में बाहर में कोई अंतर है। अंतर है सीमा का। शत्रु का चांटा क्रोध की अति है और माँ का चांटा क्रोध की सीमा को नहीं लांघता। क्रोध में भी स्नेह एवं वात्सल्य छलकता है। कुंभकार चाक से उतारे गये कच्चे घड़े पर थापी से चोट करता है, परन्तु साथ में बचाव के लिए अपना हाथ घड़े के अन्दर में भी रखता है। थापी की चोट सीमा में होती है, हल्की होती है। वह हल्की चोट घड़े का निर्माण ही करती है, विध्वंस नहीं। परन्तु, घड़े को तोड़ने वाले की चोट इससे भिन्न होती है, यह आप जानते हैं।

इसलिए भारत का धर्मगुरु कहता है कि जीवन, जीवन की तरह जिओ। क्रोध-मान आदि कषायों से नहीं, उनकी अति से डरो। विवेक दृष्टि से काम लो। विवेक विकल हो कर कषाय वशवर्ती हो जाना और दात है, और अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने के लिए, जीवन विकास के लिए उन्हें एक सीमा में बाँध रखना और वात है। जहाँ अति है वहाँ सर्वनाश है। इसलिए श्रमण भगवान् महावीर का प्रारंभिक साधक के लिए एक ही उपदेश है कि अपने विवेक की आँखें बन्द करके क्रोधमय, मानमय, मायामय एवं लोभमय मत बनो। अति अशुभ है, अप्रशस्त है और सीमित मन्दता प्रशस्त है, शुभ है। कषाय वर्जन का यह अर्थ नहीं है कि तुम्हारे अस्तित्व पर ही कोई चोट करे और तुम बेभान सोये रहो। होना यह चाहिए कि व्यक्तित्व पर अपमान की चोट पड़ते ही आपकी कर्मचेतना जागृत हो, आपका सुप्त अहम् और व्यक्तित्व अंगड़ाई ले कर जाग उठे, और आपका स्वाभिमान सचेत हो जाए।

अहं (स्वाभिमान) शून्य व्यक्ति व्यक्तित्वहीन राह का रोड़ा है। वह पत्थर की तरह जड़ है, निष्क्रिय है, क्या कर पायेगा वह चेतनाहीन अपने जीवन का निर्माण। प्राचीन युग की एक कहानी है—

एक युवक, बड़े घर का लड़का था। वह धन-वैभव में, लाड़-प्यार में पला था। फूल की तरह खिलता रहा, महकता रहा। पर बड़ा होने पर यार-दोस्त ऐसे मिले कि वह अवारा हो गया। एक दिन यों ही मटरगस्ती कर रहा था, इधर-उधर घूम रहा था। सामने देखा कि पानी का घड़ा ले कर उधर से एक सुन्दर नवयुवा लड़की आ रही है। युवक ने छेड़ने की बुद्धि से घड़े पर कंकड़ फेंका। लड़की ने उसे डाँटकर कहा—“यह तुम क्या कर रहे हो?”

“मुझे तुम से प्रेम है !” लड़के ने हिचकते-घबराते हुए कहा।

लड़की ने पूछा—प्रेम यानी विवाह करना चाहते हो? परन्तु पहले यह तो बताओ कि तुम वासी खा रहे हो या ताजा? तात्पर्य यह है कि तुम बाप की कमाई पर ही ऐशोआराम कर रहे हो या स्वयं कमाकर खा रहे हो? याद रखो, मैं एक सामान्य घर की लड़की हूँ। विवाह मुझे करना है, परन्तु उसके लिए मेरी एक शर्त है—यदि तुम्हारे पास अपनी ताजा कमाई हो, तो मैं तुम्हारे साथ विवाह कर सकती हूँ, अन्यथा नहीं। बाप की कमाई पर अकड़ने वाले युवक मूर्ख होते हैं।

युवक अवारा भले ही हो गया हो, पर था बहादुर आदमी। वीर व्यक्ति के तेजस्वी मन को ही चोट लगती है। लड़की के चुभते-तीखे शब्दों ने उसके सोये हुए व्यक्तित्व को झकझोर कर जगा दिया। उसने तुरन्त कहा—“देखो, मैं आज ही कमाने जा रहा हूँ। तुम मेरे लौटने तक प्रतीक्षा करना।” युवक ने घर आते ही अपने पिता के सामने व्यापार के लिए बाहर जाने की बात रखी, तो पिता ने कहा—तुम्हें बाहर जाने का क्या काम है। हमारे घर में इतना धन-वैभव है कि तुम ही नहीं, तुम्हारी सात पीढ़ी तक बँठे-बैठे खायें, तब भी वह समाप्त होने वाला नहीं है। प्रायः पिता ऐसा ही बोलते हैं। परन्तु, उसने कुछ नहीं सुना और चल दिया अपने घर से। पिता ने कहा कि जा रहे हो, तो व्यापार के लिए कुछ पूंजी तो लेते जाओ। उसने पिता के इस प्रस्ताव को भी स्वीकार नहीं किया। फिर गंभीर, किन्तु विनम्र स्वर में उसने कहा, मैं अपने ही श्रम से श्री का उपार्जन करके घर वापिस लौटूंगा।

वह पिता के घर से बिना कुछ लिए ही अपनी यात्रा पर निकल पड़ा। अनजान रास्ता, अज्ञात जगह, पर मन में भावना जागृत थी धन कमाने की। वस, लग गया अपने काम में। शून्य में से निर्माण करना शुरु किया और जब अपने घर लौटा, तो वह एक श्रेष्ठ श्रीमन्त था। सब ओर उसके जय-जयकार गूँज गये। अहं को लगी चोट काम कर गयी।

याद रखिए, श्रम में से ही श्री पैदा होती है। भले ही वह श्रम शारीरिक हो या दिमागी। भले ही वह श्री भौतिक हो या आध्यात्मिक। बिना श्रम के श्री की प्राप्ति संभव नहीं है। और, यह श्रम जगता है कभी-कभी अहं पर एक विलक्षण चोट के लगने पर। राजगृह के प्रतिष्ठित धनकुबेर ‘धन्ना’ का जीवन आप लोगों ने अनेक बार सुना है। उसके अन्तर मन में आध्यात्मिक ऋद्धि, आत्म-वैभव पाने की भावना कब जगी, पता है आपको? जब कि उसकी पत्नी सुभद्रा ने उसके स्वाभिमान पर चोट की। जब तक स्वाभिमान पर चोट नहीं पड़ती, तब तक सोया व्यक्तित्व जागृत नहीं होता।

अस्तु, स्वाभिमान की व्यक्ति वह है, जो ‘अहं’ पर चोट लगते ही जागृत हो जाए। जिसका अहं भाव जागृत नहीं होता, एक बार नहीं, बार-बार चोट खाकर भी जो जागता नहीं, वह मुर्दा है। और, शव की तरह सड़ता रहता है। मुर्दा (शव) इतना बुरा नहीं है, जितना कि मुर्दा जीवन बुरा है। जीवित-मुर्दा स्वयं तो सड़ता ही है, साथ ही वह परिवार, समाज एवं राष्ट्र में जहाँ भी जाता है, सबको सड़ा देता है। कहावत है कि एक सड़ा हुआ पान अपने साथ के अन्य ताजा पानों को भी सड़ा-गला देता है। अतः जीवन में मुर्दापन नहीं, तेज होना चाहिए। अपने व्यक्तित्व का स्वाभिमान होना चाहिए। चाहे क्रोध हो, मान हो, लोभ हो, कुछ भी क्यों न हो,



अपनी सीमा में, मर्यादा में हैं, तो बुरे नहीं हैं। यदि इनसे जीवन का निर्माण हो रहा है, तो वे हितकर ही हैं। क्रोध और अभिमान के साथ लोभ की बात कर लूँ। लोभी व्यक्ति को कोई पसंद नहीं करता। परन्तु, भगवान् महावीर कहते हैं कि लोभ प्रशस्त भी है। वह एकान्त रूप से अप्रशस्त (बुरा या अशुभ) ही है, ऐसी बात नहीं है। यदि लोभ अर्थात् कुछ-न-कुछ बचाने की दृष्टि नहीं है, आय, व्यय एवं संग्रह आदि का विवेक नहीं है, तो वाप-दादों के संग्रहित धन को उड़ाते देर नहीं लगेगी। परन्तु, इसका यह अर्थ भी नहीं है कि तिजोरी में रखे धन को गिनते रहो। उसे खाने-पीने एवं तन के आराम के लिए भी खर्च न करो और किसी शुभ कार्य में भी न लगाओ, केवल बटोरते ही रहो, तो वह लोभ किस काम का। वह तो पतन का ही कारण है। उससे जीवन का निर्माण संभव नहीं है। हमारे एक महान् आचार्य ने कहा था—

“यः काकिणीमप्यपथे प्रपन्ना.....  
काले च कोटिष्वपि मुक्तहस्तः।”

एक काँकणी (पुराने युग का बहुत छोटा सिक्का) यदि व्यर्थ में खर्च हो गई है या हो रही है, तो उसके लिए विचार करो, सोचो, परन्तु यदि समय पर सत्कर्म में, जन-सेवा के क्षेत्र में दस-बीस ही नहीं, सौ-दो-सौ ही नहीं, हजारों-लाखों ही नहीं, करोड़ों स्वर्ण मुद्राएँ भी खर्च करने का अवसर आए, तो उसके लिए यथास्थिति मुक्त हृदय से तैयार रहो। व्यर्थ में खर्च हो रही एक काँकणी को भी बचाना बुद्धिमानी है। वह लोभ प्रशस्त है। परन्तु, केवल संग्रह ही करता रहे—न अपने लिए उसे काम में लाए और न जन-सेवा के लिए, तो वह लोभ बुरा है। इसलिए श्रमण भगवान् महावीर ने जोर दे कर कहा कि अति से बचो। अति चाहे क्रोध की हो, मान की हो, लोभ की हो या अन्य किसी की हो, वह बुरी है। यदि कषायें भी अपनी सीमा में हैं, शुभ में हैं, तो वे जीवन को बर्बाद करने वाली नहीं, अपितु बनानेवाली हैं।

जीवन की तीन धाराएँ हैं—अशुभ, शुभ और शुद्ध। वर्तमान जीवन का अधिक अंश शुभ और अशुभ में है। यदि अध्यात्म-ज्ञान के इस अहंभाव के कारण कि मैं तो निरंजन-निर्विकार हूँ, इसलिए मुझे कुछ नहीं करना है। अशुभ ही नहीं, शुभ भी हेय है। मुझे तो एकान्त शुद्ध रहना है। यह शाब्दिक ज्ञान है, यथार्थतः वर्तमान परिणति एवं स्थिति से शून्य है। वर्तमान में आत्मा का परिणमन किन भावों में हो रहा है, इस ओर न देख कर, यथार्थ से आँखें बन्द करके केवल स्वरूप-बोध के अहंभाव में सत्कार्य अर्थात् शुभ प्रवृत्ति का निषेध करना, समयानुसार उसे न करना, उसे बुरा मानना, यह भी एक अति है। और यह अति भी जीवन को गिराने वाली है। अतः वर्तमान में शुद्ध भाव न होते हुए भी उसका नाटक करना, उसकी अति में बहे जाना बुरा है। अतः अति कोई भी क्यों न हो, उससे बचना ही जीवन का निर्माण एवं विकास करना है।

पुण्य और पाप की व्याख्या करते हुए भगवान् महावीर ने कहा है—मन्दकषाय पुण्य है, तीव्रकषाय पाप है। क्रोध आदि कषाय की मन्दता पुण्य है और तीव्रता पाप है। मन्द कषाय शुभ है, प्रशस्त है, जीवन को उन्नत बनाती है। जब भी बात करो, प्रशस्त की करो, काम करो तो प्रशस्त करो। निकृष्ट भाषा कभी न बोलो। निकृष्ट का अर्थ है—मैं क्या करूँ, मैं तो कुछ कर नहीं सकता, मेरे से कुछ भी होगा नहीं, ऐसी निकृष्ट भाषा से भी बचना चाहिए। सत्कार्य थोड़ा करो या अधिक भावना से करो और अति से बचो। न तो एकदम भगवान् वनने के लिए छलांग लगाओ और न राक्षस बनो। दोनों अतियों के मध्य की स्थिति में रहो। वह है साधक की स्थिति, इन्सान का जीवन। और, यह मध्य स्थिति ही आज के जीवन का निर्माण कर सकती है।



**निर्भर होने का मार्ग : तनाव से मुक्ति**

जीवन में संयोग-वियोग का खेल चला ही करता है। संयोग-वियोग अपने-आप में सुख-दुःख के कारण नहीं है, कारण है उनकी स्मृति। यह मानव-मन की दुर्बलता ही है कि वह स्मृति के भार को ढोता रहता है और सुख-दुःख की अनुभूति करता रहता है।

पूर्व की स्मृतियाँ अशान्त स्थितियाँ पैदा करती हैं, तो मनुष्य के चिन्तन एवं कर्तव्य शक्ति को वे पंगु बना देती हैं, जिससे मनुष्य का विकास अवरुद्ध हो जाता है।

ठीक है, वर्तमान की अज्ञ अवस्था में स्मृति अपरिहार्य है, परन्तु वह मन का भार न बनने पाए, वह हमारे चिन्तन अथवा विचारों को जकड़ने न पाए। भूत, भविष्य के भार को एक ओर फेंक कर वर्तमान में जीना सीखें। ध्यान रखना है, स्मृति केवल स्मृति रहे, वह सुख-दुःख की दात्री न बन सके। स्मृतियों से असम्पुक्त रहना ही तो जीवन जीने की कला है।

मन्दिरों एवं उपाश्रयों में आते समय 'निसीहि-निसीहि' कहना चाहिए, यह एक विधान है, जैन-धर्म के आचार-ग्रन्थों का। यह विधान मौखिक रूप में आज भी प्रायः किया जाता है रुद्धिचुस्त धार्मिक सज्जनों द्वारा। परन्तु, इस मौखिक उच्चारण का आन्तरिक क्या मर्म है, क्या हेतु है, इस संबंध में ठीक जानकारी प्रायः कम ही देखी जाती है। कहना है, बस, इसलिए कहा जाता है। पर, क्यों कहा जाता है, इसका कुछ अता-पता नहीं है। कल ही की बात है। एक दिगम्बर जैन श्रावक इस सम्बन्ध में जिज्ञासा कर रहे थे।

देव मन्दिरों, उपाश्रयों एवं गुरुचरणों में उपस्थित होते समय 'निसीहि' कहने का भाव यह है कि मैं इधर-उधर के बाह्य विकल्पों का, द्वन्द्वों का निषेध एवं निराकरण कर, उनसे मुक्त हो कर यहाँ धर्म-साधना के लिए उपस्थित हुआ हूँ। मेरा मन एवं मस्तिष्क साफ है। कोई कूड़ाकचरा उसमें नहीं है। वह पूरी तरह खाली है, भगवान् एवं गुरु की उपासना के लिए, उनके महनीय प्रकाश को ग्रहण करने के लिए।

नये भव्य निर्माण के लिए पहले को असुन्दर एवं दूषित को साफ करना ही चाहिए। झूठे, गंदे पात्र में यों ही दूध डाल देना, क्या अर्थ रखता है। स्लेट पर पहले कुछ यों ही अट-संट लिखा हुआ है। अब उस पर कुछ और अच्छा लिखना है, तो पहले लिखे को साफ नहीं करना चाहिए? लिखे हुए पर ही लिख देना चाहिए? यदि किसी तरह लिखने की क्षीक में लिखे हुए पर लिख ही दिया, तो यह गडुम-गडुम लेख क्या काम आएगा? कैसे पढ़ा जाएगा? यदि नहीं पढ़ा गया, तो वह लिखना व्यर्थ ही हुआ है न? "श्रम एव केवलम्।"

हाथ गंदे हैं। धूल-कीचड़ में सने हैं, या शौच-क्रिया में लगे हुए रहें हैं। क्या उन्हीं हाथों से अपने पूज्य के चरण छू लें? भोजन कर लें? अथवा दूसरों को मिष्टान्न का प्रसाद वितरण कर दें? गलत है यह सब ढंग। यह असभ्य लोगों का काम है। कोई भी सभ्य ऐसी गंदी हरकत नहीं कर सकता। आवश्यक है, पहले गंदे हाथ धोये जाएँ और फिर उनसे अपेक्षित पवित्र कर्म किये जाएँ।

कर्म-क्षेत्र में साधक जब संघर्षरत रहता है, तो उसका मन-मस्तिष्क गंदा हो जाता है। काम, क्रोध, मद, लोभ आदि की किसी-न-किसी गंदगी से दूषित हो जाता है, अभद्र एवं गलत संस्कारों का कूड़ा-कचरा मन में भर जाता है। अतः स्पष्ट है, कि उक्त गंदगी से भरे मन मस्तिष्क में अपने आराध्य प्रभु की भक्ति कैसे शुद्ध हो सकती है। अट-संट संस्कारों एवं विचारों की बेमेल भीड़ में, बेसुरे कोलाहल में शान्त चित्त से कैसे प्रभु-स्मरण हो सकता है। ऐसा स्मरण केवल साम्प्रदायिक नियमों के पालन की एक बेगार काटना तो हो सकता है, मन के कण-कण को आनंद की अमृत-धारा से आप्लावित करने वाला पुण्य-स्मरण नहीं हो सकता।

आप विशेष निमंत्रण पर किसी प्रेमी मित्र या संबंधी के घर मेहमान बनकर जा रहे हैं, तो ध्यान में रखिये, अपने घर की सुख-सुविधाओं के गुद-गुदे संकल्पों को घर पर ही छोड़ कर जाइए। उन्हें अपने मित्र या सम्बन्धी के घर पर भूल कर भी न ले जाइए। हो सकता है, जैसे सुख साधन आपको अपने घर पर प्राप्त है, वैसे वहाँ न प्राप्त हो। और यदि आप अपने प्राप्त सुख-साधनों के विकल्पों का भार उठाये हुए ही वहाँ पहुँचे हैं, तो आपको वहाँ मधुर मिलन का कुछ भी आनन्द न आएगा। आप अन्दर ही अन्दर कुड़-कुड़ाएँगे, बड़-बड़ाएँगे और अपने स्नेही मित्रों को गालियों से अलंकृत करेंगे। इतना ही नहीं, लौटने पर उसे यत्रतत्र बदनाम भी करेंगे। मधुरता के लिए गए थे और ले आए हैं कटुता। सिर्फ ले ही नहीं आए, कटुता दे भी आए हैं। दिमाग को खाली न करने का यह कितना भीषण दुष्परिणाम होता है, कुछ आता है, आपकी समझ में?

और हाँ, मित्र के यहाँ से वापस लौटते हुए भी अपने दिमाग को खाली करके लौटिए। यदि उचित सम्मान-सत्कार न हुआ हो; भूल से या अन्य किसी तरह कुछ अपमान हुआ हो, मनोनुकूल सुख-साधन उपलब्ध न हुए हों तो कोई बात नहीं, ऐसा हो जाता है प्रायः। पर, आप इस गंदगी को अपने दिमाग में भरकर न रखिए। बड़ी खराब बात है दिमाग को गंदगी से भरे रखना। क्योंकि कभी न कभी और कहीं न कहीं मुंह से बाहर आती है। और चिरामत स्नेह के मधुर वातावरण को विषाक्त बना देती है। इस तरह एक बार के टूटे हुए मन जीवन भर तो क्या, अनागत पीढ़ियों तक परस्पर नहीं मिल पाते हैं।

निर्भर होने का मार्ग : तनाव से मुक्ति

८३

इसके विपरीत यह भी हो सकता है, कि घर की अपेक्षा वहाँ सुख-साधन अच्छे मिले हों, आसन-शयन भोजन आदि बहुत ही रुचिकर प्राप्त हुए हों, कल्पना से कहीं अधिक स्वागत सत्कार हुआ हो। इन सबके लिए सत्कार कर्ता के प्रति प्रेम एवं समादर का सद्भाव तो अपने मन में सुरक्षित रखिए, किन्तु प्राप्त सुख-साधनों का मोह भूलकर भी अपने मन एवं मस्तिष्क पर मत जमने दीजिए। यदि आप उक्त मोह के विकल्पों से मन को बिना खाली किए घर लौटें हैं, तो बहुत बुरा होगा। आप को अपना घर अब अच्छा नहीं लगेगा। मां से झगड़ेंगे, बहन से झगड़ेंगे, कि तुम्हें कुछ नहीं आता बनाना। बिल्कुल बुद्ध हो तुम। और पत्नी के पीछे तो भूत-प्रेत की तरह लग जाओगे। कभी उसे गंवार, तो कभी फूहड़ बताओगे। उसके बनाये भोजन में हर दिन सौ गलतियाँ निकालोगे। और, इस तरह अपने घर के मधुर वातावरण को तलख बना डालोगे। यदि अपने घर की स्थिति अभावग्रस्त है, तो उन जैसे सुख-साधन न जुटा पाने के कारण तुम स्वयं हीन-भावना से ग्रस्त हो कर एक प्रकार के विक्षिप्त मानसिक रोगी बन जाओगे।

एक लम्बी चर्चा में उदाहरण के रूप में इसलिए की है, कि स्वस्थ एवं सुखद मस्ती भरा जीवन जीने के लिए लोकजीवन में भी ईधर-उधर के मान-अपमान आदि के विकल्पों से मन को खाली करना कितना आवश्यक है। मन को न सत्कार से भरना अच्छा है, न तिरस्कार से। जीवन-यात्रा में दोनों का विसर्जन करके ही इधर से उधर जाओ या उधर से इधर आओ। किसी भी कर्मक्षेत्र में प्रवेश करो, तो पहले के चालू कर्म के विकल्प से मुक्त हो कर प्रवेश करो। विगत भूत-कर्म का भूत यदि पीछे लगा रहा, तो प्राप्त कर्म का आनंद तुम्हें नहीं मिल पाएगा। विभक्त मन से वह कर्म अच्छी तरह किया भी न जा सकेगा। जो व्यक्ति घर को दिमाग पर लादकर व्यवसाय-केन्द्र पर ले जाएगा और व्यवसाय केन्द्र को घर पर, तो वह न घर का रहेगा, न व्यवसाय का। धोबी का कुत्ता न घर का, न घाट का। जो दिमाग को विचारों का कूड़ा घर बनाये रखता है, वह वस्तुतः कूड़ा घर ही बन जाता है। और ऐसे कूड़ा घर से कर्म की निर्धारित फल-निष्पत्ति कभी भी यथोचित नहीं हो सकती। अस्तु, लोक-जीवन में भी 'निसीहि' की उपासना अपेक्षित है। यह विकल्पों के विसर्जन की सर्वोत्तम प्रक्रिया है।

जैन-साधना में प्रतिक्रमण का बहुत बड़ा महत्त्व है। यह दुर्विचारों एवं कुसंस्कारों के परिमार्जन की एक आध्यात्मिक साधना है। प्रातःकाल से प्रारंभ होने वाली जीवन-यात्रा में दिन भर में जो कुछ भी इधर-उधर के दुर्विकल्प अन्तर्मन में संचित हो जाते हैं, सायंकालीन प्रतिक्रमण में आत्मालोचन के द्वारा उन्हें साफ कर दिया जाता है और रात्रि के दुर्विकल्पों को प्रातःकालीन प्रतिक्रमण में। यह सुबह-शाम 'अकरणज्ज' का 'मिच्छामि दुक्कडं' मन को खाली करता है, उसे हल्का और शुद्ध बनाता है। पाप कर्मों की बार-बार स्मृति ग्लानि को जन्म देती है और ग्लानि जन्म देती है हीन-भावना को। और हीन-भावना मानव जीवन का सबसे भयंकर अभिशाप है, जो उसे सब तरह से बर्बाद कर देता है। प्रतिक्रमण साधक को इस तरह व्यर्थ ही बर्बाद होने से बचाता है। उसमें पवित्रता की भावना जगाता है, और नये उत्साह की तरंग के साथ भविष्य में सजगतापूर्वक सत्कर्म करने की प्रेरणा देता है। अशुभ का विसर्जन होना चाहिए। इतना ही नहीं, अशुभ की स्मृति का भी विसर्जन होना आवश्यक है। कृत अशुभ की बार-बार स्मृति भी चेतना को धूमिल बना देती है। जिस हाथ से मल धोया है, उसे धो दिया और वह साफ हो गया। बस, शुद्धि का कार्य पूरा हो गया। धोने के बाद भी यदि हाथ में लगे मल को याद करता रहेगा, तो बस, विनष्ट हो जाएगा मानव। तन का स्नान, मल और मल की स्मृति दोनों को ही साफ करने के लिए है। इसी प्रकार प्रतिक्रमण हो या इसी से सम्बन्धित अन्य कोई धार्मिक साधना हो, वह भी मानव मन को पाप और पाप की स्मृति दोनों से मुक्त करती है। भविष्य में कोई पाप कर्म न होने पाए, यह सजगता एक अलग बात है। और हर दिन अतीत के कृत पापों का रोना रोते रहना, अलग बात है। प्रतिक्रमण, जप, प्रभु-स्मरण आदि करके भी यदि किसी को यह विश्वास है कि मैं शुद्ध नहीं हुआ हूँ, वही पुराना पापी का पापी हूँ और मलिन का मलिन हूँ, तो इसका अर्थ है कि उसे धर्म-साधना की पवित्र शक्ति में विश्वास नहीं है। गंगा में डुबकी लगा कर भी यदि गंदगी लगे रहने का रोना है, तो उस पागल की कोई चिकित्सा नहीं है।

योग की एक प्रक्रिया है, विरेचन की। प्राणायाम में अंदर की अशुद्ध वायु को विरेचन के द्वारा बाहर में विसर्जित किया जाता है। विरेचन का अर्थ है, खाली करना। यह एक श्वास का व्यायाम है, किन्तु योग इतना ही नहीं है, जीवन में से अशुभ संकल्पों, विचारों एवं विकारों का भी विरेचन होना चाहिए। यही वास्तविक अध्यात्म-योग है। शुभ का पूरक और अशुभ का विरेचन ही जीवन में समरसता ला सकता है। शुभ का पूरक होने के साथ

एक सावधानी और अपेक्षित है। वह यह कि कहीं शुभ के साथ शुभ का अहंभाव भी मन में न प्रवेश कर जाए। यदि कभी भूल से अहं प्रवेश कर जाए, तो तत्काल उसका भी विरेचन कर मन को खाली कर लो। यह शुभ की सुगन्ध के साथ अशुभ की दुर्गन्ध बड़ी ही भयंकर है। यह शुभ को चौपट कर देती है। इस स्थिति में, शुभ की सुगन्ध, सुगन्ध न रहकर दुर्गन्ध ही हो जाती है। शुभ का आनंद तो अमृत-रस है। अतः उसे तो मन में बनाये रखो, और अहं को बाहर निकाल फेंको। कैसा भी अशुभ हो, उससे मन-मस्तिष्क को खाली करते रहना ही श्रेयस्कर है।

जहाँ तक मेरा अध्ययन है, चिन्तन है, मेरी समझ है, 'निसीहि' का यह सैद्धान्तिक मर्म है। अतः साधक को 'निसीहि' केवल बोलना ही नहीं है, उसके फलित रहस्य को समझना भी है। शब्द से आगे का सत्य शब्द का भाव है। उस भाव की अनुभूति ही साधना का अमृत-तत्त्व है।





# निर्विचार या निर्विकार

“अकुशलमण-निरोहो, कुशलमणउदीरणं चेव ।”

मन पूरी तरह से मौन हो सकता है ?

हो सकता है !

पर, अभी नहीं !

अभी अकुशल अर्थात् अशुभ विचारों का निरोध करो

और कुशल अर्थात् शुभ विचारों में मन को नियोजित करो ।

मन स्वयं एक दिन मौन हो जाएगा ।

भगवान् महावीर ने मुख्य रूप से दो तत्त्व माने हैं—जीव और अजीव, जड़ और चेतन। स्थानांग सूत्र में कहा है—जीव और अजीव दो राशियां हैं। इन दो में सप्त-तत्त्व, नव पदार्थ और षट्-द्रव्य का समावेश हो जाता है। संसार में जितने पदार्थ हैं, वे जीव और अजीव इन दो में आ जाते हैं। ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जो जीव भी न हो और अजीव भी न हो। जो भी पदार्थ है, या तो वह जीव होगा या अजीव। इसलिए दो ही द्रव्य मुख्य हैं। शेष तत्त्व एवं पदार्थ इन दो के संयोग या वियोग से बनते हैं। इसलिए मुख्यता दो ही तत्त्वों की है।

दो में भी प्रमुख जीव है। आत्मा ही सब में श्रेष्ठ है। क्योंकि अपने और अपने से भिन्न जड़-पदार्थों के अस्तित्व का निर्णय और निश्चय जीव ही करता है। व्यक्ति ही अपने ज्ञान से समस्त पदार्थों का बोध करता है और उनका नामकरण भी जीव करता है। क्योंकि वह चेतन है, ज्ञान स्वरूप है। जीव की पहचान क्या है? उसका लक्षण क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में श्रमण भगवान् महावीर ने कहा है—उपयोग अर्थात् ज्ञान ही आत्मा का, जीव का लक्षण है—

### “जीवो उवओगलक्खणो।”

उपयोग अर्थात् ज्ञान आत्मा का विशिष्ट गुण है। वह आत्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। आचारांग सूत्र में श्रमण भगवान् महावीर ने कहा है—जो आत्मा है वही ज्ञाता है, और जो ज्ञाता है वही आत्मा है। आत्मा किसी भी समय ज्ञान से रहित नहीं होता और ज्ञान आत्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी परिलक्षित नहीं होता। ज्ञान के द्वारा ही हमें आत्मा के अस्तित्व का एवं उसके स्वरूप का बोध होता है। और अपने ज्ञान के द्वारा ही व्यक्ति पर-पदार्थों का बोध करता है। इसलिए आत्मा ज्ञान-स्वरूप है।

जिस पदार्थ में ज्ञान नहीं है, चेतना नहीं है, वह अजीव है, जड़ है। क्योंकि जड़ पदार्थ को किसी भी तरह की अनुभूति नहीं होती। और तो क्या, जड़ को अपने अस्तित्व का भी बोध नहीं है। वह यह भी नहीं जानता कि मैं कौन हूँ? मेरा अपना स्वरूप क्या है? मेरे में कितनी शक्ति है? और मैं कितना उपयोगी हूँ? न उसे अनुकूल संयोगों का सुखरूप संवेदन होता है और न प्रतिकूल संयोगों का एवं अनुकूल संयोगों के वियोग का दुःख होता है। उसे स्व और पर का कोई बोध नहीं होता। जिस पदार्थ में बोधरूप व्यापार नहीं होता, वह जड़ है, अजीव है।

चेतन में चिन्तन एवं विचार निरन्तर गतिमान रहते हैं। आज के कुछ विचारक विचार-शून्य होने की बात कहते हैं। उनका कहना है कि विचारों को अन्तर् मन में उठाने ही मत दो और जो कुछ विचार हैं उन्हें निकाल दो। परन्तु ऐसा कभी हो नहीं सकता। विचार एवं चिन्तन-शून्य होने का अभिप्राय है—जड़ बन जाना। जड़ में किसी भी तरह का विचार नहीं होता। न उसमें सोचने की शक्ति है, और न समझने की। उसे कोई शस्त्र से तोड़े-फोड़े तब भी क्रोध नहीं आता, और कोई उस पर फूल चढ़ाये तब भी उसे प्रसन्नता नहीं होती। जड़ बनना पसन्द हो तो बात अलग है, अन्यथा व्यक्ति विचार-शून्य नहीं हो सकता। विकार एवं विकल्प से तो शून्य हो सकता है और साधक को होना भी चाहिए, परन्तु चेतना का, ज्ञान का प्रवाह तो उसमें अनादि से बहता रहा है, और अनन्त तक बहता रहेगा।

चेतना, चेतन का स्वभाव है। वह कभी भी ज्ञानशून्य नहीं हो सकता। कर्म-बन्धन से मुक्त होने पर भी वह अनन्त ज्ञानस्वरूप रहता है। ज्ञान उसका अपना गुण है, स्वभाव है। गुण गुणी से कदापि अलग नहीं हो सकता। आग का स्वभाव जलना है। वह जलती ही रहेगी। अग्नि हो और वह जले नहीं यह कभी भी सम्भव नहीं हो सकता। चिन्तन करना चेतन का स्वभाव है। व्यक्ति शरीर को स्थिर कर सकता है और वचन (वाणी) को भी रोक सकता है—पर चेतना की प्रवहमान धारा को रोकना सम्भव नहीं है। ध्यान में साधक शरीर से स्थिर रहता है—यहाँ तक कि दृष्टि को भी एकाग्र कर लेता है, परन्तु आध्यात्मिक-चिन्तन तो चलता ही रहता है। ध्यान का अर्थ है—किसी एक वस्तु पर मन को केन्द्रित करके उसी का विचार एवं चिन्तन करना।

ध्यान शब्द ‘ध्यै चिन्तायाम्’ से बना है। इसलिए यह कहना नितान्त गलत है कि ध्यान में साधक किसी भी प्रकार का विचार-चिन्तन न करे, वह भावशून्य बन जाए। ध्यान स्वयं चिन्तन-स्वरूप है। और वह तीन प्रकार का है—शुद्ध, शुभ और अशुभ। चिन्तन वास्तव में चेतना की सक्रियता है। शुद्ध, शुभ और अशुभ उसकी पर्याये

है। जब चिन्तन की धारा स्वभाव में बहती है, तो वह चेतना की शुद्ध पर्याय रहती है। उसमें बन्ध नहीं होता, केवल पूर्ववद्ध कर्मों की निर्जरा होती है। जब व्यक्ति विभाव में बहता है, तब ज्ञान की पर्याय शुभ या अशुभ होती है, तब बन्ध होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि ध्यान, चिन्तन है और वह शुभ भी हो सकता है, अशुभ भी हो सकता है, और शुद्ध भी हो सकता है। वाह्य परिणति में परिणत आत्मा का ध्यान एवं चिन्तन शुभ या अशुभ होगा और वह कर्म-बन्ध से छुटकारा नहीं पा सकता। जब व्यक्ति बाहर से अपने मन को हटाकर अपने स्वरूप में केन्द्रित करता है, उस समय भी साधक का चिन्तन तो चालू रहता है, परन्तु स्वभाव में परिणति होने के कारण वह शुद्ध है। धर्म-ध्यान और शुक्ल ध्यान शुद्ध हैं। ध्यान की, यह शुद्ध-विशुद्ध एवं परम शुद्ध अवस्था भी चिन्तन एवं ज्ञान-स्वरूप है। शुक्ल-ध्यान में भी शब्द से अर्थ पर, अर्थ से शब्द पर तथा द्रव्य से पर्याय पर और पर्याय से द्रव्य पर चिन्तन एवं विचार होता ही है। और शुक्ल-ध्यान की प्रक्रिया कर्म-बन्धन से पूर्णतः मुक्त होने, और योगों का निरोध करके निर्वाण को प्राप्त करने के पूर्व तक चालू रहती है। इसलिए निर्विचार एवं चिन्तन रहित होने का कोई अर्थ ही नहीं है।

वास्तव में निर्विचार की कल्पना ही नहीं की जा सकती। क्योंकि उसका कोई आधार है ही नहीं। मैं निर्विचार एवं पूर्णतः शून्य हो गया हूँ, यह सोचना या विचार करना भी तो एक विचार है। विचारों से शून्य हो कर कोई भी साधक भले ही वह कितना भी बड़ा एवं शक्तिशाली क्यों न हो, रह नहीं सकता।

कुछ व्यक्ति शास्त्रीय आध्यात्मिक विचारों को भी छोड़ने की तथा उनसे अपने को खाली करने की बात कहते हैं। सुनने में यह बात प्रिय लगती है, परन्तु वास्तव में यह कथन ही असत्य है। क्योंकि वह प्रवक्ता भी तो विचार ही दे रहा है। जो अपने मन-मस्तिष्क को विचारों से भरे हुए है, और उन्हें अपने श्रोताओं में वितरित कर रहा है, वह विचारशून्य कैसे बन सकता है? और, जो स्वयं विचारशून्य नहीं बन सका है, तो अन्य को कैसे बना सकता है? अतः हमें निर्विचार नहीं, निर्विकार बनना है।

राग-द्वेष विकार है। आगम में विकारों के रंग से अनुरजित भावों को, विचारों को विभाव कहा है। इष्ट वस्तु पर राग आता है, और अनिष्ट पर द्वेष। राग भी बन्ध का कारण है, और द्वेष भी। राग-द्वेष दोनों संसार के कारण हैं। वीतराग-भाव विकारों से रहित है। विभाव के रंग से रजित नहीं है। अतः वह आत्मा का शुद्ध स्वभाव है। उसमें स्थित आत्मा को बन्ध नहीं होता। वीतराग-भाव संसार का नहीं, मुक्ति का कारण है। बात यह है कि ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानों में वीतराग-भाव है, वहाँ विकार तो नहीं है, परन्तु विचार तो वहाँ भी है।

ज्ञान कभी भी निर्विकल्प नहीं होता। ज्ञान से पूर्व होने वाला दर्शन निर्विकल्प होता है। उसमें ज्ञेय वस्तु की विशेषता का बोध नहीं होता। वस्तु है—वस, इतना सामान्य बोध होता है। परन्तु ज्ञेय-वस्तु की विशेषता का बोध ज्ञान में होता है। आत्मा शरीर से भिन्न है, अमर है, अनन्त गुणमय है, ज्ञान-स्वरूप है—आदि विशेषताओं का परिज्ञान ज्ञान के द्वारा होता है। इसलिए आगम में उपयोग दो प्रकार का बताया है—निराकार और साकार। दर्शन निराकार उपयोग है, और ज्ञान साकार उपयोग है। अतः ज्ञान है वहाँ विकल्प होगा ही, ज्ञेय वस्तु की विशेषताओं का बोध होगा ही और विचार-चिन्तन भी होगा। इसलिए विचार एवं चिन्तन रहेगा ही। क्योंकि ज्ञान आत्मा का गुण है, स्वभाव है। वह उससे अलग हो नहीं सकता। इसलिए विचार-शून्य होने का अर्थ है—जड़ बन जाना।

श्रमण भगवान् महावीर ने संसार से मुक्त होने के लिए यह नहीं कहा कि निर्विचार बनो, परन्तु यह कहा है—सर्वप्रथम अपने स्वरूप को जानो-समझो। मैं शरीर एवं पुद्गलों से सर्वथा भिन्न हूँ। मैं इनका कर्ता एवं भोक्ता नहीं, केवल द्रष्टा हूँ। द्रष्टा बन कर अपने आपको देखो। राग आता है, तो उसे देखो-समझो, द्वेष आता है, तो उसका परिज्ञान करो। साधक को यह बोध हो जाना चाहिए कि राग-भाव और द्वेष-भाव दोनों मेरे अपने नहीं हैं। मेरा अपना स्वभाव राग-द्वेष से रहित वीतराग भाव है। यह समझना ही सबसे बड़ी उपलब्धि है। जिस वस्तु का जैसा स्वरूप है, उसे उसी रूप में देखना, तद्रूप समझना और उसमें श्रद्धा एवं निष्ठा रखना ही सम्यक्-दर्शन है। ज्यों-ज्यों हमारे ज्ञान, चिन्तन एवं विचारों पर पड़ा हुआ आवरण हटता जाएगा, त्यों-त्यों हमारी ज्ञान-चेतना शुद्ध होती जाएगी और एक समय ऐसा आयेगा कि सम्पूर्ण आवरणों से निरावरण हो कर वह चेतना अनन्त पूर्णता को प्राप्त कर लेगी।

# कर्म का मूल मनोभाव में

## मनोमंत्र

मानव का उत्थान-पतन सब,  
अन्तर्मन पर अवलंबित है।  
निज-पर का हित और अहित सब  
मात्र उसी पर आधारित है ॥

उजला या काला भविष्य है,  
वर्तमान के भाव-तंत्र में।  
जो चाहो सो बन सकते हो,  
महाशक्ति है मनोमंत्र में ॥

पापी या पुण्यात्मा तुमको,  
करे तुम्हारा अन्तर्मन ही।  
सबसे पहले इसे संवारो,  
मूल कर्म का है चिन्तन ही ॥

जब भी सोचो अच्छा सोचो,  
मन को सौम्य, शान्त, शुभ गति दो।  
अंधकार-युत जीवन-पथ को,  
ज्योतिर्मय निज-पर हित मति दो ॥

मानव-जीवन का उतार-चढ़ाव उसके अपने भावों एवं विचारों के उतार-चढ़ाव पर निर्भर है। जैसा विचार वैसा आचार, जैसा आचार वैसा व्यवहार, जैसा व्यवहार वैसा संस्कार—यह एक लंबी शृंखला है, जो मनुष्य को अच्छे या बुरे जीवन-निर्माण की दिशा में गतिशील करती है।

शरीर जड़ है, उसमें पाप-पुण्य का खेल नहीं है। इन्द्रियों की ज्ञान-शक्ति सीमित है, वे केवल अपने-अपने शब्द, रूप आदि विषयों का ज्ञान करने के बाद आगे होने वाले अच्छे-बुरे तथा सुख-दुःख के विकल्पों के करने में अशक्त हैं। उनमें अच्छे या बुरे भावों के करने का सामर्थ्य नहीं है। मन ही एक ऐसा है, जो शुभ-अशुभ भावों के विकल्पों का सूत्रधार है। आत्म-चेतना का प्रकाश मन को ही मिला है। इन्द्रियजन्य ज्ञान के बाद उसके विषयों पर अच्छे-बुरे की मोहर मन ही लगाता है। अतः मन ही बन्ध है, जब वह राग-द्वेष के विकल्पों से विषयासक्त होता है। और मन ही मोक्ष है, जब वह स्वभावरूप हो कर विषयों से विरक्त होकर आत्म-लीन होता है। बन्ध-मोक्ष का हेतु मन अर्थात् भाव ही को आचार्यों ने माना है—‘मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।’

दो व्यक्ति एक बाग में पहुँचे। दोनों ने ही अपनी आँखों से वृक्षों पर फूल भी देखे हैं, फल भी देखे हैं। यहाँ तक इन्द्रियजन्य ज्ञान के रूप में वस्तु-बोध दोनों का एक जैसा है। अब आगे देखिए। एक कहता है, फूल और फल अच्छे हैं, लेने चाहिए। यहाँ राग की रेखा उभर रही है। दूसरा कहता है, खरीद लो, चोरी नहीं करनी चाहिए। माली को देखो, मैं भी खरीद लूँगा। दूसरे की इच्छारूप रागात्मक वृत्ति नीति के क्षेत्र में है। किन्तु पहले ने चोरी से फल-फूल तोड़ ही लिए मना करने पर भी, यह राग नीति के क्षेत्र में पहुँच गया है। वह फल-फूल तोड़ कर चला, किन्तु फिर वापस लौट कर आया कि चलो, परिवार के लिए और भी ले चलें, सब घर वाले भी खुश हो जाएंगे। और उसने वापस लौट कर फल-फूल तोड़ कर झोली भर ली और हंसता हुआ चल दिया। यह हरकत अन्याय, अत्याचार के शिखर पर पहुँच गई। आपने देखा, प्रथम के दोनों द्रष्टाओं के देखने-सोचने के विचारों में कितना अन्तर पड़ गया है, मन के भावों के कारण।

भगवान् महावीर के दो प्रमुख शिष्य हैं, एक है गौतम और दूसरा है गोशाला। दोनों ही भगवान् के पास रहे हैं, दर्शन किये हैं, वाणी सुनी है। पर दोनों में कितना अन्तर? गोशाला, जिसके प्राणों की रक्षा एक बार भगवान् ने की थी, इतना दुर्मनोवृत्ति का व्यक्ति है कि श्रावस्ती में एक दिन अपने तेजोवल से भगवान् के दो साधुओं को समवसरण में भस्म कर देता है, और भगवान् पर भी तेजोलेश्या छोड़कर उन्हें भी भस्म करने का प्रयत्न करता है। यह ठीक है कि भगवान् भस्म न हुए, पर उसने तो भस्म करने की दृष्टि से पाप का बन्ध कर ही लिया। और गौतम है कि भगवान् के प्रति इतना अनुराग कि जिसकी तुलना अन्यत्र कहीं हो नहीं सकती। गोशाला भगवान् को पा कर भी भटक गया। और गौतम भगवान् को पा कर संसार सागर से पार हो गया। भगवान् वीतराग हैं। दोनों के प्रति सम हैं। पर, दोनों अपने-अपने भावों से अलग-अलग स्थिति में पहुँच जाते हैं।

एक व्यक्ति मन में राम की बात सोचता है, मुंह से राम बोलना चाहता है, पर जल्दी में अचकचा कर मुंह से राम की जगह रावण निकल जाता है। बताइए उसने वस्तुतः निश्चय में राम बोला है या रावण? स्पष्ट है भाव में राम है तो वह राम बोलने के शुभ भाव का अधिकारी है। महर्षि वाल्मीकि डाकू थे, बड़े ही भयंकर। नारद का उपदेश पाकर रामनाम जपने लगे, तो राम की जगह मरा-मरा बोलने लगे। पर उसी में उन्हें राम की प्राप्ति हो गई। ‘उलटा नाम जपत जग जाना! भयऊ वाल्मीकि ब्रह्म समाना।’

धर्म के पालन और प्रचार में भी मानव की भावधारा का ही महत्त्व है। जब व्यक्ति के मन में सहज दृढ़-भावना होती है, धर्म के प्रति समर्पण की ज्योति प्रज्वलित रहती है, अपने सुख-दुःख की चिन्ता छोड़ कर प्रभु के सन्देशों को घर-घर द्वार-द्वार पहुँचाने का मन में तूफान होता है, तब वह धर्म के प्रचार-प्रसार में अपना जीवन होम देता है। तब उसके पुरुषार्थ से धर्म के वे फूल खिलते हैं, जो अपनी महक से जन-जीवन को मुग्ध कर देते हैं। ऐसा साधक धर्म का सहज रूप जनता के सामने रखता है, और सर्व-साधारण को उसका समान भागीदार बनाता है। वह पाप-पुण्य की व्याख्या भावों में करता है, बाहर में रोजी-रोटी के धंधों में नहीं करता। परन्तु, जब अंदर में दुर्बलता होती है, मानव सुख और आरामतलबी का शिकार हो कर परोपजीवी निष्क्रिय होने लगता है, तो वह बाहर के

हर श्रमप्रधान कार्यों में स्थूल हिंसा के कुछ अंश देख कर उनसे खुद भी अलग होने लगता है, और दूसरों को भी पाप-पाप का ढोल बजाकर निष्क्रिय बना देता है।

कुछ भाई प्रश्न कर रहे थे कि भगवान् महावीर की पुण्यभूमि विहार, बंग और उत्कल आदि में, जहाँ जैन-धर्म का इतना प्रचार-प्रसार था, हजारों, साधु यत्र-तत्र विहार कर के धर्म की ज्योति प्रज्वलित कर रहे थे, धर्म कैसे नष्ट हुआ? आज इन प्रान्तों के मूल निवासी कोई भी जैन क्यों नहीं हैं? क्या हुआ ऐसा कि यहाँ सब कुछ लुप्त हो गया?

मैंने कहा कि यह साधुओं की निष्क्रियता और धर्म की गलत व्याख्याओं का परिणाम है। बीच के साधु-समाज ने किसान, लुहार, कुम्हार, सुनार, राजा, सेनापति आदि के हर काम को धर्म के विरुद्ध एकान्त पाप ठहरा कर वर्जित करार दे दिया। कृषि में, शिल्प में, उद्योग-धंधों में, राष्ट्र-रक्षा में, अन्याय-अत्याचार के प्रतिकार में एकान्त पाप का नारा बुलंद किया और इन सबको नरक का हेतु बनाया। उसका यह परिणाम हुआ कि सर्वसाधारण जनता का जैनत्व से संपर्कसूत्र टूट गया। जब कि भगवान् महावीर के आनंद जैसे अनेक कृषि एवं पशुपालन करने वाले परम श्रावक थे। शकटार जैसे कुंभकार शिल्पी उच्च कोटि के उपासकों में थे। चेटक जैसे राजा और युद्धवीर सेनापति वारह व्रतधारी श्रमणोपासक थे। भगवान् का धर्म तो हर क्षेत्र में फैला हुआ था। भगवान् कर्म की पृष्ठ-भूमि में रहने वाले भावों को महत्त्व देते थे, जबकि पीछे से उन्हीं के अनुयायी भावना को छोड़ कर केवल कर्म के बाह्य अच्छे-बुरे रूप में उलझ गए। सबको पापी और अपने को धर्मात्मा घोषित करने का पाखण्ड खड़ा कर दिया, जो आज भी यत्र-तत्र देखने को मिलता है। जिस धर्म को पास जनता नहीं रहती, चन्द लोग ही जिसके उपासक रह जाते हैं, उस धर्म का भविष्य सुरक्षित नहीं रह सकता। जब पूर्व-भारत में कुछ धर्म विरोधी राजाओं का भिक्षुओं पर आक्रमण होने लगा, उन्हें मारा जाने लगा, तो जनता में से कोई भी बचाव के लिए आगे नहीं आया। जरा भी सद्भावना नहीं थी, जनता के मन में। धर्मध्वजी तन कर खड़े नहीं रह सके। प्राण-रक्षा के मोह में भिक्षु भाग खड़े हुए। विराट् प्रदेश सूना हो गया भिक्षुओं से। और, इसके साथ ही वहाँ जैन-धर्म की ज्योति धूमिल होते-होते बुझती चली गई और बुझ ही गई।

भगवान् महावीर तो केवलज्ञानी थे। वे यदि जानते कि कृषि महारंभ है, और महारंभ सीधा ही नरक का पथ है, तो आनन्द तथा महाशतक आदि को कैसे अपने तीर्थ में सम्मिलित करते? अस्सी-अस्सी हजार गायों को रखने वाले गहाशतक जैसे हिंसाकर्मी लोगों को कैसे अपने संघ में आदर का स्थान देते? भगवान् इस प्रकार गलत वृत्ति से किए जाने वाले अनर्थदण्ड का विरोध करते हैं। गृहस्थ के लिए अर्थदण्ड की एकान्त विरक्ति का अनिवार्य नियम नहीं है। परन्तु, अनर्थदण्ड का त्याग करना तो अनिवार्य है।

अहिंसा का गलत आग्रह एवं बोध जैन इतिहास में जैन धर्म की प्रगति का सबसे बड़ा अवरोधक रहा है। इस गलत बोध ने आगे चलकर तो बड़ा ही गलत मोड़ लिया। भूखे को भोजन कराने में पाप। प्यासे को पानी पिला देने में पाप। सर्दी में ठिठुरते गरीब भाई-बहन को वस्त्र देने में पाप। यहाँ तक कि रोगी को दवा देने में भी पाप बताया जाने लगा। इसलिए कि असंयमी को सहयोग देने में पाप ही तो होगा। और क्या होगा? इस पर से स्पष्ट हो जाता है कि कर्म की शुभ-अशुभ भावनाओं को तिलांजलि दे कर केवल कर्म के स्थूल बाह्य रूप से चिपट कर रह गए। और इस चिपटाव ने जैन-धर्म को सर्वसाधारण जनता में अव्यवहार्य बना दिया। एक युग था, जब जैन धर्म भारत और भारत के बाहर दूर-दूर तक के क्षितिजों को छूता था। सब ओर उसकी धर्म-दुन्दुभि वज रही थी। ६४० ईस्वी के लगभग चीनी बौद्ध भिक्षु हुएनसांग जब भारत आया था, तो उसे गांधार—आज के अफ-गानिस्तान में श्वेताम्बर और दिग्म्बर दोनों ही जैन साधु मिले थे, जो वहाँ अच्छी प्रतिष्ठा पाए हुए थे। पेशावर और काश्मीर में भी उसकी जैन मुनियों से भेंट हुई थी। बौद्ध-साहित्य में लिखा है कि वर्मा का एक राजा जैन था। इस पर से प्रमाणित होता है कि जैन धर्म की प्रसार सीमाएं कितनी दूर-दूर थीं और वहाँ के राजवंशों में भी उसका प्रवेश था। यह गौरव स्थिति क्यों समाप्त हुई! कारण एक मात्र यही है कि शुद्ध जैनत्व भावपक्ष से शून्य हो कर बाहर के क्षुद्र क्रिया-काण्डों के जंगल में भटक गया, जनजीवन में अव्यवहार्य हो गया, फलतः सिमटता-सिमटता भारत के इने-गिने प्रदेशों में, वह भी अमुक छोटे से व्यापारी वर्ग में ही अवरुद्ध एवं सीमित रह गया।



यदि ऋषि तथा कुम्हार, लुहार, माली आदि के कर्मकर्ता किसान और कारीगर, जघन्य पाप क्षेत्र के व्यक्ति होते तो भगवान् ऋषभदेव, जब कि वे गृहस्थ में भी तीन उत्तम ज्ञान के धर्ता थे, क्यों इन पाप-कर्मों का उपदेश देते, जनता को सिखाते ? पाप-कर्म करने वाले की अपेक्षा पाप-कर्म का उपदेष्टा अधिक पापी होता है। न भगवान् ये सब सिखाते, और न आज तक यह पाप-कर्म की परंपरा इतनी लंबी होती। स्पष्ट है जैन धर्म में गृहस्थ के लिए ये निषिद्ध नहीं थे। अपितु, सात्विक श्रम के द्वारा आजीविका के साधन होने से मानवजाति को चोरी, डकैती, हत्या आदि अनैतिक पाप-कर्मों से बचाने वाले थे। जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति में स्पष्ट लिखा है कि ऋषभदेवजी ने यह सब प्रजा के हित के लिए उपदेश दिया था। और जिस में हित बुद्धि है वह शुभ होता है या अशुभ, पुण्य होता है या पाप ? कुछ तो दिल-दिमाग से सोचने का कष्ट करना चाहिए। क्या वे बीच के धर्म-धुरंधर, या आज के तथा-कथित पाप भीरू भगवान् ऋषभदेव से भी अपने को अधिक ज्ञानी समझते हैं, जो सब ओर नकार की तटबंदी करके जैनत्व के विराट् क्षीरसागर को गाँव की क्षुद्र तलैया बना रहे हैं।

धर्म का गौरव ये जीवनोपयोगी कर्म नष्ट नहीं करते हैं, अपितु वे लोग नष्ट करते हैं, जो ठाली बैठे धर्म के नाम पर बाल की खाल निकाला करते हैं। व्यर्थ के तर्क-वितर्क से जन-मानस को भ्रान्त करते हैं। एक जगहकी बात है, दो भाई दर्शन करने आए। एक भाई पास आकर चरण छूने लगा तो दूसरा भाई बोला, अरे रे, यह क्या कर रहा है। महाराज को मत छूओ। मैंने पूछा, क्या बात है ? उस भाई ने बड़ी गंभीर मुद्रा में बताया, महाराज यह अभी नीचे पानी पीकर आया है। वह कच्चा पानी है पेट में, फासू कहाँ हुआ है अभी इतनी जल्दी। मैं हंस पड़ा, विचित्र बात है। क्या साधु, संघट्टे का दोष बचाने के लिए हर आंगंतुक से पूछे कि वह क्या खा कर और पी कर आया है ? और उसकी उदरदरी में यदि कोई सचिंत अभी है, तो उससे उक्त सूक्ष्म तर्क के आधार पर पूछा भी तो नहीं जा सकता। उसे पूछना और उसका उत्तर में बोलना भी तो दोष होगा इस तरह। एक वार एक भाई ने ऐसा ही विचित्र तर्क उपस्थित किया था कि गर्भवती स्त्री का साध्वी को छूना ठीक नहीं है। क्या पता, गर्भ में लड़का हो तो उसके संघट्टे का, स्पर्श का दोष लग सकता है। इस प्रकार बहुत बारीक कातने का गौरव अच्छी-से-अच्छी धर्म-परंपरा को अव्यवहार्य एवं हास्यास्पद बना देता है।

अपनी आडंबरपूर्ण थोथी मान्यताओं के कारण धर्म के प्रसार का ह्रास हुआ है। किन्तु आज का भिक्षु दंभ करता है कि हमारा आचार, हमारा क्रियाकण्ड इतना उग्र है कि विदेशों में या भारत के सीमा प्रदेशों में नहीं पल सकता। इसलिए हम उन विकट प्रदेशों में नहीं जा सकते, ताकि जैन-धर्म का प्रचार-प्रसार हो। मैं पूछता हूँ, बिहार, बंगाल में तो आपका आचार-विचार अच्छा पलता था, वहाँ तो भगवान् महावीर और उनके हजारों साधु-साध्वी विहार करते थे, वहाँ से आप क्यों भाग खड़े हुए ? प्रश्न आचार का उतना नहीं है, जितना कि जीवट का है, सही दृष्टि एवं सही बोध का है। विकट से विकट परिस्थितियों में भी जीवट के धनी एवं सही बोध के साधक अपना आचार-विचार पाल सकते हैं, और धर्म का उचित प्रचार-प्रसार कर सकते हैं। अपेक्षा है साहस के साथ, धर्म के साथ कर्म में, और कर्म के साथ धर्म में पूर्ण शक्ति से जुझने की।

उक्त लंबी चर्चा का एक ही मूल तत्त्व है कि कर्म के अच्छे-बुरे का मूल बाहर के कर्म में नहीं है, कर्म से पूर्व एवं कर्म के अन्त तक कर्म के कर्ता के मन में जो अच्छी या बुरी भावधारा बह रही है, उसमें है। हर कर्म पहले मन में ही विचार रूप में अंकुरित होता है। 'मनो पुञ्जंगमा धम्मा।' मन को पवित्र एवं प्रबुद्ध रख कर प्राप्त कर्म किए जाओ, फिर कहीं पाप नहीं है। पाप और पुण्य अशुभ एवं शुभ भावों पर आधारित होते हैं—'शुभः पुण्यस्य अशुभः पापस्य।'



**ऊपर तरंग, भीतर प्रशान्त सागर**

**“अथिरे पलोदुह, नो थिरे पलोदुह ।  
अथिरे भज्जइ, नो थिरे भज्जइ ।”**

जो अस्थिर है, वह क्षणजीवी है, वह टूटता है, मिटता है। वह परिवर्तित होता है।  
किन्तु जो स्थिर है, वह भग्न नहीं होता। वह शान्त है, सनातन है, अविनाशी है।

साधना के कुछ रूप ऐसे भी हैं, जो बाह्य प्रकृति से सम्बन्धित हैं। बाहर के देश, काल आदि निमित्तों का साधना पर प्रभाव पड़ता है। यह सर्वत्र सत्य है कि साधना एक अन्तरंग अध्यात्म-चेतना है। उस पर बाहर की प्रकृति का क्या प्रभाव पड़ सकता है? यह बात सत्य है। फिर भी साधक जब तक उच्च भूमिकाओं पर नहीं पहुँचता है, तब तक नीचे की भूमिकाओं पर वह बाह्य निमित्तों से यथाप्रसंग प्रभावित हो ही जाता है। इसी हेतु साधक के लिए भोजन, भवन, वसन आदि से सम्बन्धित अनेक नियमोपनियमों की, विधि-निषेधों की व्यवस्था की गई है।

साधना अर्थात् धर्मचर्या के दो रूप हैं—एक अंतरंग और दूसरा बहिरंग। अंतरंग रूप वह है, जिसमें साधक अंदर में जागृत रहता है, निरन्तर अन्तरात्मा का सम्मार्जन एवं परिमार्जन करता रहता है, काम, क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष आदि मनोविकारों को क्षीण करता रहता है, और सत्य, अहिंसा, दया, करुणा, क्षमा, सन्तोष आदि सद्गुणों को विकसित करता रहता है। साधना अर्थात् साधकचर्या का यह रूप अन्तरात्मा से सम्बन्धित है, जिसे हम दर्शन की भाषा में अन्तर्यात्रा कहते हैं।

साधना का दूसरा रूप बहिरंग है। यह अंतरंग साधना के विकास के लिए, सर्व-साधारण साधकों की दृष्टि से बाहर में की जाने वाली विशिष्ट देश और काल आदि से सम्बन्धित चर्या है, रहन-सहन है। यह साधक की बहिर्यात्रा है। इसका सम्बन्ध बाह्य-प्रकृति से है, शरीर आदि से है। इस पर देश, काल आदि निमित्तों का प्रभाव पड़ता है। साधारण साधक इस प्रभाव से सर्वथा मुक्त होने का दावा नहीं कर सकता।

अंतरंग साधना अपरिवर्तित है। उसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन या बदलाव न कभी हुआ है, और न कभी होगा। यह साधना वीतराग-भाव की साधना है। अतीत में अनन्त-अनन्त तीर्थंकर एवं आचार्य हो चुके हैं, किन्तु किसी ने यह नहीं कहा कि वीतराग भाव के बिना भी मुक्ति हो सकती है। किसी ने यह नहीं कहा कि क्रोध, मान, माया, लोभ के होते हुए भी कोई बन्धन मुक्त हो सकता है। कभी राग और द्वेष से भी मुक्ति हो सकती है, यह कभी कहा है किसी तीर्थंकर ने, किसी धर्माचार्य ने या किसी अन्य साधारण साधक ने भी? नहीं, किसी ने भी कभी ऐसा नहीं कहा है। सब-के-सब एक स्वर से यही कहते रहे हैं कि एकमात्र वीतराग-भाव से ही मुक्ति है। दूसरा कोई इससे विपरीत पथ है ही नहीं। “नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय” जब तक वीतराग-भाव प्राप्त न हो, तब तक संसार के बन्धन से मुक्ति न कभी मिली है, न कभी मिलेगी। इस प्रकार अंतरंग साधना में, जिसे मैं अन्तर्यात्रा कहता हूँ, कहीं पर भी, कोई भी मतभेद नहीं है।

शाश्वत एवं सार्वत्रिक सत्य देश, काल आदि से नहीं बंधता है। यदि उस पर देश, काल आदि का प्रभाव पड़ता है, और उससे कुछ परिवर्तित होता है, तो वह सामयिक एवं देशिक सत्य है, शाश्वत सत्य नहीं। आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर तक अनेक परिवर्तन हुए हैं, बाह्य विधि-निषेधों में, इस बीच कितने ही विधि निषेध बन गए हैं और कितने ही निषेध विधि, परन्तु अंतरंग वीतराग-भाव की साधना में सर्वत्र एकरूपता है, एकसूत्रता है। वीतरागभाव के पक्ष में सब तीर्थंकरों की एक वाक्यता है, भले वे भारत देश के हों, चाहे महाविदेह आदि विदेशों के हों; चाहे वे अतीत के हों, भविष्य के हों या वर्तमान के हों। वीतरागता आत्मलक्षी है, अतः उसमें कब, कहाँ, क्या होना चाहिए और कब, कहाँ, क्या नहीं होना चाहिए; इस चाहिए और न चाहिए का कभी कोई अर्थ ही नहीं होगा। यह चाहिए और न चाहिए, तो समाज से सम्बन्धित होते हैं। क्योंकि समाज का एक निश्चित रूप नहीं होता। वह देश, काल आदि की बदलती परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। अतः समाज का सत्य या तो देशिक होगा, या सामाजिक होगा। वह शाश्वत एवं सार्वत्रिक नहीं होगा।

वीतराग-भाव का पथ ही विलक्षण है। अतः वीतरागता का अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहरूप जो विधि-निषेध की धारणा के रूप में महाव्रत एवं अणुव्रत हैं, उनसे भी साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। आगम की भाषा में यह व्यवहार चारित्र्य है। और व्यवहार चारित्र्य देश, काल आदि की परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित होता रहता है, अतः उसमें नियमों की प्रतिबद्धता के फल स्वरूप कहीं संकल्पपूर्वक करने का राग होता है, तो कहीं न करने का द्वेष भी होता है। जन्म-मरण एवं संसार परिभ्रमण का भय भी कहीं किसी अंश में समाया होता

है। नरक में होने वाले दुःखों के भय से जो व्यक्ति अहिंसा आदि व्रतों का पालन करता है, वह भयमुक्त कहाँ है? वह भय से पीड़ित है, सहज नहीं है। और जहाँ भय है, भय-मूलक द्वेष है, वहाँ वीतरागता कहाँ हो सकती है? और जो स्वर्गादि सुख के लिए अहिंसा आदि संयम की साधना करता है, वह भी वीतराग नहीं है। क्योंकि सुख का राग भी अपने में एक बहुत बड़ा राग है, अतः जहाँ राग है, आसक्ति है, कामना है, वहाँ भी वीतरागता नहीं है। और जहाँ वीतरागता नहीं है, वहाँ धर्म भी नहीं है। आत्मा का निज स्वभाव ही तो धर्म है 'बत्थुसहाओ धम्मो' के सिद्धान्तानुसार। और राग आत्मा का निज स्वभाव नहीं है, परभाव है, अतः वह धर्म नहीं है। राग-युक्त संयम की साधना से पुण्य हो सकता है, धर्म नहीं। पर-वस्तु में इष्ट-अनिष्ट की परिकल्पना करना, शास्त्र-दृष्टि में मोह का विकल्प ही है और कुछ नहीं। इस सम्बन्ध में आचार्य अमितगति का वचन मननीय है :

“इष्टोऽपि मोहतोऽनिष्टो भावोऽनिष्टस्तथा परः ।  
न द्रव्यं तत्त्वतः किञ्चिद्विष्टानिष्टं हि विद्यते ॥”

—योगसार प्राभृत ५।३६

यही बात भोजक और अभोजक के सम्बन्ध में है। बाहर में भोक्ता होता हुआ भी वीतराग अन्दर में अभोक्ता है। और सराग आत्मा बाहर में अभोक्ता होता हुआ भी अन्दर में भोक्ता ही रहता है।

“द्रव्यतो भोजका कश्चिद् भावतोऽस्ति त्वभोजकः ।  
भावतो भोजकस्त्वन्यो द्रव्यतोऽस्ति त्वभोजकः ॥”

—योगसार प्राभृत ५।५५

व्यवहार चारित्र प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप है। इसमें करने, न करने का संकल्प स्पष्टतः परिलक्षित होता है। इसमें आग्रह से मुक्ति नहीं है, अतः समत्व नहीं है। समत्व वहीं होता है, जहाँ आत्मा मोह और क्षोभ से मुक्त होता है। उक्त मोह-क्षोभ से मुक्त-स्वरूप समत्व के होने पर यदि कोई प्रवृत्ति या निवृत्ति होती भी है, तो वह सहज होती है, स्वभावसिद्ध होती है, अतः उसमें विधि-निषेध का संकल्पजन्य आग्रह जैसा कुछ नहीं होता। वस्तुतः यही निर्मल, शुद्ध, आत्मस्वरूप वीतराग-भाव निश्चय चारित्र है।

चारित्रं खलु धम्मो,  
धम्मो जो सो समो त्ति णिदिट्ठो ।  
मोहक्खोह विहीणो,  
परिणामो अप्पणो हु समो ॥

—प्रवचनसार, गाथा ७

उक्त विवेचन पर से स्पष्ट हो जाता है कि स्वरूप-लीनता निश्चय है, और नियम-लीनता व्यवहार है। स्वरूप-लीनता इसीलिए देश-कालादिजन्य परिवर्तन से परे है, चूँकि वह स्वरूप-लीनता है। स्वरूप में भला क्या परिवर्तन होगा, और वह क्यों होगा? स्वरूप हमेशा क्या और क्यों के विकल्पों से परे होता है।

परिवर्तन व्यवहार में होता है। क्योंकि व्यवहार हमेशा से ही देश, काल आदि से प्रभावित होता आया है। एक युग का व्यवहार दूसरे युग में अव्यवहार हो जाता है। एक देश की मान्यताएँ दूसरे देश में अमान्य हो जाती हैं। आज के युग में बहन-भाई का वैवाहिक सम्बन्ध जघन्य अपराध माना जाता है। किन्तु, जैन पुराण तथा वैदिक पुराणों की अनुश्रुतियों के अनुसार यौगलिक अकर्मभूमि आदि के युग में ऐसा कुछ नहीं था। उस युग के लोक-जीवन में यह एक सामान्य बात थी। इसका न्याय या अन्याय से कुछ भी सम्बन्ध नहीं था।

जैन, बौद्ध और वैदिक पुराण कहते हैं कि स्वर्गलोक में स्त्रियाँ कामचारा हैं। एक देवी पहले एक देव की भोग्या होती है, वही बाद में दूसरे देव की भोग्या भी हो जाती है। स्वर्ग में यह सब न्यायोचित है। कभी भारतभूमि पर भी यही स्थिति थी। महाभारत और वाल्मीकि रामायण आदि इसके साक्षी हैं। द्रौपदी के पाँच

पति भी एक युग में विहित माने गये थे। द्रौपदी के समान कितनी ही अन्य नारियों का उल्लेख भी महाभारत में है। यह सब देश, काल का खेल है। इस खेल का प्रभाव पड़ता है समाज पर। और, इसी प्रभाव से समाज अपने विधि-निषेधों की अच्छाई-बुराई का पथ बदलता रहता है।

यह स्थिति लोक-जीवन की ही नहीं है। धार्मिक-परंपराओं के जीवन में भी सामाजिक धरातल पर ऐसा ही कुछ होता रहता है। धार्मिक क्षेत्र के रंगमंच पर भी विधि-निषेधों के पात्र अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार यथाप्रसंग आते-जाते रहते हैं। आदिम मानव सम्यता के युग में प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने साधुचर्या के कुछ विधि-निषेध प्ररूपित किये थे, दूसरे तीर्थंकर भगवान् अजितनाथ ने उनमें कुछ को बदल दिया। नियमों की कठोरता को मृदु बना दिया। और यह मृदु भाव की परंपरा थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ तक चलती आई। अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने पुनः मृदुभाव की परंपरा को बदल कर उसे कुछ और अधिक कसा। पहले हर किसी रंग रूप एवं मूल्य का वस्त्र भिक्षु पहन सकते थे। भगवान् महावीर ने जिन-कल्प के आधार पर नग्नता पर बल दिया। और जब पार्श्वनाथ का संघ महावीर के संघ में मिला, तो आपवादिक रूप में श्वेत-वस्त्र को मान्यता मिल गयी। पहले वर्षावास के सम्बन्ध में कोई एक नियत मान्यता नहीं थी। भगवान् महावीर ने उसे चार मास के रूप में, विशेष स्थिति के अनुसार ७० दिन के रूप में नियन्त्रित कर दिया। भगवान् महावीर के बाद भी अनेक आचार्यों ने अपने-अपने देश-काल के अनुसार परिस्थितिवश परम्परागत नियमों में परिवर्तन किये हैं, जैन इतिहास इसका मुक्त-घोष से साक्षी है।

दिन के तीसरे प्रहर में गोचरी करने का नियम बदला या नहीं? दिन में एक बार भोजन और जल-पान करने का नियम, जो आज भी दिगम्बर-परम्परा में प्रचलित है, श्वेताम्बर-परम्पराओं में बदला या नहीं? वस्त्र न धोने का नियम भी बदला है। अब साधुओं द्वारा वस्त्र धोये जाते हैं, जब कि आचारांग सूत्र में इसका निषेध है। निशीथ सूत्र में लिखने का, गाने का निषेध है साधु के लिए। और आज क्या है, यह सबके समक्ष है।

आचार्य जिनदास ने निशीथचूर्ण में कहा है कि सिन्धु जैसे देशों में यदि भिक्षु बढ़िया श्वेत वस्त्र धारण करता है, तो कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि वहाँ की सर्व-साधारण जनता भी अच्छे वस्त्र पहनती है। परन्तु कुछ अन्य देशों में अच्छे बढ़िया वस्त्र भिक्षु को नहीं धारण करने चाहिए, क्योंकि वहाँ दरिद्र जनता होने से चोरी का उपद्रव हो सकता है।

इसी प्रकार एक जाति एक देश में अस्पृश्य समझी जाती है, तो वही दूसरे देश में स्पृश्य मानी जाती है। जैन-धर्म में जाति सम्बन्धी इस स्पृश्यास्पृश्य व्यवस्था को कोई मान्यता नहीं है। फिर भी परिस्थितिवश समस्या का समाधान करना हो, तो इस सम्बन्ध में जो जहाँ का लोकाचार हो, तदनुकूल वहाँ वैसा कर लेना चाहिए। आचार्यकल्प पं० आशाधरजी ने सागर धर्माभूत में कहा है कि जैनों को अपने-अपने देश, क्षेत्र और जाति आदि के सभी लोकाचार मान्य हैं। हाँ, यह अवश्य देख लेना चाहिए कि मूल सम्यक्त्व में कोई हानि न होने पाये और न स्वीकृत व्रतों में कोई दूषण लगे :

**“सर्व एव हि जैनानां, प्रमाणं लौकिको विधिः ।  
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न, यत्र न व्रतदूषणम् ॥”**

अनेक जैन आचार हैं; जो व्यवहार-पक्ष के हैं, उनमें सर्वत्र यही मार्ग अपनाया गया है। परिस्थिति आने पर कुछ जल-धाराओं को पैदल पार किया जा सकता है और गंगा जैसी कुछ विशाल जल-धाराओं को नौका की सवारी से पार किया जा सकता है। साधु-साध्वी परस्पर न छुएं। किन्तु डूबतों को बचाने के लिए या रोगादि में सेवा-शुश्रूषा के लिए यह सब-कुछ किया जा सकता है। व्यवहार नियमों की साधना में ऐकान्तिक जैसा कुछ नहीं है। यहाँ परिस्थिति ही एक मुख्य है। परिस्थिति के अनुसार हर नियम के साथ अपवाद है। जितने उत्सर्ग हैं, उतने ही अपवाद हैं—“जावइया उस्सग्गा तावइया जेव हुंति अब्वाया ।” किन्तु इन सब व्यावहारिक परिवर्तनों के मूल में एक बात ध्यान में रखने जैसी है कि साधक का अन्तर्हृदय पवित्र है कि नहीं? अंतरंग में वीतराग-भाव सुरक्षित है कि नहीं? यदि मन पवित्र है, वीत-रागभाव सुरक्षित है, तो सब ठीक है। अन्यथा, तो अन्यथा है ही।





# मन के जीते जीत

मन का हारा ही हारा है,  
मन का जीता ही जीता है।  
तन में प्राण रहे तो क्या है,  
मृत है, जो मन से रीता है ॥

विश्व के अनन्त-अनन्त प्राणी अनन्त काल से बहुत लम्बी यात्रा करते आ रहे हैं। इस यात्रा में उन्हें अनेक बार अच्छे साधन भी मिले हैं। स्वर्ग में उन्हें बहुत वैभव मिला, भोग-विलास के साधन मिले, पर उससे बना क्या? क्या वैभव के बल पर वे अपने लक्ष्य को पाने में सफल हो सके? वैभव पाने के बाद भी वे अपना विकास नहीं कर सके, संसार में भी भटकते रहे। ब्रह्मादत्त चक्रवर्ती के पास साधनों की क्या कमी थी? छह खण्ड का राज्य उसे प्राप्त था। सम्पूर्ण भरतक्षेत्र पर उसका एकाधिपत्य था। पर इससे क्या उसे कुछ शान्ति मिली? इतना पाने पर भी उसकी तृष्णा की आग बुझी नहीं, अपितु अधिकाधिक भड़कती ही गई, भोगों की लालसा परेशान ही करती रही। आखिर इसका परिणाम यह आया कि वह पतन के महागर्त में जा गिरा, और मरकर सातवें नरक में जा पहुँचा। जरासंध और रावण जैसे शक्ति-सम्पन्न सम्राटों के पास वैभव की क्या कमी थी? रावण की लंका तो सोने की बनी हुई थी और वह आकाश में पुष्पक विमान से उड़ता था। पुराणों में बताया गया है कि उसकी पहुँच सूर्य तथा चन्द्रलोक तक भी थी। परन्तु इस वैभव और शक्ति से इन जरासंधों और रावणों को मिला क्या? अन्याय और अत्याचार के द्वारा जब तक यहाँ रहे धरा पर हाहाकार मचाते रहे, स्वर्ग-सी धरती को नरक बनाते रहे, और अन्त में स्वयं नरक में जा पहुँचे। इतना विशाल वैभव पाया, पर पीछे क्या छोड़ गए? और तो क्या, उनका नाम भी कोई आदरपूर्वक नहीं लेता। यदि रावण का, कंस का या जरासंध का कभी प्रातःकाल नाम सुनने में आ जाए, तो सहसा मनुष्य का मन घृणा और नफरत से भर जाता है। उसे किसी अनिष्ट की आशंका होने लगती है। इसका एकमात्र कारण यह है कि वैभव के प्राप्त होने से ही सब-कुछ नहीं हो जाता। सत्कर्म करने के लिए जीवन में सद्बुद्धि एवं विवेक का जागृत होना आवश्यक है। यदि वैभव के साथ विवेक नहीं है, तो वह वैभव विनाश का ही कारण बनेगा। महत्त्व वस्तु के प्राप्त होने का नहीं, महत्त्व है—उसके सदुपयोग का। यह मनुष्य-जीवन बहुत बड़े पुण्य से मिला है। श्रमण भगवान् महावीर ने पावापुरी के अपने अन्तिम प्रवचन में कहा था—“दुल्लहे खलु मानुसे भवे”—मनुष्य-जन्म निश्चय ही दुर्लभ है। आचार्य शंकर ने भी कहा है “नरत्वं दुर्लभं लोके”—इस लोक में मनुष्यत्व का मिलना दुर्लभ है। सन्त तुलसीदास ने भी कहा है कि बड़े भाम्य से मनुष्य का तन मिला है। देवताओं, मुनियों और ऋषियों ने मानव-जीवन पाने-वाले व्यक्ति के भाम्य की सराहना की है—

“बड़े भाग मानुस तन पावा,  
सुर-नर-मुनि सब दुर्लभ गावा।”

मानव-जीवन का कितना अधिक महत्त्व है। अनन्त-अनन्त पुण्य के फल-स्वरूप प्राणी को यह मनुष्य-जन्म मिलता है। पाँचों इन्द्रियाँ और मन प्राप्त हुआ है। इन्द्रियों का मिलना कोई मामूली बात नहीं है। मनुष्य की यदि कोई एक इन्द्रिय भी अपना काम करना बन्द कर दे, तो उसका अभाव खटक बिना नहीं रहेगा। कल ही एक बहन आई थी। उसे स्वाध्याय में बहुत रस आता है। स्वाध्याय में उसकी बहुत अभिरूचि है। मेरे साहित्य को उसने पढ़ा है। कल ही वह कह रही थी कि आपका ‘अध्यात्म प्रवचन’ बहुत पसन्द आया। बहुत अच्छी पुस्तक है। आपके प्रवचन सुनने की बहुत इच्छा है। परन्तु कर्णेंद्रिय ने काम करना बन्द कर दिया है। कुछ भी सुन नहीं सकती। इसका उसके मन में बहुत खेद था। कितने मूल्यवान् हैं ये छोटे-से कान। आँख का भी कितना महत्त्व है। आँख के बिना दिन में भी अंधेरी रात हो जाती है। व्यक्ति कुछ भी देख नहीं सकता। साधक के लिए भी आँख का काम महत्त्व नहीं है। इसके बिना वह जीवों की रक्षा कैसे करेगा, शास्त्राध्ययन कैसे कर सकेगा?

इसी राजगृही के सम्राट् श्रेणिक के पुत्र मेघकुमार का वर्णन आगम में आता है। उसने तीव्र वैराग्य-भाव से श्रमण भगवान् महावीर के निकट दीक्षा ग्रहण की। उसी रात्रि को सबसे छोटा साधु होने के कारण उसे शयन का स्थान सब साधुओं के अन्त में मिला। जमीन पर सोने का यह पहला अवसर था। नींद नहीं आ रही थी। कभी कुछ आती भी तो अन्त में आसन होने से अंधेरे में आने-जाने वाले साधुओं के चरण-स्पर्श से वह बीच-बीच में टूट जाती। रात भर नींद नहीं आई। मेघ का मन संयम से उखड़ गया। प्रातः वह भगवान् के पास गया, प्रभु से निवेदन किया कि मैं संयम के इस बेलुके कष्ट को सह नहीं सकता। मैं अपने घर जाना चाहता हूँ।

मन के जीते जीत

१०५

भगवान् महावीर ने उसके मन का समाधान करते हुए कहा—“मेघ संयम में रहने या नहीं रहने का निणय तो तुझे स्वयं करना है। हाँ, अपने स्वरूप और जीवन के महत्त्व को पहले अच्छी तरह समझ ले। कल रात साधुओं के आने-जाने से निद्रा-भंग के कारण तुझे जो कष्ट और वेदना हुई, उसका क्या महत्त्व है, उस जरा-सी बात का अपने में कोई अर्थ है? महत्त्व है उस वेदना का, जो तू ने एक प्राणी की रक्षा के लिए समभाव से सहन की है। पूर्वभ्रम में तू हाथी था। वन के दावानल से अपने प्राण बचाने के लिए तू अपने हाथियों के झुण्ड के साथ एक साफ मैदान में आ गया था। कुछ ही देर में विशाल मैदान जंगल के अन्य जानवरों से भर गया। एक शशक (खरगोश) प्राण-रक्षा के लिए किनारे-किनारे इधर-उधर धूम रहा था। उसे अन्दर बैठने को कहीं जगह नहीं मिल रही थी। उस समय तू ने शरीर खूजलाने के लिए अपना एक पैर ऊपर उठाया, तो उस रिक्त स्थान में वह खरगोश झट आकर बैठ गया। ‘पैर’ नीचे रखते समय तू ने उसे देखा, और सोचा कि यदि मैंने नीचे पैर रख दिया, तो यह बेचारा मर जाएगा। उसकी रक्षा के लिए तीन दिन तक तू ने अपना पैर ऊपर ही रखा। दावानल के शान्त हो जाने पर सब जानवर चले गए, तब तू अपने पैर को नीचे रखने लगा तो ठीक तरह रखा न जा सका—वह अकड़ गया था। इसलिए तू जमीन पर गिर गया। उस समय न तुझे कोई पानी पिलाने-वाला था और न भोजन देनेवाला। फिर भी तेरे मन में खरगोश पर आवेश और क्षोभ नहीं आया। कर्षणा के कोमल भावों में ही शान्तिपूर्वक अपने प्राणों का त्याग कर तू ने श्रेणिक के घर जन्म लिया। मेघ! उस वेदना के सामने यह कष्ट भी कोई कष्ट है, जिससे पीड़ित होकर तू संयम छोड़ने का विचार कर रहा है।”

अपने पूर्व जीवन की घटना सुनकर मधुमुनि की स्मृति अतीत में, पूर्वजन्म के अतीत में लौट गई। और जाति-स्मरण ज्ञान में वह सम्पूर्ण घटना चित्र आँखों के सामने आ गया। संयम पालन का पुनः दृढ़ संकल्प करते हुए मेघमुनि ने भगवान् महावीर के सामने प्रतिज्ञा की कि ‘प्रभो! संयम-पालन में उपयोगी इन दो आँखों की तो सुरक्षा करूँगा, परन्तु इनके अतिरिक्त मेरा समग्र तन वीतराग-पथ पर अर्पित है।’ अभिप्राय यह है कि साधना-क्षेत्र में भी आँखों का कितना महत्त्व है। मेघमुनि को भी आँखों की ही रक्षा का ध्यान आया।

परन्तु, मूल बात यह है कि यह तन और इन्द्रियाँ तो हमें पहले भी अनेक बार मिल चुकी हैं और इस जन्म में भी मिली हैं। परन्तु, इनका मिल जाना ही पर्याप्त नहीं है। इनके साथ विवेक की दृष्टि का होना ही जीवन-विकास के लिए उपयोगी है। क्योंकि किसी वस्तु का मिल जाना अपने में कोई खास महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण है—प्राप्त साधनों का विवेक के साथ सदुपयोग करना, उचित एवं योग्य कार्य में लगाना, सत्कर्म में लगाना। इन हाथों से आप अपने साथी को या अन्य जीवों को बचा सकते हैं। इन्हीं हाथों से दूसरे का गला भी घोट सकते हैं, जीवों का संहार भी कर सकते हैं, दूसरे की सम्पत्ति लूट सकते हैं। हाथ ये ही हैं, इनसे सत्कर्म करके पुण्य का उपार्जन कर सकते हैं और दुष्कर्म करके पाप-कर्म का बन्ध भी कर सकते हैं। इन आँखों से जीवों का भला करके, सन्तों के दर्शन करके, शास्त्रों का स्वाध्याय करके जीवन को उज्ज्वल भी बना सकते हैं और विषय-वासना के पोषण में लगाकर जीवन को पाप की कालिमा से कलुषित भी कर सकते हैं। यदि परिणाम शुभ हैं, मन में विवेक जागृत है, तो तन और इन्द्रियों का उपयोग सत्कर्म में ही होगा। यदि कभी तन की या इन्द्रियों की शक्ति मन्द या क्षीण भी हो गई, तब भी वह मन से शुभ-भावों के द्वारा पुण्य का संचय कर ही लेता है। आगम में नव प्रकार के पुण्य-बन्ध के कारणों में मन को भी पुण्य का कारण माना है—मन पुण्ये।

यदि गहराई से सोचा जाए तो समस्त सत्कर्मों का मूलस्रोत मन ही है और सभी प्रकार के दुष्कर्मों का उद्भव भी मन से ही होता है। कोई भी कर्म कैसा भी क्यों न हो, वह सर्वप्रथम मन में जन्म लेता है, उसके बाद क्रियात्मक रूप लेता है, आचरण में आता है और उस क्रिया से आनेवाले कर्मों का बन्ध भी मन के शुभ या अशुभ परिणामों के अनुरूप होता है। कभी-कभी बाहर में कुछ न करने पर भी व्यक्ति परिणामों से ही शुभाशुभ कर्म का बन्ध कर लेता है। वचन और तन की क्रिया से आसन्न रूप में केवल कर्म पुद्गल आते हैं, पर बन्ध नहीं पड़ता। परन्तु मन में होनेवाले स्पन्दन से कर्म पुद्गल आते भी हैं और परिणामों से उनका बन्ध भी होता है तथा परिणामों की विशुद्धता से पूर्ववद्ध कर्मों का क्षय भी होता है। इसलिए मन तन से अधिक महत्त्वपूर्ण साधन है—कर्म-बन्ध और कर्म-क्षय करने का।

तन्दुलमस्य का वर्णन आपने पढ़ा या सुना होगा ! चावल के दाने जितना लघु उसका शरीर होता है और कहा जाता है कि यह मगरमच्छ की आँख की पलक पर बैठा रहता है। मगरमच्छ को पता भी नहीं होता, कि कोई मेरी आँख पर बैठा है। जब जल प्रवाह के साथ बहती हुई मछलियाँ उस ओर आती हैं, तो वह भयभीत होकर दुबकता है, छिपता है। परन्तु, जब वह सोए हुए मगरमच्छ के मुँह में उसकी सांस के आने और जाने के साथ सँकड़ों ही मछलियों को उसके मुँह में जाते और वापिस लौटते देखता है, तो विचार करता है, कि इसे इतना विशाल देह मिला है, फिर भी कितना मूर्ख है, कि इन मछलियों को उदरस्थ नहीं करता। मुझे इतना विशाल शरीर मिला होता, तो मैं सामने से बहने वाली मछलियों में से एक को भी नहीं छोड़ता, सभी को एक झटके में निगल जाता। इन कलुषित परिणामों के कारण वह मरकर सातवें नरक में जाता है। बाहर से वह न तो किसी मछली के एक पंख को भी तोड़ पाता है और न खून का एक कतरा ही बहा सकता है, पर मन के दुष्ट परिणामों से सातवें नरक का बन्ध कर लेता है।

चक्रवर्ती सम्राट् भरत का उल्लेख आता है। उसने लम्बे समय तक भयंकर युद्ध किए। बाहर से कितनी बड़ी हिंसा की उसने। पर एक दिन शीशमहल में शृंगार करते समय अंगुली में से एक मुद्रिका के गिरते ही जब वह कान्तिहीन लगने लगी, तो उसने सारे आभूषण उतारकर देखा, शरीर का सौन्दर्य फीका-फीका लगा। भावों की धारा शरीर से हटकर अन्दर की गहराई में उतर गई। बाह्य विभूति की क्षणभंगुरता का बोध हो गया, मोह क्षीण हो गया और तत्काल वहीं केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई।

प्रश्न है, युद्धजन्य कर्म-बन्ध का क्या हुआ ? उत्तर है, वह कर्म-बंध शिथिल था, दृढ़ नहीं था, अतः तीव्र वैराग्यभाव से वह सहसा क्षीण हो गया, क्योंकि कर्म करते समय मन में तीव्र बन्ध करने जैसी आसक्ति नहीं थी। वह प्रजा की रक्षा के लिए अपने राज-कर्तव्य का पालन कर रहा था, पर परिणामों में कालुष्य नहीं था। इसलिए परिणामों के बदलते ही सब-कुछ बदल गया। कितनी बड़ी शक्ति है मन की। मन में विवेक की ज्योति जगने पर कर्म में परिवर्तन हो जाता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि शरीर एवं इन्द्रियों का सही ढंग से उपयोग करना और उन्हें सत्कम में लगाना ही महत्त्वपूर्ण है और भगवान् महावीर की यह दृष्टि यदि जीवन में उतर जाए, तो फिर अनन्त ज्योति के प्रकट होने में कुछ भी देर नहीं लगेगी।



**मार्ग, तुम्हें खोजना है**

**“प्रज्ञा समिक्खए धम्मं।”**

आचार की विभिन्नता है! विचारों की भीड़ है! पंथों की अधिकता है! सर्वमान्य कोई निश्चित मार्ग नहीं है भन्ते!

भद्र! प्रज्ञा से धर्म की समीक्षा करनी है और तत्त्व का निर्णय करना है। अन्धे को पथ-दर्शक बनाकर अभीष्ट मार्ग से दूर ही भटक जाओगे। इसलिए अपनी प्रज्ञा पर भरोसा रखो।



कोई भी पूर्व निर्धारित निश्चित राह नहीं है। हर यात्री का अपना ही एक नया पथ होता है। यह परम सत्य है कि मार्ग बने हुए नहीं होते, बनाने पड़ते हैं। जिन्दगी की नयी मंजिलों के लिए पुरानी पगडंडियाँ काम नहीं आती हैं।

पुराने पथ पर भी चलना हो, तो उसे साफ कर चलने योग्य बनाना होगा। देखते हो, पुराने पथ पर कितने झाड़-झंखाड़ खड़े हो गए हैं। कहीं बहुत गहरे अन्धगर्त हो गए हैं, तो कहीं ऊँचे टीले बन गए हैं। नुकीले काँटों से कितना आच्छन्न है पुराना पथ। यदि इस पुराने पथ पर भी चलना है, तो इसे ठीक करना होगा, झाड़-झंखाड़ों को साफ कर तथा गतों को पाटकर समतल बनाना होगा, और तब, यह पुराना पथ भी नया ही पथ हो जाएगा। यात्रा नये पथ पर ही सुखद होती है, यह सर्वानुभूत सत्य है।

नये पथ का निर्माण करो यात्री! तुम नये हो, तो तुम्हारा पथ भी नया। तुम्हारा हर कदम नया है, उसे नया पथ ही चाहिए। पुरानी लकीरों पर चले, तो क्या चले? लकीर के फकीर मत बनो। लकीर का फकीर अंधा होता है। उसकी अपनी आँख नहीं होती। वह दूसरों की आवाजों पर चलता है। और दूसरों की आवाजें कभी धोखा भी दे जाती हैं।

सुना है तुमने लीक-लीक कौन चलता है? लीक-लीक चलता है कपूत। जिसकी आँखों में कोई नयी रोशनी नहीं है, जिसके मस्तिष्क में नया कोई सपना नहीं है, जिसके अन्तर्मन में नयी कोई कल्पना नहीं है, नया स्फुरण नहीं है, जिसे नया कुछ पाना नहीं है, जो प्राप्त है उसी पर सन्तुष्ट होकर बैठे रहना है, वह कभी के मृत हुए बाप-दादाओं के नाम पर पुरानी लकीरों के गीत गाता रहता है, उन्हीं पर चलने के मनसूबे बांधता रहता है। परन्तु जो सपूत है, वे पुरानी लकीरों पर नहीं चलते। हर सपूत नयी लकीरें बनाता है, नयी लकीरों पर चलाता है। सुना है कभी यह देहा—

**“लीक-लीक गाड़ी चले, लीक ही चले कपूत।  
ये तीनों लीकों ना चलें, शायर, सिंह, सपूत।”**

जो चलना जानता है, उसके लिए जहाँ भी कदम पड़ते हैं, पथ बन जाता है। भले आदमी, क्या पूछता फिरता है—कहाँ चलें, किधर चलें, कौन-सा पथ सीधा है, साफ है। तेरे ये दिक्कत ही तुझे चलने नहीं दे रहे हैं। एक दिन क्या, हजार दिन भी तू यही सोचता रहेगा, तो चल नहीं पायेगा। संकल्प के रूप में दिखरे मन को एकत्र कर, और चल पड़। तू चला कि राह बनी। तेरा हर-कदम राह का निर्माता है।

देखते हो, पर्वत की टप्पड़ चट्टानों को तोड़कर ऊपर आनेवाला झरना क्या करता है? उसके लिए किसी ने पहले से पथ बना रखा है क्या? झरना इधर-उधर टकराता जाता है, अपना पथ स्वयं बनाता जाता है, उद्वलता-कदता-मचलता बढ़ता जाता है। बाधाएँ आती हैं, पथ अवरुद्ध हो जाता है। कुछ क्षण के लिए झरना रकता भी है, किन्तु चन्द्र क्षणों में ही बाधाओं को वह टक्कर मारता है कि बाधाएँ चूर चूर हो जाती हैं और झरना उद्वल कर झट आगे बढ़ जाता है, हंसता . . . . . गाता . . . . . शोर मचाता।

मानव! तू कौन है? झरना ही है तू भी तो। पर्वत के झरने की शक्ति तो सीमित है। किन्तु तू तो अनन्त शक्ति का स्रोत है। तू अनन्त, तेरी शक्ति अनन्त! तू तो भुजाओं से सागर पार करने के लिए आया है। नौका की क्या प्रतीक्षा? तेरी भुजा ही तेरी नौका है। तेरे जैसे हाथ और किसी के पास है? नहीं है, नहीं हैं, देवताओं के पास भी नहीं है। देवता भी मनुष्य बनकर ही कुछ करना चाहते हैं। बिना मनुष्य बने, उनका भी गुजारा नहीं है। श्रमण भगवान् महावीर इसीलिए तुझे सबोधित करके कह रहे हैं—देवाणुपिय, अर्थात् देवताओं के प्यारे। वैदिक ऋषि तुझे अमृतपुत्र कहते हैं।

अतः मानव! तू अपने को समझ, पहचान कि तू कौन है?

**“तू मानव है, स्वयं स्वयं का, लुप्टा असली भाग्य विधाता।  
नर के चोले में नारायण, तू है निज-पर सबका ज्ञाता।”**

मार्ग, तुम्हें खोजना है

१११



**जिज्ञासा शिष्य की : प्रज्ञा गुरु की**

पूज्य गुरुदेव के समक्ष अनेक जिज्ञासु यथाप्रसंग अपने प्रश्न उपस्थित करते रहते हैं और यथोचित मार्मिक समाधान पाते रहते हैं। यह विचार नवनीत उसी विचार चर्चा की संगोष्ठी से समुद्धृत है.....

प्रश्न—सच्चाई और प्रामाणिकता का प्राचीन धर्मग्रन्थों में बहुत मुखर गुणगान किया गया है। हजारों वर्षों से आप जैसे मुनिश्रेष्ठ आये दिन धर्म-मंच पर से इन गुणों को चमत्कृत कर देने वाली फलश्रुतियों की घोषणा करते हैं और कहते हैं कि सच्चाई एवं प्रामाणिकता से लोक, परलोक दोनों सुखी होते हैं। प्रामाणिकता से न्याय-नीति से जीवन गुजारनेवाला व्यक्ति परलोक में तो स्वर्गीय सुखों का आनन्द उठाता ही है, वह इस वर्तमान जीवन में भी जीते-जी स्वर्ग का आनन्द पा लेता है।

किन्तु क्षमा करें, सर्वसाधारण जनता का अनुभव इसके विपरीत है। परलोक को तो किनारे छोड़िए, उसे हमने देखा नहीं है। हम तो इस धरती की बात करते हैं। यहाँ तो सच्चाई एवं प्रामाणिकता से चलनेवाला व्यक्ति दुःख ही पाता है, अभाव से पीड़ित रहता है। और इसके विपरीत जो व्यक्ति छल-छन्द में निपुण हैं, हर गलत रास्ते से, हर तरह की बेईमानी से अपना उल्लू सीधा करना जानते हैं, वे खूब मौजमस्ती के साथ दुनिया का मनचाहा आनन्द प्राप्त कर लेते हैं, उन्हें कोई दुःख या अभाव नहीं होता। यह क्या बात है? कुछ समझ में नहीं आ रहा है।

उत्तर—आपका प्रश्न चिन्तन की ऊपरी तह का है, गहराई का नहीं है। आसपास की घटित दो-चार घटनाओं से ही इस प्रकार के निर्णय स्थिर कर लिए जाते हैं। किन्तु विश्व के विराट् क्षितिज पर व्यापक दृष्टि नहीं डाली जाती।

ऐसा एकान्त कहाँ है कि गलत रास्ते पर चलनेवाला हर आदमी दुनिया में सुखी है और सही रास्ते पर चलनेवाला हर आदमी दुःखी है, उसके जीवन में कहीं कोई सुख नहीं है। दुनिया में हजारों चोर हैं, डाकू हैं, जेबकतरे हैं, उठाईगिर हैं, गुंडे हैं, बदमाश हैं। देखिए, क्या जिन्दगी है उनकी? हर समय भय से आक्रान्त रहते हैं, जानवरों की तरह इधर-उधर छुपते-दुबकते फिरते हैं। हर वक्त मौत की, गिरफ्तारी की तलवार सिर पर लटकती रहती है। अब मरे, अब पकड़े गए। अब जेल में गए, बस, यही चिन्ता-चक्र हर क्षण मन-मस्तिष्क पर घूमता रहता है। न खाने का सुख है, न पहनने का। न परिवार के साथ रहने का सुख है, और न निश्चिन्तता के साथ मजे की नींद लेने का। अनेक प्रसिद्ध दस्युओं तथा तस्करों के उद्गार हैं कि हमारे पल्ले तो बुराई का पाप ही पड़ता है। जो लूट में, चोरी में कमाते हैं, उसके दो-चार पैसे या आने ही हमें मिलते हैं। बाकी तो बीच के बिचौलिये ही हजम कर जाते हैं। “पराधीन सपने हूँ सुख नहीं।”

व्यापारी वर्ग के अप्रामाणिक व्यक्ति भी कहाँ सुखी हैं? अन्याय से उपार्जित दो नंबर का पैसा आज तो गले की फांसी बना हुआ है। वह बाहर में तो क्या काम में लाया जाएगा, उसे अंदर में छिपा कर रखना भी एक भयंकर सिरदर्द है। आये दिन रैड और छापे पड़ जाने का डर लगा रहता है। धन भी जाता है साथ ही इज्जत भी। मीसा में कैद होकर जेलों में सड़ना पड़ जाए वह अलग।

बहुत से व्यक्ति तो ऐसे भी हैं, जो दुनिया भर की ठगी, बेईमानी करके भी कुछ सुख-सुविधा या धन-संपत्ति अर्जित नहीं कर पाते हैं। सारी जिन्दगी पापड़ बेलते रहते हैं, मिलता कुछ नहीं है। उनके लिए ‘गुनाह बेलज्जत’ की लोकोक्ति बिल्कुल फिट बैठती है। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि गलत काम किए देर होती नहीं है कि पाप का उद्घाटन हो जाता है, रंगे हाथों पकड़ लिए जाते हैं। इसे कहते हैं, सिर मुंडाते ही ऊपर से ओलों की वर्षा हो जाना।

उक्त लोगों के विपरीत हजारों लोग ऐसे भी हैं, जो सच्चाई और प्रामाणिकता के साथ जीवन गुजारते हैं, और धन-सम्पत्ति, मान-मर्यादा, यश-प्रतिष्ठा आदि खूब अच्छी तरह पाते हैं, जीवन भर सुखी रहते हैं। जितना कमाये, उसी के अनुसार जीवन स्तर बनाये, वह क्यों अप्रामाणिकता करेगा, क्यों दुःखी रहेगा। आय से अधिक व्यय ही अप्रामाणिकता का मूल है, और वही अशान्ति एवं दुःख का कारण है। “तेरे पांव पसारिये जेती लांबी सोर” की लोकोक्ति में कहाँ दुःख है। प्राचीन इतिहास में तो ऐसे हजारों यशस्वी उदाहरण हैं। वर्तमान में भी ऐसे उदाहरणों की कोई कमी नहीं है। गहराई से देखनेवाली आँखें चाहिए। उक्त चिन्तन पर से स्पष्ट हो जाता है कि बाह्य दृष्ट सुख का कारण बेईमानी नहीं है, और न बाह्य दृष्ट दुःख का कारण व्यक्ति की ईमानदारी है। इनमें परस्पर कोई कार्य-कारण भाव नहीं है। बाह्य सुख-दुःख का कारण कुछ और हो सकता है, यह नहीं।

उक्त सन्दर्भ में एक बात और गहराई से विचारने योग्य है। वह यह कि सुख और दुःख की मौलिक व्याख्या क्या है? जो ऊपर में दिखाई देता है, वही सुख-दुःख है, या वह और कुछ है।

प्रायः देखा जाता है कि जिसके पास कुछ अधिक सुख साधन है, धन-संपत्ति है या सत्ता है, उसे लोग सुखी मान लेते हैं। और जिसके पास ऐसा कुछ नहीं है, या जो सरलता एवं न्याय नीति से यह सब सहज भाव से प्राप्त नहीं कर पाया है, वह दुःखी है, ऐसी कुछ आम लोगों की धारणा बन गई है। पर, सोचना होगा, क्या यह धारणा सत्य पर आधारित है? क्या सचमुच में ही सुख-दुःख इसी ऊपरी दिखाऊ दृश्य पर तौले जा सकते हैं? नहीं, ऐसा नहीं है। सुख-दुःख का मूल आधार अन्दर में मानव का मन है। बाहर का दुःखी, अन्दर में बहुत बड़ा सुखी हो सकता है। और बाहर का सुखी अन्दर में बहुत बड़ा दुःखी भी हो सकता है। वास्तव में सुख-दुःख मन के खेल हैं।

जो उच्चस्तरीय मन का व्यक्ति सच्चाई और प्रामाणिकता के पवित्र संकल्प का भाव लिए जीवन-पथ पर गतिशील है, उस को यह फिक्र नहीं है कि बाहर की दुनियादारी में उसे क्या मिलता है और क्या नहीं मिलता है? उसकी अन्तर्दृष्टि में न्याय-नीति और प्रामाणिकता ही अपने में स्वयं एक आनन्द है। अच्छे और भले लोगों के लिए यह नैतिक जीवन-पद्धति ही मानसिक आनन्द की सबसे बड़ी उपलब्धि है।

प्रामाणिकता का यह आनन्द उन लोगों को नहीं मिल पाता है, जो मजबूरी के कारण प्रामाणिक हैं, किसी परिस्थिति के कारण बेईमानी नहीं कर पाते हैं। उनके अन्तर में प्रामाणिकता अन्दर से उभर कर नहीं आती है, अतः वह सहज श्रद्धा का रूप नहीं ले पाती है। अगर ऐसे लोगों को कोई अनुकूल अवसर मिल जाए, और तदनुसार उलटा-पुलटा कुछ कर सकें तो उन्हें बेईमानी करने से कोई ऐतराज नहीं है। ऐसे व्यक्ति ही प्रायः कहते हैं कि हमें तो सच्चाई से दुःख ही मिला है। और वस्तुतः इस प्रकार की रसहीन स्थिति में दुःख ही होगा, और क्या होगा? इसके विपरीत जिनके जीवन में सच्चाई का निष्ठा के साथ शुभ संकल्प है, उनके लिए उनकी वह सच्चाई ही सब से बड़ा सुख है, जिसके समक्ष स्वर्ग के देवों का सुख भी तुच्छ है।

कल्पना कीजिए, एक आदमी यहाँ बैठा है। उसके हाथ में एक मूल्यवान् घड़ी है। कुछ और लोग भी पास बैठे हैं। उनमें से एक व्यक्ति घड़ी की सुन्दरता देखकर प्रसन्न है। पर, उसके मन में घड़ी को उड़ा लेने की कोई संकल्प नहीं है। दूसरा व्यक्ति सुन्दर घड़ी को छीन लेना चाहता है। पर कैसे छीने, जानता नहीं है, या दुर्बलता एवं डर के कारण छीनने का सामर्थ्य नहीं है। अतः वह ऊपर से तो पहले व्यक्ति के समान ही घड़ी की सुन्दरता पर प्रसन्न होता है, हंसता है, पर अन्दर में उसके मन में तड़पन है, व्याकुलता है, परेशानी है। मिल नहीं रही है, यह बहुत बड़ा दर्द है उसके दिल का। एक तीसरा व्यक्ति, इसी बीच घड़ी छीन कर भाग जाता है। अब, वह दूसरा व्यक्ति सोचता है, अरे वह छीन ले गया। मैं छीन लेता, तो घड़ी मुझे मिल जाती। मैं भाग्यहीन कोरा रह गया। उक्त घटना चक्र में घड़ी न छीनना सहज प्रामाणिकता है, पहले व्यक्ति की। जो घड़ी देखकर प्रसन्न हो रहा था उसके सौन्दर्य पर। अतः वह सुखी है। दूसरे व्यक्ति की घड़ी न छीनने की बातें ऊपर से ओढ़ी हुई है, लादी हुई है, सहज मन से नहीं है, अतः उसके जीवन में न प्रामाणिकता है, न न्याय-नीति है और न सच्चाई है। इसलिए वह दुःखी है।

मूल बात मन की पवित्रता की है। जिनका मन पवित्र है, वे बाहर में सुख-सुविधा के साधन एकत्र कर पाएँ या न कर पाएँ, हर हालत में प्रसन्न रहते हैं, सुखी रहते हैं। इसके विपरीत जिनका मन अपवित्र है, अप्रामाणिक है, वे बाहर में सुख-सुविधा के साधन पा लें तब भी और न पा लें तब भी, हर हालत में दुःखी हैं। अप्रामाणिकता से सुख के साधन तो संभव है, कदाचित् जुट भी जाएँ, किन्तु उनसे सुख नहीं प्राप्त किया जा सकता। यही कारण है कि अप्रामाणिकता की, अन्याय-अत्याचार की बुनियाद पर खड़े हुए सोने के महल भी रोते हैं और घास के झोपड़े भी आंसू बटाते हैं। इसके विपरीत प्रामाणिकता के आधार पर पल्लवित महल और झोपड़े दोनों ही हंसते हैं। सुख के लिए, प्रश्न सुख-साधनों के भाव या अभाव का उतना नहीं है, जितना कि प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता का है। प्रामाणिकता का सच्चा उपासक यदि महल में है, तब भी सुखी है, प्रसन्न है, और यदि वह झोपड़ी में है तब भी मस्ती में है, आनन्द में है। उसके आनन्द का अक्षय कोष अपने आदर्शों की प्रामाणिक निष्ठा में है, क्षणध्वंसी संसारी, सुख-साधनों में नहीं।

सुख का मूल हेतु पुण्य-कर्म है, पवित्र आचरण है,—यह आगम की भाषा यथार्थ एवं सत्य के अनुभव की भाषा है। पुण्य-कर्म परलोक के स्वर्ग का ही निर्माण नहीं करता है, अपितु यहाँ इस जन्म में भी स्वर्ग का निर्माण करता है। पुण्य-कर्म का फल मरणोत्तर दूर भविष्य में ही पाने जैसा नहीं है, अपितु वह पुण्य होने से तत्काल एवं तत्क्षण ही अन्तर्मन में आनन्द की अमृत वृष्टि करता है। पुण्यशील, सदाचारी, प्रामाणिक व्यक्ति जहाँ भी जाता है, जहाँ भी रहता है, सर्वत्र प्रसन्न रहता है। आनन्द का भागी होता है। इसके विपरीत पापात्मा पापाचारी व्यक्ति जहाँ भी जाता है, जहाँ भी रहता है, सर्वत्र अप्रसन्न ही रहता है, दुःख का भागी होता है। उसके लिए लोक, परलोक दोनों ही जगह नरक है। पापात्मा, धूर्त और पाखण्डी को सब लोग अविश्वास की निगाहों से देखते हैं, और उसकी हर बात एवं हर हरकत पर कड़ी निगरानी रखते हैं। यह अपयश और अविश्वास नरक नहीं, तो और क्या है? अपकीर्ति मरण से भी बढ़ कर दुःखकर है। गीता में श्री कृष्ण कहते हैं—  
**“संभावितस्य चाकीर्तिमरणादतिरिच्यते।”**

जैन आगम कहते हैं, सम्यक्दर्शी आत्मा नरक में रहकर भी स्वर्ग में है, और मिथ्यादृष्टि स्वर्ग में रहकर भी नरक में है। जैन-दर्शन अन्तरंग चेतना को महत्त्व देता है। सम्राट् श्रेणिक नरक में भी नरक की पतन-शील भावनाओं और वेदनाओं की दुर्वृत्तियों से परे हैं। भरत चक्रवर्ती जैसे महान् अध्यात्मचेता पुरुष सिंहासन पर रहकर भी सिंहासन की पतनकारिणी आसक्ति से दूर रहे हैं। और उधर स्वर्ग में भी संगम जैसे देव क्या हैं? क्या ऐसे देव, वस्तुतः अन्तर्मन के पुण्य-भावों की दृष्टि से देव हैं? यदि वे देव हैं, तो फिर दानव और राक्षस कौन होंगे? आगम साक्षी है, स्वर्ग में भी हजारों विकृत मनोवृत्ति के देव ऐसे हैं, जो अपने प्राप्त वैभव से सन्तुष्ट नहीं हैं, अतः वे अन्य देवताओं के यहाँ चोरी करते हैं, और फिर इधर-उधर अंधकार में छुपते फिरते हैं। अन्त में पकड़े जाते हैं और देवराज इन्द्र से दण्ड पाते हैं। खूब पिटाई होती है। ऐसे अप्रामाणिक जीवम जीने वाले देवों में क्या है?

अस्तु स्पष्ट है, पुण्य एवं पवित्र कर्म ही सुख का कारण है। **“इध नन्दति, पेच्च नन्दति, कुतपुञ्जी उभयत्थ नन्दति।”** और दुःख का कारण पाप एवं अपवित्र कर्म है। **“इध सोचति पेच्च सोचति, कतपावो उभयत्थ सोचति।”** यह केवल अर्थवाद नहीं है। चिर अतीत से अनुभव की कसौटी पर परखा हुआ अविचल सत्य है। आज भी हर इन्सान तटस्थ होकर अपने अनुभव की कसौटी पर इस सत्य को परख सकता है। सुख में और सुखाभास में रात-दिन का अन्तर है। पापाचारजन्य सुख, सुख का भ्रम है, अतः वह सुख नहीं, सुखाभास है। सुखाभास अन्ततोगत्वा दुःख ही होता है। वास्तविक सुख पुण्य-कर्म है, जो कभी सुखाभास नहीं होता।





# परिग्रह की परिभाषा

जो अपनी व्यक्तिगत कामनाओं, ईच्छाओं और वासनाओं में डूबे हैं, वे संसार में डूबे हैं।

जो वासना, एवं आसक्ति से ऊपर नहीं उठ पाते, वे संसार-प्रवाह में तैर नहीं सकते।

जो तैर ही नहीं सकते, वे किनारे पर पहुँच नहीं सकते। अतः वे संसार से पार भी नहीं हो सकते हैं।

प्रश्न :—साधना में, विशेषकर जैन साधना में अपरिग्रह-व्रत को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। परिग्रह को पाप, यहाँ तक कि समस्त अनर्थों का मूल महापाप तक बताया गया है। परन्तु, क्या परिग्रह के बिना जीवन-यात्रा चल सकती है। गृहस्थ की बात छोड़िए, महाव्रती गृहत्यागी भिक्षु तक को अमुक पदार्थ विशेषों की, उपकरणों की और भोजन-योग्य वस्तुओं की अपेक्षा रहती है। अतः अमुक रूप में परिग्रह भी रखना और साथ ही पूर्ण अपरिग्रही होने का दावा करना, इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर :—महाश्रमण भगवान् महावीर के समक्ष ही परिग्रह और अपरिग्रह के प्रश्न उपस्थित हो गए थे। अतः परिग्रह क्या है ? और अपरिग्रह क्या है ? इसकी व्यापक व्याख्याएँ और विचारणाएँ उस युग में ही शुरू हो गई थीं। स्वयं भगवान् महावीर ने अपने संपर्क में आने वाले साधकों को इस विषय का काफ़ी स्पष्टीकरण दिया है।

भगवान् महावीर अपरिग्रह की बाह्यसीमा को वस्त्रमुक्त नग्नता की भूमिका तक ले गए। एक बार वस्त्र से मुक्त हुए, तो फिर तार मात्र भी उन्होंने पुनः न लिया। परन्तु, समय पर भोजन वे भी लेते रहे, समवसरण में स्वर्ण सिंहासन आदि का, जो भक्त लाकर रख देते थे, उपयोग वे भी करते रहे। बाह्य वस्तुओं को परिग्रह की दृष्टि से देखा जाए, तो भगवान् महावीर भी अमुक अंश में परिग्रही और अमुक अंश में अपरिग्रही प्रतिभासित होते हैं। यही स्थिति धर्मोपकरण रखनेवाले अन्य गणधरों, आचार्यों, भिक्षुओं की है, अतः परिग्रह और अपरिग्रह के स्वरूप को स्पष्टता से समझने के लिए मानव-मन के अन्दर में देखना होगा कि वहाँ क्या है ?

परिग्रह का सम्बन्ध बाह्य वस्तुओं से उतना नहीं है, जितना कि मानव की संग्रह बुद्धि में है। वस्तु का समय पर उपयोग कर लेना, एक बात है, और आसक्तिमूलक उसका संग्रह कर रखना, भविष्य के चिन्ता-चक्रों में उलझे रहना, दूसरी बात है। जो साधक व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा सामाजिक आदि जवाबदारियों से पूर्णतया मुक्त हो गया है, अध्यात्म जागरण एवं नैतिक उत्थान की दिशा में स्व-परकल्याण के हेतु अपना समग्र जीवन समर्पित कर चुका है, उसे किसी भी प्रकार के संग्रह से कुछ लेना-देना नहीं है। वह अतीत से जैसे मुक्त है, वैसे ही भविष्य से भी मुक्त है। आज अपेक्षा है, और उसकी पूर्ति के लिए वस्तु आज है, तो आज ही उसका उपयोग भी है। वह भी अनासक्त मन से। यह केवल अपेक्षा पूर्ति है, वासना पूर्ति नहीं। ऐसे साधक को कल खाना मिलेगा या नहीं, कल वस्त्र प्राप्त होगा या नहीं, इसकी कोई चिन्ता नहीं है। उक्त भविष्य के संकल्प-विकल्पों से वह पूर्णतया मुक्त रहता है। वह केवल वर्तमान में जीता है, केवल वर्तमान को देखता है। कल से उसे कोई मतलब नहीं है। इसी सन्दर्भ में कभी कहा गया था—

“वर्तमानेन कालेन,  
वर्तयन्ति विचक्षणाः ।”  
“गई वस्तु सोचे नहीं,  
आगम बाँछा नाँहि  
वर्तमान वर्ते सदा,  
ते ज्ञानी जग माँहि ॥”

उक्त चिन्तन पर से स्पष्ट है कि आसक्तिमूलक संग्रह बुद्धि परिग्रह है, केवल वस्तु नहीं। यह ठीक है कि स्वर्ण, रजत, मणि-मुक्ता तथा अन्य धनधान्य एवं भवन, वसन आदि वस्तु, जो मानवमन में सहसा आसक्ति को जन्म दे देती है, उन्हें भी औपचारिक परिग्रह मानकर सर्वसंग-त्यागी भिक्षु के लिए त्याज्य बताया गया है। दुर्बल मन इन वस्तुओं के मायाजाल में फंस सकता है। परन्तु जीवनोपयोगी या साधनोपयोगी वस्तुओं का अनासक्त भाव से उपयोग भिक्षु के लिए भी विहित है। इसीलिए परिग्रह की व्याख्या करते हुए मूल आगम-साहित्य एवं उत्तरकालीन ग्रन्थ साहित्य में कहा गया है—

“मुच्छा परिग्रहो ।”—दशवैकालिक  
“मुच्छा परिग्रहः ।”—तत्त्वार्थ सूत्र

मानव का जीवन सर्वस्व त्यागी सन्त सी नहीं, उसका एक दूसरा पक्ष है। वह है पारिवारिक तथा सामाजिक दायित्वों से बंधा गृहस्थ। अतः जो लोग पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन की जवाबदारियों को लेकर चल रहे हैं, जिनके समक्ष, भविष्य जीवन के अनेक संघर्ष पथ हैं, वे पूर्वोक्त रूप से पूर्ण अपरिग्रही होकर नहीं रह सकते हैं। उन्हें देश-कालानुसार आवश्यकता के अनुरूप संग्रह करना ही पड़ेगा। उनके जीवन में कल का कुछ अर्थ है। उसे नजर-अंदाज नहीं किया जा सकता। यदि परिग्रह या संग्रह आवश्यकता की सीमा में है, अनावश्यक संग्रह का रूप नहीं ले रहा है, तो वह औपचारिक रूप से अमुक अंश में अपरिग्रह ही हो जाता है। विरोध अनावश्यक का है, आवश्यक का नहीं। आवश्यक तो साधना की उच्च-उच्चतर भूमिकाओं तक भी अनुगमन करता रहता है।

आवश्यक क्या है, यह प्रश्न विकट है? इसका सम्बन्ध देश से है, काल से है, वर्तमान सभ्यता एवं संस्कृति आदि से है। आवश्यक की परिभाषा तरंगित मन की हवा में उड़ती कल्पनाओं के आधार पर नहीं की जा सकती। यथार्थ के धरातल पर ही इसका निर्णय केवल वर्तमान पर नहीं, भविष्य के सुदूर क्षितिज तक को भी लक्ष्य में रख कर किया जा सकता है। अपने-अपने परिवार और समाज के व्यक्तित्व को भी ध्यान में रखना होगा। ठीक है, यह सब अन्ततः व्यक्ति के अपने प्रामाणिक मनोभावों पर आधारित है।

संग्रह के चिन्तन में आज के व्यापारी का प्रश्न भी आ खड़ा होता है। व्यापारी आज का है, कल के अतीत का है या कल के भविष्य का है, किसी भी काल का है आखिर व्यापारी है। उसकी समस्या एक ही है। भगवान् के सान्निध्य में भी आनन्द तथा महाशक्त जैसे कोटिपति व्यापारी आए थे। साधना के पथ पर उन्होंने भी प्रभु के निर्देशन में धर्मयात्रा की थी। परिग्रह का परिमाण उन्होंने अवश्य किया, परन्तु अपनी प्राप्त संपत्ति का परित्याग नहीं किया। न व्यापार ही छोड़ा। बड़ी महत्त्वपूर्ण सूझ-बूझ को लेकर ये लोग चले हैं। अगर व्यापार छोड़ देते, तो उनका अपना परिवार ही नहीं, व्यापार के माध्यम से हजारों आश्रित लोगों का जीवन बिखर जाता। जीवन में अनेक प्रश्न खड़े हो जाते। संपत्ति को अगर जनता में बाँट भी देते, तब भी समस्या का समाधान नहीं था। बूँद-बूँद बिखर कर धारा अपना अस्तित्व तो खो देती है, पर उससे सर्व-साधारण को स्थायी लाभ नहीं मिल पाता है। अपितु, वितरण की इस अर्थहीन-प्रक्रिया से जन-जीवन पर गलत प्रभाव पड़ता है। जनता आलसी, निष्क्रिय एवं परमुखापेक्षी बनती है। व्यापार से या उद्योग धंधों से सम्बन्धित श्रम, व्यक्ति को अपने पैरों पर खड़ा करता है, जीवन को तेजस्वी बनाता है।

गृहस्थ-जीवन में धन बुरा नहीं है। धन की वैयक्तिक आसक्ति बुरी है, जो धन को एक छोटे-से केन्द्र में बन्द कर देती है, जन-जीवन के साथ सम्बन्धित कल्याण-सूत्र को तोड़ देती है। इस प्रकार एकान्त स्वार्थ के गर्त में बंद धन गाँव की क्षुद्र तलैया में बंद जल की भाँति सड़ने लगता है, बदबू देने लगता है, महामारी का हेतु बनता है। अतः जो धन न्यायनीति से अर्जित है, साथ ही अपनी आवश्यकतापूर्ति के साथ सर्व-साधारण जनता के कल्याण की दिशा में भी प्रवाहित होता है, वह पुण्य का हेतु है। उसमें स्व-पर-कल्याण का सौरभ महकता है। इसीलिए आचार्य हरिभद्र ने धर्मबिन्दु में कहा है—न्यायोपात्त धन व्यक्ति का लोक और परलोक दोनों ही लोकों में हित-साधन करता है—

“न्यायोपात्तं हि वित्तमुभयलोकहिताय।”

भगवान् महावीर के गृहस्थ साधक अर्थात् श्रावक इसी आदर्श को लेकर चले थे। संपत्ति रखना, किन्तु उसका विस्तार न करना, यह था उनका आदर्श। व्यापार में यदि वृद्धि या विस्तार होता है, खर्च काटकर अतिरिक्त लाभ होता है, तो वह जनता का होगा, जनता के हित में होगा, हमारा नहीं, यह था उनका अपरिग्रही चिन्तन। गांधीजी के शब्दों में यह ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त हो सकता है, थोड़े से हेर-फेर के साथ। भगवान् महावीर ने इसे अणु-अपरिग्रह के रूप में स्वीकृति दी। यह पूर्ण अपरिग्रह व्रत का प्रथम चरण है।

राष्ट्र के अर्थतंत्र के सम्बन्ध में भगवान् महावीर का यह इच्छा परिमाण या परिग्रह परिमाण का उदात्त सिद्धान्त एक व्यवहारिक सिद्धान्त है। यह संग्रह और असंग्रह की दोनों एकान्त अतियों से बचाता है, सामाजिक जीवन को। यह अतीत आदि के किसी विशेष काल-खण्ड से ही सम्बन्धित नहीं है। और न किसी देश विशेष की सीमा में ही आवद्ध है। यह सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक सिद्धान्त है। आज की राष्ट्रीय सरकारें अपने-अपने अर्थतंत्र के सम्बन्ध में भगवान् महावीर के उक्त अनतिवादी महान् अपरिग्रह-सूत्र का यदि प्रामाणिकता के उज्ज्वल प्रकाश में उपयोग करें, तो हर राष्ट्र के जन-जीवन का भविष्य उज्ज्वल हो सकता है।

**जीवन से भागना, धर्म नहीं**

जीवन संग्राम नहीं,  
आपाधापी की मार काट नहीं।

जीवन मानवता के किराट् पथ पर होने वाली एक यात्रा है।

इसे सुखद एवं सुन्दर बनाने का उपक्रम ही धर्म है।

प्रश्न :—अनेक पारश्चात्य लेखकों ने यह हवा फँलाई है कि जैन और बौद्ध दोनों ही धर्म वर्तमान जीवन संग्राम एवं उसके कर्म संघर्ष से डरकर परलोक की ओर भागने वाले धर्म हैं। इनकी दृष्टि वर्तमान जीवन पर नहीं, मरणोत्तर अगले जीवन पर है। ये वर्तमान को सुन्दर एवं सुखी न बनाकर भविष्य को, वह भी मरणोत्तर भविष्य को सुन्दर एवं सुखी बनाने की कल्पनाओं में उलझे रहते हैं। इस प्रभाव में अनेक भारतीय मनीषी भी आए हुए हैं। पं० जवाहरलाल जैसे राष्ट्रनायक भी इसी चिन्तन जाल में उलझ गए थे। उन्होंने भी लिखा है—  
“बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म ने जीवन से दूर रहने पर, जीवन से दूर भागने पर जोर दिया है।” आपका इस सम्बन्ध में क्या विचार है? क्या यह धारणा उनके अपने इन शब्दों में सही है?

उत्तर :—पारश्चात्य विद्वान् हों या पौराणिक हों, भारतीय हों, अधिकतर वर्तमान के कुछ प्रचलित क्रिया-कलापों या मान्यताओं को देख-सुनकर ही किसी धर्म-परम्परा की व्यापक जीवन-धारा पर अपने संकीर्ण चिन्तन को मुहर लगा देते हैं। यह दोष उनका नहीं है। कुछ तो धर्मों की अपनी ही वर्तमान-कालिक संकीर्ण मान्यताओं का है और कुछ जल्दी में यों ही ऊपर से थोड़ा-बहुत देखा भाला और शीघ्रता में कुछ-न-कुछ लिख देने का है।

किसी भी पुराने या नये विषय पर कुछ लिखने से पूर्व उससे सम्बन्धित व्यापक अध्ययन, मूलगामी चिन्तन-मनन एवं तटस्थ भाव से सत्य के प्रति न्याय दृष्टि आवश्यक है। मुझे लगता है, विद्वान् लेखकों ने जैन और बौद्ध धर्मों के अन्तस्तल को गहराई से नहीं छुआ है। केवल सुनी-सुनाई सतही दृष्टि के आधार पर ही कुछ लिख दिया है, जो थोड़े से बुद्धिजीवी वर्ग में प्रचार पा रहा है, या पा गया है।

बौद्ध धर्म की चर्चा के लिए अलग से समय अपेक्षित है। अच्छा हो, स्वयं बौद्ध धर्म के अधिकारी मनीषी ही उस पर कुछ प्रकाश डालें। जैन श्रमण होने के नाते में यहाँ संक्षेप में जैन-धर्म से सम्बन्धित भ्रान्ति के निराकरण हेतु ही कुछ विचार प्रस्तुत कर रहा हूँ।

जैन-धर्म की दृष्टि में जीवन संग्राम नहीं, आपा-धापी की हार काट नहीं, जैसा कि कुछ लोग कहते हैं। जीवन मानवता के विराट् पथ पर होने वाली एक यात्रा है। इसे सुखद एवं सुन्दर बनाने का उपक्रम ही धर्म है। यात्रा ऐसी होनी चाहिए, जो अपने लिए भी सुखद हो, साथ ही दूसरे सहयात्रियों के लिए भी। यात्रा का यह अर्थ नहीं है, कि यात्री परस्पर लड़ते-झगड़ते, मारते-पीटते, गाली-गलोज करते हुए शत्रुओं की तरह यात्रा करें। एक दूसरे को धक्का देते हुए, रूलाते हुए चलना, असभ्य समाज का लक्षण है। सभ्य समाज में ऐसा नहीं होता। सभ्य यात्री परस्पर प्रेम से बतियाते, हंसते मुस्कराते चलते हैं। संकट काल में एक-दूसरे को सहयोग देते हैं, एक-दूसरे के सुख-दुःख में विवेकपूर्वक साझीदार होते हैं। किसी को काँटा लग जाए या कोई ठोकर खा कर गिर जाए, तो साथ का सभ्य साथी यों ही लापरवाही से बीच में छोड़कर आगे नहीं चला जाएगा। वह रुकेगा, और समस्या को हल करने में अपने सहयात्री की सहायता करेगा, अपना पूर्ण सहयोग देगा। साथी को अधमधार में छोड़ देना पाप है। सभ्य यात्री ऐसे पाप से बचता है।

जैन-धर्म मानव की उक्त जीवन यात्रा को सुखद, सुन्दर एवं सभ्य बनाने की दिशा में आदि काल से यत्नशील रहा है। काम, क्रोध, मद, लोभ, अहंकार, दुःख, घृणा, द्वेष, कलह, हिंसा, असत्य, स्तेय, कुशील, मर्यादाहीन, परिग्रह, शोषण, अन्याय अत्याचार आदि जीवन की वे विकृतियाँ हैं, जो मानव को निरन्तर अशान्त किए रहती हैं। जैन-धर्म उक्त विकृतियों के विजय का उपदेशक है। उसका कहना है कि ये विकृतियाँ मानव की अन्तरात्मा के अन्दर में रहे हुए शत्रु हैं। इन शत्रुओं के रहते हुए मानव कभी भी वास्तविक सुख, शांति एवं आनन्द नहीं प्राप्त कर सकता। न वह स्वयं आनन्द में पचास-सौ वर्ष की अपनी जीवन यात्रा पूर्ण कर सकता है। और न परिवार, समाज और राष्ट्र आदि के रूप में जो अन्य सहयात्री हैं, उन्हें ही शान्ति से अपने जीवन पथ पर चलने दे सकता है। कोई भी देख सकता है, आज जो व्यक्ति-व्यक्ति में, परिवार-परिवार में, समाज-समाज में, राष्ट्र-राष्ट्र में द्वन्द्व है, विग्रह है, संघर्ष है, अविश्वास है, उसके मूल में कहीं-न-कहीं वे ही विकृतियाँ काम कर रही हैं, जीनको जितने की, समाप्त करने की शिक्षा जैन-धर्म देता रहा है।

मानव जाति के सबसे बड़े शत्रु उसमें व्याप्त दुर्व्यसन है। जूआ, चोरी, मांस, मद्य, वेश्या और परस्त्री

गमन आदि ऐसे कुछ दुर्व्यसन हैं, जो परिवार, समाज और राष्ट्र को बर्बाद करते हैं। महाभारत का भीषण नर-संहार द्यूत के व्यसन में से उद्भूत हुआ है। लंका की राक्षस जाति का देवोपम ऐश्वर्य परस्त्री के कारण ही मिट्टी में मिला है। द्वारका के यादवों का साम्राज्य मद्यपान ने ही ध्वस्त किया है। राजपूत और मुगलों का गौरवमय इतिहास सुरा और सुन्दरियों के धब्बों से ही कलंकित होकर समाप्त हुआ है। जैन-धर्म राजा और प्रजा दोनों को ही उक्त सब दुर्व्यसनों से मुक्ति का सन्देश देता है, ताकि न्याय-नीति के साथ राजा और प्रजा दोनों ही सुख एवं शान्ति का जीवन यापन कर सकें।

जैन-दर्शन मानव प्रजा को स्वच्छ एवं जन-कल्याणकारी शासन देने के पक्ष में है। भोग-विलास में मदहोश और उच्छृंखल अत्याचारी शासकों को जैन-धर्म का संदेश है कि यह सिंहासन पुण्य से प्राप्त हुआ है, अतः इसका उपयोग भी पुण्य-कर्म के लिए ही करो। आर्य-कर्म करो, सदाचारी रहो, प्रजा के प्रति सहृदय रहो, अनुकंपा का भाव रखो। यही वह धर्म की ज्योति है, जो तुम्हारी अन्तरात्मा में देवत्व की ज्योति जगा सकता है। अन्यथा नरक की यात्रा तैयार है।

जैन-धर्म राज्यसिंहासन का विरोधी नहीं है। वह विरोधी है, सिंहासनों पर से होनेवाले अन्याय का, अत्याचार का, दुराचार का। वह तो कहता है, न्याय-नीति से चलो, तो राज्य भी करो, और पुण्यार्जन भी। यहाँ भी सुखी रहो, और परलोक में भी सुखी रहो। पर, यह कब? जब दूसरों के सुख का ध्यान रखोगे, तभी सुख पा सकोगे। जो दूसरों को बर्बाद कर अपने जीवन के सुख साम्राज्य का निर्माण करना चाहते हैं, इससे बढ़कर स्वार्थपरता और खुदगर्जी की निकृष्ट दृष्टि और कौन-सी होगी। यह आसुरी दृष्टि है। जो दूसरों का रक्तपान कर अपना जशन मनाती है। जिसको दूसरों के दुःख दर्द का, अभाव का, सुख का या शान्ति का जरा भी कोई ध्यान नहीं है, वह विशाल हृदययुक्त महान् मानव कैसे हो सकता है। इस नर-पशु को किसी भी शासन के पवित्र सिंहासन पर बैठने का क्या अधिकार है। यदि सिंहासन पर बैठनेवाला सदाचारी हो, न्याय-नीतिपरायण हो, तो उस एक व्यक्ति के द्वारा ही लाखों-करोड़ों लोगों का हित हो सकता है। अतः जैन-धर्म की नीति सिंहासन पर बैठने का विरोध नहीं करती है, अपितु सिंहासन पर ठीक तरह बैठने का उचित शिक्षण देती है। यही कारण है कि जैन-परम्परा ने मानव जाति को मगधनरेश श्रेणिक, विदेह गण-राज्य के अध्यक्ष चेटक, मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त, गुर्जर नरेश कुमारपाल, महान् सम्राट अमोघवर्ष जैसे इतिहास प्रसिद्ध प्रजापालक, सदाचारी शासक दिए हैं, जिनके जीवन की सुगन्ध आज भी भारतीय इतिहास में महक रही है। विमलशाह, मुंजाल, उदयन दयालशाह, आमूशाह, भामाशाह तथा वस्तुपाल, तेजपाल जैसे अनेक महामंत्री और सेनापति भी जैन-धर्म की देन हैं, जिन्होंने अपने राष्ट्र की सेवा एवं रक्षा के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया और आक्रमणकारियों को बुरी तरह पराजित कर राष्ट्र के गौरव को चार चाँद लगाए। आज भी इनकी राष्ट्ररक्षा की वीरगाथाएँ भारतीय इतिहास के स्वर्ण पृष्ठों पर जगमगा रही हैं।

भारतीय राष्ट्र की एकता, समग्रता के हेतु भी जैन-संस्कृति का कम योगदान नहीं है। सर्वप्रथम भरत चक्रवर्ती तदनन्तर शान्ति, कुन्धु एवं अरह आदि अनेक जैनधर्मी चक्रवर्ती नरेशों ने विभिन्न छोटे-छोटे राज्यों के अनेक परस्पर विरोधी कानूनों, न्याय व्यवस्थाओं से पीड़ित जनता को एक अखण्ड जन-मंगलकारी शासन व्यवस्था देकर कितना महान् लोकहित किया है, इतिहास इसका साक्षी है। क्या यह उपक्रम जन-जीवन से दूर भागने का है?

आदि युग के सर्वप्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने तत्कालीन वनवासी अभावग्रस्त एवं भूख से मुभूर्ष होती प्रजा का जो उद्धार किया है, वह इतना महनीय है कि कोई भी सहृदय उससे हर्ष गद्-गद् हुए बिना नहीं रह सकता। भगवान् ऋषभ ने ही नागरिक सभ्यता का सूत्रपात किया, समाज व्यवस्था की स्थापना की, कृषि एवं शिल्प आदि का योग्य शिक्षण देकर औद्योगिक क्रान्ति का क्रान्तिकारी कदम उठाया। पुरुषों की ७२ और स्त्रियों की ६४ कलाओं के सूत्रधार भी भगवान् ऋषभ ही थे। वे मानव सभ्यता के आदिकाल के महान् कर्मयोगी थे, जिन्होंने हमारी पौराणिक धारणा के अनुसार ८४ लाख पूर्व की अपनी आयु का ८३ लाख पूर्व जितना दीर्घकाल जनहित में समर्पित किया। शेष एक लाख पूर्व भी जनता के सुप्त आत्मबोध को जगाने में लगाया। आप इस पर से समझ सकते हैं, समाज हित के प्रति जैन-धर्म का क्या आदर्श था?



आबु पर्वत और राणकपुर आदि के भव्य विराट् धर्म मन्दिर, जिन्हें देखकर विदेशी भी मोहभुग्ध हो जाते हैं, जैनों के कला प्रेम के जीवित उदाहरण हैं। स्वर्ण-रजत अक्षरों में लिखित सचित्र अनेक ग्रन्थ हमारी लेखन कला के अविस्मरणीय आदर्श हैं। धर्म-शास्त्र, दर्शन, योग नीति, साहित्य, जीवन, कथा, ज्योतिष, मंत्र, तंत्र, स्तोत्र, आयुर्वेद, भूगोल आदि जिस विषय पर भी जैनाचार्यों ने लिखा है, कमाल कर दिखाया है। प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश आदि के व्याकरण, लोक-साहित्य, काव्य, नाटक आदि का जैन-वाङ्मय भी अपने में एक अनुठा चमत्कृत कर देने वाला वाङ्मय है। लोक जीवन के अन्तरंग और बहिरंग दोनों पक्षों को दूर-दूर तक गहराई से स्पर्श करनेवाली इतनी विराट् सांस्कृतिक देन जैन-धर्म की है, फिर भी यह कैसे कहा जाता है कि जैन-धर्म जीवन से भागनेवाला या जीवन से इन्कार करनेवाला धर्म है। कहने को कुछ भी कहा जा सकता है। किसी की जवान नहीं पकड़ी जा सकती। “मुखमस्तीति वक्तव्यं शतहस्ता हरीतिकी।” मुख बोलने के लिए खुला है। बोलते रहो, सौ हाथ की लंबी हरड़ होती है। कौन रोकने वाला है। पर, सत्य इस अनर्गल प्रलाप से भिन्न होता है। ऐसा ही सत्य जैन-धर्म के पक्ष में भी है, जो मन चाहा बोलने-लिखनेवाले सज्जनों के दुष्प्रचार से अपना भिन्न अस्तित्व रखता है।

आज भी, जब कि जैन समाज एक छोटा-सा समाज रह गया है, उसका कर्मक्षेत्र जनहित की दिशा में व्यापक है। लड़के और लड़कियों के लिए अनेक स्थानों पर विभिन्न स्कूल हैं, कालेज हैं। औद्योगिक शिक्षण केन्द्र हैं। दानसत्र हैं, औषधालय हैं, हास्पिटल हैं। विराट् ज्ञान मन्दिर हैं, पुस्तकालय हैं, रिसर्च इंस्टीट्यूट हैं। प्राचीन और आधुनिक साहित्य के प्रकाशन केन्द्र हैं। नैतिक जागरण की पत्र-पत्रिकाएँ हैं, गो-सदन हैं, पांजरापोल हैं, अन्य भी अनेक उदात्त सेवा-संस्थान हैं। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में भी हजारों जैनों ने सत्याग्रही सैनिकों के रूप में जेल यात्राएँ की हैं, लोमहर्षक यातनाएँ भोगी हैं। गोलियों की बौछारों में बलिदान भी हुए हैं। अनेक जैन तो उच्च कोटि के नेता एवं सेनानी तक रहे हैं।

इतना लम्बा कुछ कहने का मेरा अभिप्राय यह है, कि फिर किस अदृष्ट आधार पर जैन-धर्म को जीवन-पथ से भागनेवाला धर्म कहा जाता है। वह कौन-सी दैवी आकाशवाणी है, जो यह कहती है कि अमुक उस हेतु से जैन-धर्म प्राप्त जीवन से इन्कार करनेवाला मात्र परलोकवादी धर्म है। वह जीवन में नहीं मरण में पवित्रता का विश्वास रखता है। भगवान् महावीर के गणधरों ने तो मुक्त घोषणा की है, कि यह धर्म लोक और परलोक दोनों के लिए हित, सुख, क्षेम और निःश्रेयस के लिए है—“पच्छा-पुरा लोए हियाए, सुहाए, खेमाए, निस्सेसाए. .।”



**पंथ बाती है और धर्म ज्योति**

पंथ और धर्म में, धर्म और पंथ में देशकालापेक्षित आधाराधेय भाव का सम्बन्ध होते हुए भी उतनी ही भिन्नता है, जितनी कि दीपक और ज्योति में । पंथ बाती है और धर्म ज्योति, इस भेद को न भूलें ।

प्रश्न :—धर्मों में, पंथों में, एवं सामाजिक मान्यताओं तथा मूल्यों में परिवर्तन नहीं हुए हैं क्या ? जैसा कि सुना या कहा जाता है—बिना परिवर्तन का मानव-समाज ही नहीं सकता । तो फिर क्या कारण है, जब कभी किसी परिवर्तन की चर्चा चलती है, तो उसको रोकने के लिए बेतुका शोर शुरू हो जाता है ? एक बात है, समाज के हित में परिवर्तन को एक बार स्वीकार करने के बाद अगर परिवर्तन सामूहिक हो, तो अच्छा होता है । व्यक्ति की अपेक्षा संघ की शक्ति महत्त्वपूर्ण होती है । किन्तु, क्या व्यक्ति या व्यक्तियों का अल्पसंघ समग्रता में सामूहिक परिवर्तन की चिर-प्रतीक्षा में यों ही एक दिन समाप्त हो जाए ?

उत्तर :—धर्म और पंथ में अन्तर है । धर्म स्वरूप के खोज की एक प्रक्रिया है । यह प्रक्रिया शाश्वत एवं सनातन है । उसमें किसी भी प्रकार का कभी भी परिवर्तन संभव नहीं है । वह घ्रुव है । उसमें अगर परिवर्तन होता है, तो उसका स्वरूप ही नष्ट हो जायेगा । तब वह धर्म नहीं रहेगा, अधर्म हो जायेगा । किन्तु, पंथ में यह बात नहीं है । अनन्त सत्य की खोज के लिए बाह्य नियमोपनियमों के द्वारा क्रिया-काण्ड के रूप में देश कालानुसार जो कोई मार्ग स्वीकार कर लिया जाता है, तो वह मार्ग पंथ है । अतः पंथ में धर्म रह भी सकता है, नहीं भी रह सकता है । किन्तु, धर्म में कोई पंथ नहीं होता है । नदी में नौका रहती है, “नाव बिच नदिया डूबी जाय”—कहने वाले कबीर की नौका में नदी भले रहती हो, किन्तु अन्यत्र कहीं पृथ्वी पर नौका में नदी नहीं रहती है । वैसे ही पंथ में धर्म रह सकता है, किन्तु धर्म में पंथ नहीं ।

पंथ का अर्थ है व्यक्ति, देश, काल, परिस्थिति के अनुसार अनन्त सत्य की खोज के लिए स्वीकार किया गया मार्ग । व्यक्ति की स्थितियाँ बदलती रहती हैं । वातावरण परिवर्तित होता रहता है । काल हर क्षण संसार का नवीनीकरण करता रहता है । किसी विशेष समय में स्थापित सामाजिक मूल्यों में उत्तरोत्तर उतार-चढ़ाव आता रहता है । इन सारे बदलते हुए परिवेशों में व्यक्ति के द्वारा स्वीकृत मापदण्ड नहीं बदलें, तो, पुराने पड़ जाते हैं, अनुपयोगी हो जाते हैं । अतः जो समाज देश, काल एवं परिस्थिति को ध्यान में रखकर सजगता एवं सर्जोदगी के साथ अपने मापदंडों को व्यवस्थित करता रहता है, वह जनजीवन के कल्याण हेतु अधिक उपयोगी होता है । अधिक चिरंजीवी होता है, प्रखर एवं तेजस्वी होता है, गतिमान होता है । अन्यथा, जो परम्परा प्रवाह में पड़े हुए पत्थर की तरह स्थिर एवं गतिहीन हो जाती है, उसमें कोई जीवन नहीं होता । संसार तीव्र वेग से प्रवाह की तरह बहता हुआ दूर-सुदूर निकल जाए और हमारी धर्म-परम्पराएँ अपनी प्रतिबद्ध व्यवस्थाओं में जहाँ-की-तहाँ निश्चेष्ट पड़ी रहें, तो क्या अर्थ रह जाता है उनके मरणोन्मुख अस्तित्व का ।

परिवर्तन जीवन है, विकास की यात्रा है । देश-कालानुसार विवेकपूर्वक किया गया परिवर्तन जनहित का निर्माता होता है । अतः प्रत्येक परम्परा को परिवर्तन में से गुजरना होता ही है । आज जो पंथों के परंपरावादी स्वयं को स्थिति-स्थापक कहते हैं और परिवर्तन का मजाक उड़ाते हैं, विरोध करते हैं, वे अपने मान्य तथाकथित अपरिवर्तन को कहीं तक सुरक्षित रख पाए हैं । जिस पंथ को कभी उन्होंने या उनके पूर्वजों ने स्वीकार किया था, वह भी किसी पहले के पंथ का परिवर्तित रूप ही तो था । दूर की बात जाने दीजिए, अपने जीवन काल में भी अनेक-अनेक परिवर्तन के चक्रों में से गुजर चुके हैं वे अपरिवर्तनवादी स्वयं भी और उनके साथी भी ।

समय को परखनेवाले दूरदर्शी एवं साहसी लोगों ने धर्मप्रचार के जिन साधनों का एक दिन उपयोग करना शुरू किया था, उसका तत्कालीन कुछ लोगों ने तगड़ा विरोध किया था, उसको धर्मघातक माना था । समाज में प्रचलित उन साधनों का उपयोग आगे न बढ़ पाए, इसके लिए कानून बनाए गए थे । पर, धीरे-धीरे वे महामना स्वयं ही उन सारी निषिद्ध बातों को स्वीकार करते चले गए । केवल एक ही बात पर अधिक ध्यान होता है ऐसे लोगों का । वह यह कि अस्वीकार करने में अगर यश-बटोरा जा सकता है, तो अस्वीकार करो, और अगर स्वीकार कर के यश प्राप्त होता है, तो स्वीकार करो । अपने को प्रतिष्ठा पाने से मतलब है । हमें सिद्धान्त और समाज-हित से क्या लेना-देना है ? इस प्रकार सत्य और असत्य, सिद्धान्त और परम्परा, स्वीकार और इनकार सब एक ही प्रतिष्ठा की कसौटी पर कसे जाते हैं । प्रतिष्ठावादियों को और किसी बात से मतलब ही नहीं है । अगर, सिद्धान्त के पकड़ की ही बात होती तो, धर्मक्षेत्र के अमुक परिवर्तन किस आधार पर समादर पाते, और स्वीकृत होते ।

कहा जाता है, धर्म के प्रचार के लिए साहित्य का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ है । पर, प्राचीन आगम आधुनिक प्रकाशन प्रणाली के सर्वथा विरोध में है । प्रकाशन तो क्या, निशीथसूत्र आदि तो लिखने के ही विरोध में हैं । सिद्धान्तों का आग्रह रखनेवाला साधक न स्वयं लिख सकता है, न लिखा सकता है, न लिखने का अनुमोदन कर सकता है ।

इसी प्रकार न स्वयं प्रकाशन कर सकता है, न दूसरों से करवा सकता है, और न अन्य करनेवालों का अनुमोदन ही कर सकता है। आज समाज में कोई शास्त्राचारी ऐसा नहीं है, जो उक्त त्रिविध प्रकाशन से बचा है। हाँ, इतना अवश्य है कि कुछ प्रत्यक्ष में हैं, तो कुछ परदे के पीछे हैं। यही बात पंडितों के द्वारा अध्ययन करने की है, संस्कृत, अंग्रेजी आदि पढ़ने की है, संस्थाओं के निर्माण की है, शिक्षा शिविर आदि के आयोजन की है, तपः समारोह एवं दीक्षोत्सव आदि मनाने की है।

ध्वनिवर्धक के प्रश्न ने समाज को पिछले चालीस वर्षों से परेशानी में डाल रखा है। अनेक सम्मेलन हुए, कोई निर्णय नहीं हो पाया। किन्तु, आज धीरे-धीरे सभी स्वीकृति के किनारे पहुँच रहे हैं। जो थोड़े से कुछ दूर हैं वे भी स्वीकृति के करीब ही हैं। बात केवल इतनी-सी है कि समय पर सामूहिक निर्णय करने की क्षमता यदि समाज में होती तो व्यर्थ के वाद-विवाद में समाज की शक्ति का इतना विघटन नहीं होता। किन्तु, दुर्भाग्य है कि शताब्दियों से सामूहिक रूप में सामाजिक हित की दृष्टि से हमने कोई सर्वानुमति से प्रस्ताव पारित नहीं किये और कभी कुछ किये भी हैं, तो उनका यथावत् पालन नहीं कर सके, कभी किसी पक्ष को तो कभी किसी वर्ग को सन्तुष्ट करने की नीति से इधर-उधर व्यर्थ के कुछ जोड़-तोड़ अवश्य करते रहे, पर उससे कुछ बना नहीं। बनना तो क्या था, अधिकतर बिगाड़ ही हुआ है।

समय पर योग्य निर्णय की आवश्यकता है। सभी पक्ष-विपक्ष मिलकर अगर कुछ कर सकें, तो बहुत अच्छा है। और, यदि सभी मिलकर सर्वसम्मत जैसा कुछ न कर सकें तो, जो महानुभाव युगदृष्टि रखते हैं, तदनुसार कुछ समझ सकते हैं, उन्हें तो हिम्मत से आगे आकर यथोचित काम करना ही चाहिए। परम्परावादी जड़ समाज से सामूहिक सर्व-सम्मति परिवर्तन की कब तक प्रतीक्षा की जा सकती है।

समाज के भविष्य की सुरक्षा तथाकथित अपरिवर्तनवादी कट्टर पुराणवादियों के हाथों में नहीं है। जो युगानुलक्षी काम करने को प्रस्तुत हैं, उनके द्वारा ही समाज का हित संभव है। यश और अपयश की भाषा में सोचना गलत है। क्रान्तिकारी उचित तथा अनुचित की, सत्य तथा असत्य की ही समीक्षात्मक भाषा जानते हैं। अपने देश-कालानुसारी तटस्थ समीक्षात्मक चिन्तन में प्रतिभासित होनेवाला उचित यथार्थ सत्य ही उनका कर्म-पथ होता है। इस प्रकार समाज सुधारकों एवं धर्मप्रचारकों की तो एक ही भाषा है और वह है जनहित। जनहित में निजहित भी समाविष्ट है। व्यक्ति जन में ही है, जन से अलग नहीं है। पत्र, पुष्प, फल सब वृक्ष में ही हैं, वृक्ष से अलग नहीं हैं। अतः व्यक्ति का हित समाज का हित है, और समाज का हित व्यक्ति का हित है। दोनों आपस में अन्योन्याश्रित हैं।

अस्तु, जब भी कोई व्यक्ति या व्यक्तियों का अमुक संगठन परिवर्तन की दिशा में क्रान्तिकारी कदम उठाये, तो उसे सर्वप्रथम यह विचार लेना चाहिए कि मेरे इस कदम से निकट या दूर भविष्य में समाज का क्या हित-साधन होगा? कहीं ऐसा न हो कि वह कदम क्रान्ति के नाम पर केवल उसकी अपनी व्यक्तिगत दैहिक या मानसिक सुख-सुविधा का ही सीमित रूप लेकर न रह जाए।

क्रान्ति को खतरा पुरातनवादियों से उतना नहीं है, जितना कि सुविधावादी नवीनतावादियों से है। सुधार और सुविधा में अन्तर है। जिस सुविधा में से जनजीवन में सुधार होता हो या हो सकता हो, वह सुविधा जनकल्याण की दिशा में प्रचार एवं प्रसार पाने योग्य है। और, जिस सुविधा में से व्यक्ति की तात्कालिक सुखोपभोग की पूर्ति के सिवा और कुछ भी जनहित का स्वर मुखरित न होता हो, वह क्रान्ति के नाम पर सार्वजनिक जीवन में प्रचार-प्रसार पाने योग्य नहीं है। अतः हर सुविधा सुधार नहीं है।

क्रान्तिकारी को सुख-दुःख से कुछ लेना-देना नहीं है। उसके लिए तो जो भी सुख या दुःख, सुविधा या असुविधा परिवर्तन में सहायक हो सके, क्रान्ति को आगे बढ़ा सके, वही मनसा, वचसा, कर्मणा अभिनन्दनीय है। जन-जीवन में अमृत वितरण करने के लिए वह स्वयं कभी हंसते, खिल-खिलाते हुए हला-हल विष भी पी सकता है। ऐसा विष हजारों क्रान्तिकारी अतीत में पी चुके हैं, वर्तमान में पी रहे हैं और भविष्य में पीते रहेंगे। उनका मूल मंत्र होता है—“कार्यं वा साधयामि, देहं वा पातयामि।” ऐसे ही सुख-दुःख से परे, यश-अपयश से परे रहने वाले धर्मवीर एवं कर्मवीर ही समाज में उचित परिवर्तन ला सकते हैं। कोई साथी नहीं होता है तत्काल में तो “एकला चलो रे” का उद्घोष होता है उनका। अकेले चलना बड़े साहस और जीवट का काम होता है। सब-कुछ मनुष्य की क्षमताशक्ति पर निर्भर करता है।

# दान की मनोवृत्ति

हर युग के कुछ अपने प्रश्न होते हैं और उन प्रश्नों के समाधान युग की चेतना को जिन प्राज्ञः पुरुषों ने जाना है, उनसे समाधान पाने की इच्छा होती है। ऐसे ही कुछ इस युग के प्रश्न हैं और उत्तर है युग-द्रष्टा के !



प्रश्न :—महापुरुषों की पुण्य-भूमि तीर्थक्षेत्रों में प्रायः करके अधिक गरीबी देखी जाती है, क्या दान की प्रचलित परम्परा में इस प्रश्न का हल है ?

उत्तर :—गरीबी का प्रश्न केवल तीर्थक्षेत्रों से ही सम्बन्धित नहीं है। गरीबी सारे देश के लिए एक बहुत बड़ी समस्या है; जो पहले भी थी और आज भी है। कहीं कम तो कहीं ज्यादा, अनुपात में थोड़ा बहुत अन्तर हो सकता है। परन्तु यह देश की सर्वतः प्रसृत व्यापक समस्या। कुछ समय पूर्व देश की आबादी केवल तीस करोड़ की थी और उसमें से केवल सात प्रतिशत आदमी ही श्रम करता था। उक्त स्थिति पर से स्पष्ट रूपेण प्रमाणित हो जाता है कि गरीबी का यह चक्र कब से चला आ रहा है और उसका मूल हेतु क्या है? जब तिरानवें प्रतिशत काम करनेवाले होंगे और सात प्रतिशत काम न करने वाले, तभी वस्तुतः गरीबी की समस्या का हल निकल सकेगा। उपयोग से अधिक श्रम के द्वारा उपार्जन ही थी एवं समृद्धि का हेतु है।

गरीबी केवल अभाव है, उसे श्रम से ही दूर किया जा सकता है। मनुष्य की निष्ठा मूलक कर्म-चेतना ही उस अभाव को मिटा सकती है। बहुत बार मनुष्य के लिए अभाव चुनौती का काम करता है। यदि मानव उसके समक्ष दृढ़ता से खड़ा होकर कर्मक्षेत्र में जूझने के लिए कटिबद्ध हो जाता है, तो अभाव को समाप्त करने की दिशा में सही समाधान मिल सकता है।

किन्तु, गरीबी अगर मनुष्य के मन में दीनता का रूप ले लेती है, तो जीवन की साहसमूलक कर्म-शक्ति को बर्बाद कर देती है। और, यह दीनता कुछ समय बाद एक ऐसे कुसंस्कार बद्धमूलक कर देती है कि फिर यह दीनता राज्य के समस्त कोश से तो क्या, कुबेर के कोश से भी मिट नहीं सकती। अतः याचना से, दान से अथवा अन्य किसी परकीय सहयोग की भीख से दीनता को दूर करने का विचार ही व्यर्थ है।

श्रम की निष्ठा के अभाव में देश की कर्म-चेतना व्यापक रूप से विलुप्त होती जा रही है। आवश्यकताएँ फँलती जा रही हैं। पाने की इच्छा लंका की राक्षसी सुरसा का मुख बनती जा रही है। इसका समाधान श्रम से हो सकता है, पर वह नहीं करना है। चाहिए सब-कुछ, किन्तु उसके लिए करना कुछ नहीं है, ऐसी स्थिति में इधर-उधर माँगने के सिवा और याचना के अतिरिक्त कर्मशून्य लोगों के पास अभीष्ट पाने का अन्य उपाय रहा ही क्या है? दूसरों से कुछ भी पाना हो तो उनके मन को तैयार करना पड़ेगा, इसके लिए उनके समक्ष रोना पड़ेगा, गिड़गिड़ाना पड़ेगा। स्वयं को बुरी-से-बुरी दीन-हीन स्थिति में प्रदर्शित करना पड़ेगा। और इतने बड़े प्राणहीन श्रम के द्वारा जो यत्किञ्चित् प्राप्त होगा भी, तो उससे दीनता बढ़ेगी ही, कम नहीं होगी। एक भिखारी द्वार पर खड़ा होकर कर्ण स्वर में भीख के लिए कितनी बार आवाज देता है, पर उसे मिलता क्या है? वही जो उपभोग से बचा-खुचा पड़ा है, जिसकी घर में आवश्यकता नहीं रह गयी है। इस तरह दान में प्राप्त वस्तु से भला किसी का क्या निर्माण हो सकता है? भीख से लोगों की यह गलत धारणा बन गयी है कि बिना श्रम किये भी जीवन मजे से गुजारा जा सकता है। यह मनोवृत्ति राष्ट्रव्यापी बनती जा रही है। लेने की चर्चा सभी जगह है, श्रम से पाने की बात बहुत कम। इससे कर्तव्य की भावना कम हुई है। उल्लसित साहस के उदात्त विचार कम हुए हैं। राष्ट्र की प्रगति के उपयोगी सही सूत्र हाथ से निकल रहे हैं। और इस प्रकार व्यापक रूप से गरीबी के नाम पर दीनता का प्रदर्शन हो रहा है।

इस स्थिति में सुख-साधनों की गरीबी हटने के बाद भी मन का दैन्य दूर हो ही जायेगा, यह निश्चित नहीं है। अतः गरीबी दूर करने से भी बड़ी बात है, दीनता को दूर करना। और, दीनता को दूर करने की शक्ति याचना में नहीं है, व्यक्ति के स्वयं के पौरुष में है, श्रम में है।

तीर्थक्षेत्रों के सम्बन्ध में जो प्रश्न है, वह वस्तुतः गरीबी का उतना नहीं है, जितना की दीनता का है। दीनता को पैदा करने जैसे किसी गलत इरादे से यह दीनता नहीं है, किन्तु गहराई से यथार्थमूलक विचार न करने एवं तत्काल में यों ही किसी काम चलाऊ उथले समाधान खोज लेने के कारण ही तीर्थक्षेत्रों में दीनता एवं गरीबी अधिक दृष्टिगोचर होती है।

भारत के चिन्तन की चिर अतीत से एक महत्वपूर्ण धारा रही है कि कोई कुछ माँग रहा है, किसी ने सामने हाथ फैलाया है, तो वह खाली हाथ नहीं लौटना चाहिए। कुछ-न-कुछ यथाशक्ति उसे देना ही चाहिए। सैंकड़ों उदाहरण अतीत के इतिहास में ऐसे हैं, कि भारत के दाता ने किसी को निराश नहीं लौटाया है, अपने द्वार से, किसी को यों ही यथागत खाली हाथ नहीं भेजा है। भले ही इसके लिए उन्हें अपना सर्वस्व ही समर्पित क्यों न करना पड़ा हो। दानवीर कर्ण, शिवि, दधीचि तथा हरिश्चन्द्र आदि इसके ज्योतिर्मय उदाहरण हैं। यह बहुत बड़ी उदात्त बात है, देनेवालों के पक्ष में।

दान किसके लिए है? दान की आवश्यकता क्यों है? धार्मिकों ने दान को इतना बड़ा महत्त्व क्यों दिया है? इन सारे प्रश्नों का बहुत तर्कयुक्त सावधानी के साथ विचार एवं निर्णय करना आवश्यक है। एक बात निश्चित है—दान केवल देनेवाले व्यक्ति तक ही सीमित नहीं है। जिसे दिया जा रहा है, उसके सम्बन्ध में भी कुछ सोच लेना आवश्यक है। देय की कब कितनी सीमा रखी जानी चाहिए? लेनेवाला उसका क्या उपयोग करेगा? प्रत्यक्ष बाहर में जो व्यक्ति जैसा दीख रहा है, वस्तुतः वह भीतर से भी वैसा है या नहीं, इस बात का तात्कालिक थर्मामीटर तो हमारे पास नहीं है। फिर भी साम्प्रदायिकता की दृष्टि से तो नहीं, किन्तु वास्तविकता की दृष्टि से कुछ यथासाध्य बातों पर आज के परिवेश में विचार कर लेना आवश्यक है। अन्यथा वर्तमान की प्रचलित दान-परम्परा का कोई कार्यकारी यथार्थ परिणाम निकलना असम्भव नहीं, तो दुःसम्भव अवश्य है।

चार-पाँच साल तक के छोटे-छोटे सैंकड़ों नंगे-अधनंगे अबोध बच्चे दो-पाँच पैसे के लिए जहाँ-तहाँ खड़े हो जाते हैं। हर आने-जानेवाले से हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाते हुए माँगते हैं—“ओ बाबूजी, ओ माताजी, देना कुछ। तुम्हारा कल्याण होगा। भूखे हैं, दो दिन से कुछ खाया नहीं है।” बच्चों की करुण आवाज सुनकर कोई भी सहृदय व्यक्ति तरस खा जाता है। कुछ-न-कुछ देने के लिए उसे बाध्य हो जाना पड़ता है। और, यह दान प्रतिफल के रूप में अन्ततः सामाजिक दीनता को ही पैदा करता है, अन्य कुछ नहीं। आज राष्ट्र के समक्ष यह एक विकट समस्या खड़ी है।

वस्तुतः होना यह चाहिए कि यदि कोई असहाय तुम्हारे द्वार पर आकर खड़ा हो गया है, और वह तुमसे याचना करता है, तो उसकी बात प्रेम से सुनो। मालूम करो कि उसके परिवार में कोई ऐसा है, जो उसकी सहायता कर सकता है, तो उसे समझाओ कि भीख माँगना ठीक नहीं है। इससे पुरुषार्थ नष्ट होता है, व्यक्ति की अन्तरात्मा का तेज मरता है। अच्छा है, जो भी यथावसर प्राप्त हो, श्रम करो। अपने को कब तक निरूपयोगी बनाये रहोगे? भले आदमी हो जाओ, किसी भी तरह अपने परिवार के लिए उपयोगी बनो। अगर वह नहीं समझता है, तो उसके पड़ोसी से कहो। वह भी इनकार करता है, तो गाँववालों को समझाने का प्रयत्न करो कि अगर यह असहाय इस तरह तुम्हारे गाँव से बाहर जाकर कहीं सहयोग की भीख माँगता है, तो तुम्हारे गाँव की शान खतम होगी। अतः इसके लिए रोटी-रोजी का उचित प्रबन्ध करना तुम्हारा कर्तव्य है।

इससे स्पष्ट है कि सक्षम होते हुए भी जिन्हें केवल भीख माँगने की आदत पड़ गयी है, वे अपने हाथों अपने ‘महान्’ जीवन की हत्या कर रहे हैं। ऐसे लोगों को दिए गए दान को आचार्य हरिभद्र ने पौरुषधन दान कहा है। पौरुषधन दान का अभिप्राय है—व्यक्ति के भीतर जो पौरुष है, जीवन है, उसको हनन करने वाला दान। भला, यह दान भी कोई दान है?

मेरी दृष्टि से सर्वसाधारण जनता में या जनता के अमुक वर्गों में माँगने की जो आदत पड़ गई है, वह हमारी उच्च भारतीय-संस्कृति एवं उदात्त सभ्यता का सबसे बड़ा पतन है। इसे रोकना जरूरी है।

अभी-अभी जो राष्ट्र बिलकुल अन्धेरे में थे, पिछड़े हुए थे, अशिक्षित थे, वे कितनी तेज गति से देखते-देखते आगे बढ़ रहे हैं, समृद्धि के महल खड़े कर रहे हैं। और, इधर भारत में हजारों-लाखों लोग जो अपने राष्ट्र और समाज के विकास में बहुत कुछ कार्य कर सकते हैं, वे भीख और दान पर जी रहे हैं, फलतः राष्ट्र के विकास में बाधा उपस्थित कर रहे हैं।

जो लोग दूर-दूर के प्रदेशों से तीर्थक्षेत्रों में आते हैं, वे अपने साथ ऐतिहासिक गरिमा के सुनहरे स्वप्न लेकर आते हैं। और, जब यहाँ उन्हें उनकी अपनी निर्धारित भावना के विपरीत वातावरण मिलता है, तो वे सहसा खिन्न-मनस्क हो जाते हैं। फलतः लौटते समय तीर्थक्षेत्रों की उदात्त गरिमा के स्थान पर, वहाँ की दयनीय स्थिति का ही नग्न चित्र अपनी स्मृति में लेकर जाते हैं।

आज समाज को इस स्थिति पर व्यापक रूप से विचार करना चाहिए। और, सामूहिक रूप से सामाजिक, धार्मिक एवं राष्ट्रीय स्तर पर इसे दूर करने के दूरगामी कार्यकारी उपाय खोजने चाहिए, जिससे गरीबी के साथ-साथ राष्ट्रव्यापी दीनता भी दूर की जा सके।

साथ ही एक बात और भी ध्यान में रखने योग्य है। जो अपंग है, असहाय है, जिन्हें सेवा की सही अपेक्षा है, सेवा एवं सहयोग के अभाव में सम्भव है, जिन्हें एक दिन जल्दी ही मर जाना पड़े, आत्म-हत्या करनी पड़े, उनके कल्याण के लिए, उनके यथोचित सन्मान की सुरक्षा का भाव रखते हुए कुछ न करना भी मानवता के लिए एक बहुत बड़ा कलङ्क है। राष्ट्र एवं धर्म का अपमान है। संस्कृति का घोर पतन है। अतः सर्वत्र विवेकपूर्वक चलने की आवश्यकता है। भीख के रूप में व्यर्थ का सहयोग देकर दैन्य नहीं बढ़ाना है, न प्रचलित दान के नाम पर गलत परम्परा का पोषण करना है, और न हृदयहीन शुष्क तर्कवाद के आधार पर वास्तविक असहाय एवं जरूरत-मन्दों को ही तिरस्कृत करना है।



# राजनीति पर धर्म का अंकुश

अत्याचारी दमन चक्र के,  
सम्मुख गिरि-सम अड़े रहो ।  
अन्तिम रक्त-बिन्दु तक अपने,  
सत्य-पक्ष पर खड़े रहो ॥

प्रश्न :—राजनीति में धर्मनीति का हस्तक्षेप है या नहीं ?

उत्तर :—मनुष्य-जीवन एकांगी नहीं है। वह पशु-पक्षी की तरह मात्र नर-मादा नहीं है। उसका अपना एक इतिहास है, अपनी एक संस्कृति है और है गरिमा से भरपूर एक परम्परा। उसके चारों ओर निर्मल चेतना का एक आलोकपूर्ण संसार है, जिसमें वह जीता है। अपनी मनुष्य जाति से ही नहीं, अन्य जीव-जगत से भी अलग होकर जीना उसके लिए असंभव है। समाज से सर्वथा अलग-थलग होकर वह पूर्णतः स्वनिर्भर रह नहीं सकता। उसका जीवन समाजाधारित है। सृष्टि की एक महत्त्वपूर्ण इकाई होने के नाते उस पर अन्य उत्तरदायित्व भी है। उस पर अपने पूर्वजों का ऋण है, जिसे उसे प्रामाणिकता के साथ अदा करना है। साथ ही वह अगली पीढ़ी के लिए ऋणदाता भी है। अस्तु, उसका जीवन व्यक्तिगत होते हुए भी सामाजिक है। स्वतन्त्र होते हुए भी परिवार, पड़ोस, समाज, राष्ट्र तथा विश्व से तादात्म्य भाव से जुड़ा है। ऐसा सुसम्बद्ध जीवन एक सुनियोजित जीवन पद्धति से जीया जाए और सभी को उसकी सुख-सुविधा सहज उपलब्ध हो, ऐसी सुनियोजित जीवन पद्धति को ही नीति कहते हैं—  
“नयतीति नीति।” जीवन को जो ले चलती है, वहन करती है, वह नीति है। राजकीय सरणी से जीवन को अनुशासित करने की पद्धति को राजनीति कहते हैं, और जो जीवन को परम आत्मिक ऊंचाई की ओर ले चले, वह धर्मनीति है। अतः केवल राजनीति में ही नहीं, समाजनीति तथा अर्थनीति में भी जीवन के विकासशील आयामों की विविध दिशाओं में भी धर्मनीति की आवश्यकता असंदिग्ध है।

धर्म वस्तुतः, जीवन को ऊंचा उठानेवाले सिद्धान्तों का संघात है। अन्तरात्मा की गहराई से उठी हुई पुकार है, जागरण का सतत आह्वान है—

“उद्विग्नो ष्माइए।”  
“उत्तिष्ठत जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत !”

उठो, जागो, सोये मत रहो। महान् श्रेष्ठ पुरुषों की संगति में रहकर जीवन के ऊंचे-से-ऊंचे शिखरों पर प्रयाण का सम्यक् बोध प्राप्त करो।

धर्म मानव के अन्तरंग की अध्यात्म चेतना है। धार्मिक व्यक्ति अन्तर् में जाग्रत रहकर निरन्तर अन्तरात्मा का सम्मार्जन तथा परिमार्जन करता है। क्रोध, मोह, अहंकार आदि मन के विकारों को क्षीण करता है। दया, प्रेम, क्षमा आदि सद्गुणों का विकास साधता है। उसके बाह्य परिवेश और उसकी दिनचर्या से सम्बद्ध भोजन, भवन, वसन तथा आचार-व्यवहार पर आधारित नियमोपनियम की जो विधि-निषेधमूलक व्यवस्था है, हम उसे ही धर्म-नीति कहते हैं। धर्म हमारी प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक परम्परा रही है, जो सदा हमारी राजनीति पर छायी रही है, जैसे भूमण्डल पर आकाश। आकाश बरसता है, पृथ्वी पर खुशियाली-हरियाली छा जाती है। प्रारंभ से ही हमारे धर्माचार्य, धर्मगुरु ज्ञान का प्रकाश ले आकाश में चमकते रहे हैं। उनकी विकीर्ण प्रकाश रश्मियों से पृथ्वी का विकास तथा संवर्धन होता रहा है। राजमहलों में पले राज्यश्री के उत्तराधिकारी राजकुमारों का जीवन प्रारंभिक अवस्था में आश्रमों में गुरु के पवित्र सान्निध्य में गुजरता था। वे दिव्य गुरु के चरणों में अन्तेवासी बनकर अध्ययन करते थे। धर्मगुरु के हाथों में केवल धर्म-शास्त्र ही नहीं, शासन-सूत्र भी रहते थे। वे धर्म-शास्त्र के उद्घोष के साथ ही धर्मानुप्राणित राजनीति, समाजनीति और परिवारनीति के जन-कल्याणकारी प्रयोग तथा अन्यान्य विद्याओं का मुक्त हृदय से दान करते थे। इस प्रकार व्यक्ति के हाथों धर्मशास्त्रानुप्राणित राज्य सत्ता होती थी। वस्तुतः धर्म के प्रकाश से प्रकाशित और धर्म की कसौटी पर कसी हुई राजनीति ही प्रजाहितकारी सिद्ध होती है। वह शासन सुशासन होता है। धर्मानुरजित-आत्मा धर्ममूर्ति राजा युधिष्ठिर के लिए महर्षि व्यास ने ठीक ही कहा है—  
“जहाँ राजा युधिष्ठिर है, वहाँ सुकाल है, समृद्धि है, सुख है। प्रजा खुशहाल है। वहाँ रोग नहीं हो सकता, अकाल नहीं हो सकता। अपराध तथा उपद्रव नहीं हो सकते।”

धर्मानुप्राणित राजनीति हमारे उच्चतम नैतिक मूल्यों तथा आदर्शों की दिशा में गतिशील होती है और धर्मविहीन राजनीति मात्र कूटनीति बन जाती है। छल-छद्म का खेल बनकर रह जाती है। वह मनुष्य की पाशविक वृत्तियों की निम्नतम क्रीड़ा-भूमि बन जाती है। राजनीति के सम्मुख धर्म के उच्चादर्श रहने से देश नैतिक पतन से बच सकता है, अन्यथा आचारहीनता के जघन्य काले धब्बे से राष्ट्र का पवित्र शरीर श्रीहीन हो जाएगा। धर्म-विहीन राजनीति उस पागल व्यक्ति की तरह है, जो बेतहाश भागा जा रहा हो, भागते, भागते उसका दम फूल रहा हो, किन्तु उसे स्वयं अपनी मंजिल का कुछ भी अता-पता न हो। रोककर कोई पूछे तो कहेगा, पता नहीं,

राजनीति पर धर्म का अंकुश

१४१

मुझे कहाँ जाना है ? लेकिन मुझे रोको मत, मुझे जाने दो, मैं जल्दी में हूँ, तुम्हारी पूछ-ताछ में मुझे व्यर्थ ही देर हो रही है ।

सम्राट अशोक की गाथा भारत के इतिहास की स्वर्णिम गाथा है । उसका कलिंग युद्ध, युद्ध-पूर्ववर्ती जीवन तथा राजनीति और युद्धोपरान्त उसकी धर्म सम्बन्धी एवं आमूल परिवर्तित उसकी राजनीति को जब हम देखते हैं, तो बहुत आसानी से हम यह समझ लेते हैं कि राजनीति में धर्मनीति का स्थान कितना महत्वपूर्ण होता है । धर्म से अनुप्राणित होने पर अशोक ने जन-सेवा के जो उदात्त कार्य किए हैं, उन्हीं के फलस्वरूप अशोक, महान् अशोक के नाम से इतिहास में याद किया गया है ।

धर्म के साथ राजनीति सुनीति है । बहुत स्थूल दृष्टि से देखने पर जो नीति कुनीति प्रतीत होती है, धर्म के प्रकाश में वह सुनीति बन जाती है । और साधारण तौर पर प्रतिभासित सुनीति भी धर्म-विमुख होने पर दुर्नीति हो जाती है । महाभारत के युद्ध में अर्जुन की अपनी राजनीति है तथा दुर्योधन की अपनी । हमेशा मायाजाल का आश्रय लेनेवाला दुर्योधन युद्ध में कभी-कभी नीति पर चलता मालूम होता है । किन्तु उसकी नीति, नीति नहीं रह पाती । जबकि नीतिज्ञ प्रजापुरुष श्री कृष्ण दुरात्माओं के अन्याय-अत्याचार की समाप्ति के लिए जहाँ जैसा मौका देखते हैं, वैसा राजनीति का उपयोग करते हैं । कितनी ही बार छल का उपयोग हुआ है, फिर भी उनकी नीति, नीति है, दुर्नीति तथा कुनीति नहीं । उस धर्मक्षेत्र में अन्तःसलिला सरस्वती की तरह सत्य और न्याय का वह हितावह स्रोत अगोचर रूप से सर्वत्र सतत प्रवहमान है । न्याय के लिए युद्ध करना, अत्याचार के खिलाफ तलवार उठाना तथा आततायियों के दमन के लिए संघर्ष करना और जीवन के महान् आदर्शों के लिए जूझना धर्म है । उसकी हिंसा में भी लोक-मंगल की कामना है । अतः, वह धर्म है । निःसन्देह, लोक-मंगल-सम्पन्न ऐसी नीति ही सुनीति है ।

वैदिक-परम्परा में धर्मगुरु राजनीति के क्षेत्र में भी राजा की छाया की तरह बराबर उसके साथ रहे हैं । जैन-परम्परा में यह उतना प्रत्यक्ष नहीं है, किन्तु प्रकाश पुरुष के रूप में वह निश्चित रूप से विद्यमान है । प्रेरणा के उत्स सदा धर्माचार्य ही रहे हैं । उस युग निर्माता ने अपने धर्म सिंहासन से अनेकानेक राजसिंहासनों को धर्माभिमुख किया है । राजा चेटक का न्यायहेतु विपथगामी अजातशत्रु कुणिक के साथ युद्ध होता है । भगवान् महावीर की दृष्टि में चेटक का युद्ध धर्मयुद्ध है । क्योंकि वह न्याय और लोक-मंगल से प्रेरित है । अतः युद्ध-काल में भगवान् ने कुणिक की राजधानी चम्पा में रहकर भी उसके अधर्म-युद्ध का विरोध किया ।

प्रारम्भ से ही भगवान् महावीर की स्वर्णिम परम्परा के मणिरत्नभूत आचार्य सिद्धसेन दिवाकर तथा आचार्य हेमचन्द्र आदि वे ज्योतिर्मय आचार्य हुए हैं, जिनकी धर्म-प्रेरणा से राजा विक्रम तथा कुमारपाल जैसे सम्राट् प्रेरित हुए हैं । इतिहास का विद्यार्थी सहज ही जान सकता है कि इन राजाओं का शासन अन्य राजाओं की अपेक्षा कितना श्रेष्ठ रहा है । प्रजाहित के संरक्षण एवं संवर्धन में वे धर्मगुरु और उनके प्रजावत्सल शिष्य नरेन्द्र हजारो वर्षों तक अन्य राजाओं के प्रेरणा-स्रोत रहे हैं ।

इसके साथ ही एक बात मैं स्पष्ट रूप से कहना चाहूँगा । चूँकि हम किसी मृत संसार में नहीं जन्मे हैं । मृत को दफनाने के सिवा और कोई मार्ग नहीं है । हमें जीवन के आयामों के प्रति उसकी बनती-बिगड़ती वर्तमान एवं भविष्योन्मुखी परिस्थितियों के प्रति सचेत रहना है । सत्य के आलोक में विवेकमूलक दीर्घ दृष्टि से तथ्यों को निर्भीकता से स्वीकारना है । हमें यह कहना है कि धर्ममूलक राजनीति परमावश्यक है । किन्तु, हमें सावधान रहना है कि कहीं धर्म के नाम पर साम्प्रदायिकता तथा जातीयता का प्रवेश न हो जाए । साम्प्रदायिकता की आग सामान्य आग नहीं होती, वह दावानल है, जिसमें बहुत सारे देश तबाह हो रहे हैं । आज इरान, इराक आदि देश राजनीतिक पतन की एक लंबी नापाक कहानी बन गये हैं । साम्प्रदायिकता तथा जातीयता से अनुप्रेरित राजनीति के धर्म-सिद्धान्त अहिंसा तथा जनकल्याण के आदर्श नहीं हो सकते । वस्तुतः वे स्वार्थपूर्ति के साधन हैं । राजनीति की चालबाजी के द्वारा सिंहासन हथियाने में षडयंत्र मात्र है । ऐसी स्थिति में राजनीति भी असफल रहती है, और धर्म-नीति भी । क्योंकि उसमें साम्प्रदायिकता का जहर परिव्याप्त है । धर्मशून्य मत-पंथ और राज्य दोनों ही जन-जीवन के लिए प्राणघातक हलाहल विष हैं ।

धर्म और राजनीति का सही निर्माण विवेकशील कुशल मस्तिष्क ही कर सकते हैं । कलाकार ही सौंदर्य को मूर्त रूप दे सकता है । मूर्ति के दायें हाथ की जगह बाँया हाथ जोड़ दें, पैर की जगह हाथ और हाथ की जगह पैर जोड़ दें, तो वह कैसी बदसूरत लगेगी ? मंजिल को राह और राह को मंजिल नहीं बनाना है । राह, राह रहे और मंजिल, मंजिल । यही समझदारी की बात है ।



# सम्यक्त्व : पंथो के घेरे में

आँख खोल कर देखो-परखो,  
करो न बन्द बुद्धि के द्वार।  
छिन्न-भिन्न कर दो तमसावृत,  
रूढ़िवाद का कारागार ॥

महाश्रमण महावीर, जो देवों के भी देव हैं, देवाधिदेव हैं। जिनके ज्योतिर्मय चरणों में धरती और स्वर्ग दोनों बन्दना के लिए झुक जाते हैं। महल एवं श्लोषडियाँ दोनों एक साथ पावन चरण-रज लेने को एक साथ झुक गई। वह विराट् ज्योतिर्मय आत्मा है, जिन्होंने अपने अन्दर सोये हुए ईश्वर को जगा लिया है। उनका परमात्मा कहीं बाहर में नहीं, अन्दर में ही सोया था, उसे जगा लिया और ऐसा जगाया कि अनन्त-अनन्त काल के लिए, सदा-सर्वदा के लिए, अब जागरण ही जागरण है। अब पुनः सोने का सवाल ही नहीं रहा।

उस अनन्त ज्योतिर्मय महापुरुष की वाणी है—ये संसारी आत्माएँ अनन्त-अनन्त काल से मोह के वश अपने स्वरूप को भूली हुई हैं। इन्हें यह भी पता नहीं कि हम कौन हैं? इस देह को, मिट्टी के पिंड को ही अपना स्वरूप समझती रही हैं। मैं इस देह से भिन्न हूँ—यह भेद-विज्ञान तथा जड़-चेतन का भेद मोह से ग्रस्त आत्मा की अनुभूति में आया नहीं। उस महापुरुष ने जड़-चेतन के भेद के गूढ़ रहस्य के द्वार को उद्घाटित किया और बताया कि मैं कौन हूँ?

महाश्रमण महावीर ने उद्बोधन के रूप में हर आत्मा को लक्ष्य करते हुए कहा है—तू मिट्टी नहीं है, तू जल भी नहीं है, तू पवन का खेल मात्र भी नहीं है, तू अग्नि की ज्वाला भी नहीं है और न तू आकाश है। तू पञ्च महाभूतों से निर्मित इस देह से सर्वथा भिन्न है। ये पञ्च महाभूत जड़ हैं और तू चेतन है, ज्योतिर्मय है। इन पञ्च महाभूतों से तेरा नहीं, तेरे शरीर का निर्माण हुआ है। तू तो निर्माण से परे है। तू तो अनादि-अनन्त है। तू अजन्मा है। इसलिए तू अमृत है। जन्म-मरण तेरा नहीं, देह का होता है। वही बार-बार बदलता है। उसमें निवसित तू जन्म-मरण से रहित है। संसार में कोई शक्ति नहीं, जो तुझे मार सके।

भगवान् महावीर ने जन-जन को पहला बोध यही दिया था। अपने स्वरूप को जानो, समझो। तीर्थंकर सर्वप्रथम स्वरूप की ज्योति ही जगाते हैं, अहिंसा आदि की बात वाद में करते हैं। साधु-जीवन के, श्रावक-जीवन के व्रत, नियम, उपनियम की चर्चा के वाद में करते हैं। अर्हन्त भगवान् की सबसे पहली चर्चा होती है—स्वरूप-बोध की। जिसे आगम की भाषा में सम्यक्त्व कहते हैं, सम्यक्-दर्शन कहते हैं, सम्यक्-बोध कहते हैं।

सम्यक्-दर्शन का अर्थ है—वस्तु के स्वरूप को देखने-परखने की तथा समझने की दृष्टि का सम्यक् होना अर्थात् वस्तु को ठीक तरह से देखना। किसको देखना? क्या पहाड़ों को, नदी-नालों को, ग्रह-नक्षत्रों को एवं अन्य पदार्थों को अच्छी तरह देखना? नहीं, ऐसा नहीं है। देखना है, निज स्वरूप को। निज स्वरूप की झांकी पा लेना सम्यक्-दर्शन है। अपना स्वरूप देखने का तात्पर्य है कि अपना जो यथार्थ स्वरूप है, अनन्त चेतना है, उसे जान लेना। जड़ क्या है और चेतन क्या है? और मेरा अपना स्वरूप क्या है—जड़ या चेतन? यह भेद-विज्ञान ही सम्यक्-दर्शन है। भेद-विज्ञान से तत्त्व का यथार्थ बोध हो जाता है। जड़-चेतन के स्वरूप-बोध के साथ यह भी ज्ञात हो जाता है कि आश्रव, संवर, पुण्य-पाप, बन्ध, निर्जरा एवं मोक्ष का तात्त्विक स्वरूप क्या है? तत्त्व के यथार्थ स्वरूप को जानना ही सम्यक्-दर्शन है। और यह सम्यक्-दर्शन मूल में आत्मा का स्वरूप है। प्रभु की वाणी को हृदयंगम करके जीवन में उतारनेवाले उनके महान् शिष्यों ने कहा है—

“जीवादिसद्दहणं सम्भत्तं रुवमप्यणो तं तु”

चैतन्य को जानने का अर्थ है—चैतन्य की प्रतीति होना। और, चैतन्य से भिन्न जो है वह जड़ है। यह भेद-विज्ञान की प्रतीति अन्तर् से स्फुरित होती है। मेरा स्वरूप निरंजन, निर्विकार, ज्ञानमय है। जड़-जगत् चेतना से सर्वथा शून्य है। इसलिए उससे मैं सर्वथा भिन्न हूँ। जीवादि पदार्थों की, तत्त्वों की, जो श्रद्धा है, प्रतीति है, स्वानुभूति है, वही सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व कोई बाहर से आगत वस्तु नहीं है, वह आत्मा की स्वयं की ज्योति है और स्वयं में ही प्रज्वलित है। वस्तुतः सम्यक्त्व लेने-देने-जैसी नहीं है। लेने-देने बाह्य वस्तु का होता है। अपने स्वरूप की, जो है, जैसा है—प्रतीति होना, विश्वास होना, श्रद्धा होना, यह आत्म-जागृति है। भला, इसे कोई व्यक्ति क्या देगा और कोई व्यक्ति कैसे लेगा? श्रमण भगवान् महावीर ने आत्मा के स्वरूप का, तत्त्व के स्वरूप का और सम्यक्त्व के स्वरूप का वर्णन तो किया, लेकिन आगम में कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं है कि उन्होंने किसी भी व्यक्ति को सम्यक्त्व दी या किसी व्यक्ति ने उनसे सम्यक्त्व ली। भगवान् व्यवहार दृष्टि से श्रावक के व्रतों के तथा साधु

के ब्रतों के तो साक्षी रूप में दाता रहे हैं, परन्तु सम्यक्त्व के नहीं। क्योंकि यह तो आत्म-ज्योति है, अन्दर की श्रद्धा-निष्ठा एवं अनुभूति है। गुरु के निमित्त से, उपदेश से एवं अन्य किसी निमित्त से वह ज्योति जग तो सकती है, परन्तु जगती है अपने अन्दर से ही।

यह अटल सिद्धान्त है कि एक द्रव्य न तो दूसरे द्रव्य को अपने गुण-धर्म दे सकता है और न एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के गुण-धर्म को ले सकता है। यह स्पष्ट है कि सत्य का उपदेश आत्मस्वरूप का उपदेश दे सकता है। अतः सम्यक्-दर्शन का स्वरूप क्या है? भगवान् महावीर ने इसकी देशना दी, किन्तु किसी भी व्यक्ति को महा-प्रभु ने आज की तरह सम्यक्त्व नहीं दी। आज, सम्यक्त्व के देने और लेने की जो परम्पराएँ चल रही हैं, धारणाएँ बन गई हैं, उनका आगम से कोई सम्बन्ध नहीं है। आगमों में भगवान् महावीर के जीवन-वृत्त हमारे सामने हैं, उनके वाद के महान् आचार्यों के भी जीवन-वृत्त हमारे समक्ष हैं। उन्होंने ब्रत तो दिये, परन्तु सम्यक्त्व नहीं दी। सम्यक्त्व तो स्वयं स्फूर्त होती है। उसका परिबोध दिया जाता है और कुछ नहीं। सत्य यह है कि सम्यक्त्व एक दृष्टि है, अन्तर्-दृष्टि! दृष्टि दी नहीं जाती, वह स्वतः खुलती है। उस दृष्टि को जो बन्द है, खोलने में गुरु निमित्त बन सकता है, इसमें अधिक कुछ नहीं। परन्तु वह दृष्टि इतनी महत्त्वपूर्ण है कि अध्यात्म-साधना का प्रथम सोपान ही नहीं, धर्म का मूल है—“दंसणमूलो धम्मो।”

धर्मरूपी कल्पवृक्ष का मूल, दर्शन है, सम्यक्त्व है। वृक्ष, बाहर में फैलता जा रहा है, उसकी शाखाएँ ऊपर आकाश की ओर विस्तार पा रही हैं, पर यह सब विस्तार एवं फैलाव उसके मूल में से हो रहा है। उसके बाहरी विस्तार का प्राण मूल में है, जड़ में है। वस्तुतः प्राणवत्ता जड़ में है। यदि मूल नहीं है, तो वृक्ष पल्लवित-पुष्पित होगा कहाँ से? कहाँ है—“मूलं नास्ति कुतः शाखा” यदि मूल नहीं है, तो वृक्ष की शाखा-प्रशाखाएँ, पत्ते, फूल कहाँ से होंगे? तो सम्यक्-दर्शन अध्यात्म-साधना का, आत्म-विकास का, धर्म का मूल है। यदि मूल ही नहीं है, तो चारित्र्य का, संयम का, साधना का वृक्ष फूलेगा-फलेगा कैसे?

अतः भगवान् महावीर सर्व प्रथम आत्म-स्वरूप के बोध का उपदेश देते हैं। स्वरूप-बोध के बाद वे निश्चय एवं व्यवहार चारित्र्य का उपदेश देते हैं। वीतराग-भाव में आत्म-लीनता, आत्म-स्थिरता निश्चय चारित्र्य है, जो मोक्ष का मूल अंग है। और नियमोपनियम रूप व्यवहार चारित्र्य है, जो उप-अंग है। अतः तीर्थंकर व्यवहार में सर्व-चारित्र्य (साधु-धर्म) या देश-चारित्र्य (श्रावक-धर्म) की प्रतिज्ञा करते हैं। परन्तु, प्रतिज्ञा के साथ-साथ यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि यह व्यवहार चारित्र्य है। बाह्य वस्तुओं को छोड़ना, उनकी मर्यादा करना, अणुव्रत एवं महाव्रतों को स्वीकार करना बाह्याचार है। वस्तुतः त्याग-प्रत्याख्यान बाह्य वस्तुओं का नहीं, प्रत्युत उन पर जो आसक्ति है, ममत्व है और उनको प्राप्त करने की इच्छा-लालसा एवं तृष्णा है, उसका परित्याग है। और वह अन्दर में ही होता है, बाहर में नहीं। इच्छाओं का निरोध ही चारित्र्य है। इच्छाओं का विस्तार आसन्न है और उनका निरोध संवर है। इसलिए निश्चय में चारित्र्य वीतराग-भाव है। वीतराग-भाव आत्मा का स्वभाव है। वह दिया-लिया नहीं जा सकता। निश्चय-चारित्र्य है क्या? “मोहबखोहविहीणो”—मोह और क्षोभ से रहित होना ही निश्चय चारित्र्य है। देखना यह है कि आत्म-ज्योति के जगने से मोह-क्षोभ अर्थात् राग-द्वेष कितना क्षीण हो रहा है, उसका कितना क्षयोपशम हो रहा है। जितने अंश में राग-द्वेष नहीं हैं, उतने अंश में ही चारित्र्य है। और जितने अंश में राग-द्वेष है, उतने अंश में चारित्र्य नहीं है। तात्पर्य यह है कि चारित्र्य अन्तरंग में मोह-क्षोभ का क्षय एवं क्षयोपशम है, बाहर के व्यवहार मात्र में नहीं। तीर्थंकर एवं गुरु, जो चारित्र्य में साक्षीरूप रहते हैं, वे व्यवहार-चारित्र्य के रहते हैं। वीतराग प्रभु का स्पष्ट कथन है कि मैं तुम्हारे व्यवहार-चारित्र्य का साक्षी हूँ। निश्चय चारित्र्य की साक्षी तुम्हारी अन्तरात्मा है। महाप्रभु ने कितनी बड़ी बात कही है। मैं जब-जब आगम पढ़ता हूँ, प्रभु की वाणी, जो आगमों के पृष्ठों पर अमुक अंश में आज भी लिपिवद्ध है, जब-जब मेरी आँखों के सामने आती है, तो मेरा मन उत्साहित हो जाता है। अन्तर् की भाव-धारणाएँ प्रवहमान हो जाती हैं। मस्तक श्रद्धा से झुक जाता है, उन पवित्र श्रुति-चरणों में। कितना महान् ‘अपरिग्रही’ जीवन। केवल बाह्य वस्तुओं का परिग्रह छोड़ दिया हो, इतना ही नहीं। महाप्रभु का सबसे महान् अपरिग्रह तो यह है कि न उनका कोई पंथ है, न कोई सम्प्रदाय है, और न किसी के साथ किसी प्रकार का लगाव है। वे अन्दर में पूर्णतः निर्लिप्त रहे हैं। संसार-सागर में विचरण कर रहे हैं वे, पर संसार-सागर की एक बूंद भी उन्हें स्पर्श नहीं कर पाती। वे संसार-सागर से

पूर्णतः निर्लिप्त हैं। क्योंकि न उन्हें किसी भी प्रकार का आग्रह है और न आसक्ति है। और न अपने-पराये का कोई पक्ष-भेद है। उनकी दृष्टि अनेकान्त की है और उसमें किसी भी तरह के एकान्त की लिप्तता नहीं है।

भगवान् महावीर का यह विराट् एवं महान् संघ उनके द्वारा उपदिष्ट यदि इसी तत्त्वज्ञान की ज्योति में गति करता, यदि वीतराग-वाणी का सम्यक् प्रकार से हृदय को स्पर्श हुआ होता, तो यह खण्ड-खण्ड नहीं होता, टुकड़ों में विभक्त नहीं होता। आज आप सबको यह एक चुनौती है कि तुम सब आवाज तो अनेकान्त की लगा रहे हो, वीतरागता की लगा रहे हो, भगवान् महावीर के सच्चे उपासक होने की लगा रहे हो, पर आपस में तुम मिल नहीं रहे हो, परस्पर टकरा रहे हो। तुम दावे के साथ कह रहे हो, जो कुछ मैं कह रहा हूँ, वही आवाज महावीर की है। मैं ही महावीर का सच्चा प्रतिनिधि हूँ। आपका प्रतिपक्षी दूसरा कहता है कि नहीं, मेरी आवाज में ही प्रभु का सत्य है। महावीर का सच्चा प्रतिनिधि मैं ही हूँ। चाहे दिग्म्बर हो या श्वेताम्बर हो, चाहे स्थानकवासी हो या तेरापंथी हो, इन टुकड़ों के अन्दर भी टुकड़े हैं, पंथों में भी पंथ है और सब आवाजें लगाते जा रहे हैं कि महावीर की देशना हमारी आवाज में है। मुझे इतना ही कहना है कि यदि ये आवाजें एक हैं, भगवान् महावीर के तत्त्व-ज्ञान को अनेकान्त दृष्टि से अभिव्यक्त कर रही हैं और प्रभु की वाणी उनके अन्तर्-हृदय से ध्वनित हो रही है, तो उनमें मेल होना चाहिए। परन्तु, ये तो पृथक्-पृथक् हैं। उनमें अलगाव है, इतना ही नहीं, अपितु परस्पर एक-दूसरी आवाज को काट भी रही हैं। अस्तु मुझे कहना पड़ेगा कि ये आवाजें महाश्रमण भगवान् महावीर की नहीं, अपने-अपने पंथों की हैं। अपने-अपने साम्प्रदायिक दुराग्रहों की हैं। जैसे राजनीति में अपनी-अपनी पार्टियों की आवाजें होती हैं—एक-दूसरे को नीचा दिखाने की तथा छीना-झपटी करके एक-दूसरी पार्टियों के सदस्यों को अपने में मिलाने की। इन राजनैतिक पार्टियों का हाल आप अभी सन् '८० के चुनावों में देख ही चुके हैं। इन पंथों का भी वही रूप है, इससे भिन्न नहीं। पार्टियों में दल-बदल का जो रूप है, वैसा ही इन पंथों में भी है। हमारे इन तथाकथित पंथों में भी दल-बदल का काम चल रहा है। कुछ सम्प्रदायों में तो यह धंधा काफी जोरों से चल रहा है और वह कुछ नया नहीं, अनेक पीढ़ियों से है। राजनीतिज्ञों ने तो दल-बदलने का काम बहुत बाद में शुरू किया है। यहाँ तो एक सम्प्रदाय का आचार्य दूसरी सम्प्रदाय के श्रावक को अपने में लेने के लिए पहले की सम्यक्त्व बदल देता है। वह कहता है—तुम मेरी सम्यक्त्व ले लो। क्योंकि परम सत्य मेरे पास है, महावीर का तत्त्व-ज्ञान मेरे पास है। सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-चारित्र्य मेरी सम्प्रदाय से बाहर कहीं अन्यत्र है ही नहीं।

वास्तव में सम्यक्त्व लेने-देने की वस्तु है ही नहीं। यदि लेना-देना है, तो जरा सोचें, लेनेवाला क्या ले रहा है और देनेवाला क्या दे रहा है? यदि सम्यक्त्व देनेवाला गुरु सम्यक्त्व के अर्थ को जानता है और लेनेवाले को भी कुछ बोध है, तो उन्हें यह परिज्ञान होना चाहिए कि सम्यक्त्व के पूर्व कोई व्रत नहीं होता। सम्यक्-चारित्र्य (व्रत) सम्यक्-दर्शन के बिना हो नहीं सकता। यदि उसकी पूर्व की सम्यक्त्व गलत थी, जिसे बदला रहे हैं, मिथ्यात्वी को सम्यक्त्वी बना रहे हैं, तो उसके पूर्व के व्रतों को भी बदलना चाहिए। परन्तु, ऐसा वे नहीं करते। व्रत-नियम तो उसके वैसे ही रहते हैं, केवल बदलते हैं श्रद्धा को। आजकल के ये तथाकथित पंथवादी साधु बहुत चालाक हो गये हैं। इसका परिणाम है कि वे अपने पंथ के सिवा सबको मिथ्या-दृष्टि मानकर चलते हैं। श्वेताम्बर, दिग्म्बर, स्थानकवासी, तेरापंथी और इन सम्प्रदायों में भी जो टुकड़े हैं, वे भी परस्पर एक-दूसरे को मिथ्या-दृष्टि माने हुए हैं। स्थानकवासी स्थानकवासी की ही दूसरी परम्परा को, सम्प्रदाय को मिथ्यात्वी मानकर चल रहा है। एक गुरु दूसरे गुरु के शिष्यों की सम्यक्त्व बदलवा रहा है। यदि मिथ्या-दृष्टि मानने की भावना नहीं है, तो फिर सम्यक्त्व बदलाने का क्या अर्थ रहा? उनको तो अब यह भी चाहिए कि सम्यक्त्व के साथ उसके व्रतों को भी बदला जाय। नये सिरे से उसका नव-निर्माण हो। व्रत वे ही रहते हैं। उन्हें सही मान लेते हैं, तभी तो उन्हें बदलते नहीं। परन्तु, महावीर प्रभु का सिद्धान्त यह है—जिसकी सम्यक्त्व (श्रद्धा-निष्ठा) सही नहीं है, उसके व्रत सम्यक् हो नहीं सकते। परन्तु, सम्प्रदायवाद के रंग में रंगे साधु सिद्धान्त को गहराई में नहीं उतरते। उनका उद्देश्य तो सिर्फ अपने पंथ के मानने वालों की संख्या बढ़ाना है। जैसे आजकल पण्डे-पुरोहित यत्र-तत्र अपने यजमान बनाते फिरते हैं, वही हाल है इन साम्प्रदायिक धर्म-गुरुओं का।

बहुत वर्ष पहले मेरा एक बड़े नगर में चातुर्मास था। वहाँ के भाई बात कर रहे थे—यहाँ अमुक महाराज के इतने घर हैं और अमुक महाराज के इतने। पहले अमुक महाराज के घर अधिक थे, परन्तु जब दूसरे महाराज आये तो उन्होंने पहले महाराज के घर तोड़ लिए, इसलिए अब उनके घर अधिक हो गए हैं। क्या यह महावीर

के सिद्धान्त के अनुरूप है ? बड़ा आश्चर्य है, अपने आपको उत्कृष्ट चारित्र के साधु मनानेवाले भी कितने नीचे स्तर पर उतर आते हैं। और तो और, उनके जीवन में शिष्टाचार भी परिलक्षित नहीं होता। आज का दीक्षित साधु भी—यदि दूसरी सम्प्रदाय का पचास-साठ वर्ष का दीक्षित साधु आ जाय, तो वह उसका साधारण शिष्टाचार जितना भी सम्मान नहीं करता। उसके सामने भी वह पट्टे पर ही अकड़ा बैठा रहता है, उन्हें नमस्कार करना, उन्हें आदर-सम्मान देना, उनका स्वागत करना तो दूर रहा।

आप आश्चर्य करेंगे गौतम की बात पर। गौतम स्वामी भगवान् महावीर के १४ हजार शिष्यों में प्रमुख शिष्य हैं, प्रथम गणधर हैं, चौदह पूर्वधर हैं। वास्तव में उनमें ज्ञान का अपार सागर लहरा रहा था। और ज्ञानी ही नहीं, महान् तपस्वी भी थे वे। पंचम गणधर आर्य सुधर्मा ने भी मुक्त मन से गौतम की भक्ति-स्निग्ध प्रशंसा की है, जबकि एक भाई दूसरे भाई की प्रशंसा कम ही करता है। आज के अपने अहंकार इतने बड़े होते हैं कि वह अपने बराबर के भाई के गुणों को, यश को सहन नहीं कर पाता। लेकिन, आर्य सुधर्मा भगवती सूत्र में कहते हैं—**“उग्न तवे, दित्त तवे, घोर तवे।”** गौतम उग्र तपस्वी हैं, दीप्त तपस्वी हैं, घोर तपस्वी हैं। वह विशेषण पर विशेषण लगाता चला गया है। यही महान् तपस्वी एवं ज्ञानी गौतम श्रावस्ती में आये और उधर भगवान् पार्श्वनाथ—परम्परा के आचार्य केशी श्रमण भी श्रावस्ती में आये। दोनों परम्परा के श्रमणों ने नगर में भिक्षा-वर्षा करते समय अपने से भिन्न वेष एवं नियमों को परस्पर में देखा, तो उनके मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही था कि दोनों तीर्थंकरों का जब धर्म एक है, लक्ष्य एक है, फिर वेष में, नियमों में यह अन्तर क्यों ? गौतम के सामने शिष्यों के द्वारा जब यह प्रश्न आया, तो उन्होंने यह कहकर नहीं टाल दिया कि वे अलग परम्परा के हैं, मिथ्यात्वी हैं, या शिथिलाचारी हैं, हमें उनसे क्या लेना-देना है। परन्तु, शिष्यों की जिज्ञासा का सम्यक्-समाधान करने के लिए इतने विशाल गण का स्वामी गणधर-गौतम अपने पाँच सौ शिष्यों को लेकर श्रमण केशीकुमार के पास आये। उत्तराध्ययनसूत्र में उक्त घटना का वर्णन करते हुए लिखा है—गौतम, केशीश्रमण के द्वारा प्रदत्त आसन पर बैठ गये।

आसन केशीकुमार श्रमण का था, जिन्हें आज की भाषा में शिथिलाचारी कहते हैं। वे वस्त्र पहनते थे, इतना ही नहीं, पाँचों रंगों के वस्त्र पहनते थे, मूल्यवान वस्त्र भी धारण करते थे। चानुर्मास का भी उनके यहाँ कोई नियम नहीं था। देवसी-रायसी प्रतिक्रमण का तो क्या, पक्खी, चौमासी और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करने का भी नियम नहीं था उनके यहाँ। न वेष एक था, न नियम-उपनियम एक जैसे थे और शासन की परम्परा का भेद तो था ही। फिर भी गौतम उनके आसन पर बैठ जाते हैं और उनके शिष्य केशीश्रमण के शिष्यों के आसन पर बैठ जाते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में उस समय का वर्णन करते हुए कहा है—**“उभओ निसन्ना सोहन्ति, चन्द-सूर-समप्यभा।”** आगमकार कहते हैं कि गणधर गौतम और आर्य केशीश्रमण दोनों एक ही आसन पर ऐसे शोभायमान हो रहे हैं, जैसे चन्द्र एवं सूर्य। यदि गौतम और केशीश्रमण यह समझते कि परस्पर विरुद्ध दो भिन्न परम्पराओं के बाह्य आचार में, बाहर के नियमों में काफी दूर तक अन्तर है, इसलिए उनकी श्रद्धा में भी विपरीतता होगी, तो वे कभी एक साथ नहीं बैठते, एक-दूसरे का आदर-सम्मान नहीं करते। आज के कुछ साधुओं की दृष्टि से तो वे मिथ्यादृष्टि के साथ बैठ गये। परन्तु, गौतम ने बाह्य-आचार के भेद को, कोई महत्व नहीं दिया। उन्होंने स्पष्ट भाषा में कहा—लिंग अर्थात् वेष लोक में मात्र प्रतीति के लिए है। बाह्य-आचार व्यवहार मात्र है। कितना महान् है गौतम ! कितना उदार हृदय है गणधर गौतम का !

गौतम के विशाल हृदय का परिचय भगवती में उस समय भी मिलता है, जिस समय परिव्राजक स्कंधक संन्यासी भगवान् महावीर के समवसरण में आ रहा था, तब वे कहते हैं—गौतम ! तेरा मित्र आ रहा है। उस समय वह परिव्राजक था—जो मिथ्यादृष्टि था। उस समय न तो उसकी दृष्टि सम्यक् थी और न आचार ही सम्यक् था। फिर भी गौतम उसे लेने के लिए गए और उसे देखते ही कहा—**“सागयं खंदया सुस्सागयं खंदया।”** स्कंधक में तुम्हारा स्वागत एवं सुस्वागत करता हूँ। आजकल भी किसी अतिथि के आने पर ‘स्वागतम्’ कहते हैं। वैसे ढाई हजार वर्ष पहले भी यही भाषा बोली जाती थी। स्कंधक ! तुम्हारा सुस्वागत। तुम बहुत अच्छे समय पर आये हो ? यह है, गणधर गौतम का एक संन्यासी के साथ व्यवहार और एक है हमारा आज का साधु-वर्ग। यथार्थिवादी कुछ साधु अपने आचार को गौतम से भी बढ़कर मानने का दावा करते हैं। यह सब गलत है। आचार की श्रेष्ठता बाह्याडंबर के अहंकार में नहीं है, दंभ में नहीं है, वह है विनम्र-भाव में, सहज-भाव में। गौतम ने जितनी चर्चाएँ की हैं, विनम्र-भाव से की हैं। इस सन्दर्भ में उत्तराध्ययन का केशी-गौतम संवाद अद्भुत है। बाह्य

व्यवहार की दृष्टि से गंगा-यमुना की तरह अलग-अलग पथ पर प्रवहमान दोनों धाराएँ मिलकर एक हो गई, इसका श्रेय गौतम की उदारता को ही प्राप्त है। आज भी उत्तराध्ययन में वह इतिहास का ज्योतिर्मय पृष्ठ सुरक्षित है।

सम्यक्त्व, जब बदली या बदलाई जाती है, तो मेरी समझ में नहीं आता कि उसे कैसे बदला जाता है? सम्यक्त्व आत्मा का स्वरूप है! आत्म-स्वरूप का बोध होना, जड़-चेतन का भेद-विज्ञान होना, सम्यक्त्व है। अब इसे कैसे बदलेंगे? क्या गुरु किसी के स्वरूप-बोध को भी बदल सकता है? आत्म-परिणति को बाहर से कोई भी बदल नहीं सकता। आत्म-स्वरूप को, सम्यक्त्व के स्वरूप को गुरु समझा तो सकता है, परन्तु किसी को दे-ले नहीं सकता। आत्म-दर्शन की सम्यक् या मिथ्या, जो पर्याय है, वह आत्मा की अपनी स्वयं की है। उसे अपनी परिणति से व्यक्ति स्वयं ही बदलता है, कोई बाहरी व्यक्ति नहीं। जड़-चेतन के भेद-विज्ञान को कोई क्या बदलेगा? क्या कोई भी गुरु जिसने सम्यक्त्व दी है, किसी की सम्यक्त्व को बदला है—क्या यह कहेगा, शरीर ही आत्मा है, चेतन जड़ से भिन्न नहीं है? प्रत्येक गुरु यही तो कहेगा—यह शरीर आत्मा नहीं है। आत्मा का स्वभाव शरीर से सर्वथा भिन्न है। वह शरीर में रहते हुए भी शरीर से पृथक् है। फिर बदला क्या?

कुछ साधु कहते हैं कि स्वरूप-बोध निश्चय सम्यक्त्व है, हम जो देते हैं, वह व्यवहार में है। व्यवहार में प्रत्येक धर्म-गुरु—भले ही वह किसी भी सम्प्रदाय का हो, किसी भी पंथ का हो, एक ही बात कहता है—देव, गुरु और धर्म पर श्रद्धा-निष्ठा रखो। सभी यही कहते हैं—देव अर्हन्त है, गुरु निर्ग्रन्थ हैं, और वीतराग द्वारा प्ररूपित मार्ग ही धर्म है। ऐसा कौन गुरु है, जो इससे विपरीत बात कहता हो, फिर क्या बदला आपने। यह तो ऐसा ही हुआ, जैसे भेड़ चराने वाले चरवाहे अपनी भेड़ों की पहचान के लिए उन पर अलग-अलग रंगों की छाप लगा देते हैं, वैसे ही यह दी-ली जानेवाली सम्यक्त्व सिर्फ पंथों की, सम्प्रदायों की छाप है।

श्रमण भगवान् महावीर ने एवं महान् आचार्यों ने आगमों में एवं उनकी व्याख्याओं में संघ-भेद को सबसे बड़ा पाप कहा है। परस्पर विग्रह पैदा करना, संघर्ष उत्पन्न करना, फूट डालना महान् पाप है। अज्ञान एवं साम्प्रदायिक व्यामोह के कारण लोग इन तथाकथित परम्पराओं के शिकार हो जाते हैं। इसलिए सम्यक्-बोध की अपेक्षा है, सम्यक्-ज्ञान की अपेक्षा है। आपको सम्यक्-बोध है, सम्यक्-ज्ञान है, तो आप इस संसार अटवी के सघन अंधकार में इधर-उधर भटकते हुए, ठोकरें खाते हुए व्यक्तियों की अन्तर्-ज्योति जगाइए। उन्हें आत्म-स्वरूप का बोध दीजिए। भगवान् महावीर का तत्त्व-ज्ञान तथा अहिंसा, अनेकान्त एवं अपरिग्रह का स्वरूप बताइए। उनकी जीवन धारा बदलिए, केवल पंथ एवं गुरु के बदलने से क्या होगा? युग बदल गया है। "काना बाती कुर, तू चेला में गुर" के अन्ध-मंत्र अब अधिक कारगर नहीं रहे हैं। जन-जागरण की लहरों में ऐसे आधारहीन गुरुडम के मंत्र कुछ तो वह गए हैं और कुछ निकट भविष्य में वह जाएँगे।

राजस्थान के एक गाँव में मैं गया। वहाँ पर एक परम्परा से सम्बद्ध सन्त भी थे। एक श्रावक ने उनसे कहा—मेरे गुरुजी का स्वर्गवास हो गया, तो सन्त ने कहा—अब तुम सम्यक्त्व बदल लो। क्या अर्थ हुआ इसका? गुरु के देहान्त के साथ क्या चले की सम्यक्त्व का भी देहान्त हो गया? इसका अर्थ तो यह हुआ कि भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ, तो उनके द्वारा बताए गए मोक्ष-मार्ग का भी, रत्न-त्रय की साधना का भी सर्वत्र निर्वाण हो गया। कितना बड़ा अज्ञान है। राजस्थान में एक वार चक्र चला था कि स्वर्गस्थ गुरु की जय नहीं बोलना चाहिए। क्योंकि वे तो स्वर्ग में गए हैं। अतः वर्तमान में अत्रती हैं। कितना बेहूदा तर्क है। पता है, जय किसकी बोली जाती है? जय बोली जाती है, गुणी के गुणों की, उनके संयम की। और यह नैगमनय की दृष्टि से अतीत के आधार पर भी बोली जाती है। शरीर नहीं रहा, पर गुण और उनकी स्मृति तो अमर है। गुणों की पावन-स्मृति के आधार पर ही नन्दीसूत्र के रचनाकार आचार्य देववाचक भगवान् महावीर, गणधर गौतम एवं गणधर आर्य सुधर्मा के साथ चतुर्दश पूर्वधर आचार्य प्रभव, शय्यंभव एवं भद्रवाहु को भी नमस्कार करता है। यह स्पष्ट है कि श्री जम्बु-स्वामी के बाद के ये सब आचार्य स्वर्ग में गए हैं। आचार्य देववाचक एक महान् ज्ञानी सूत्रकार आचार्य थे। यदि स्वर्गस्थ गुरु की जय बोलना भी पाप होता, तो वे उनको नमस्कार कैसे करते? अस्तु, आज की इन सब गलत धारणाओं के पीछे पंथ का व्यामोह मात्र है, सत्य नहीं है। भगवान् महावीर के उदात्त दर्शन, उदात्त चिन्तन की ज्योति बिल्कुल नहीं है। ऐसी स्थिति में कौन गुरु प्रकाश देगा? महान् संस्कृत व्याकरण के रचयिता प्राचीन आचार्य पाणिनि ने सद्बोध के दाता सच्चे गुरु की व्याख्या करते हुए कहा था—

सम्यक्त्व पंथो के घेरे में

१४९

“अज्ञान — तिमिरान्धानाम्,  
ज्ञानांजन — शलाकया ।  
चक्षुरुन्मीलितं येन  
तस्मै सद्गुरवे नमः ॥”

अन्तर्ज्ञान-चक्षु पर अज्ञान-तिमिर के छा जाने से अंधेरा आ जाता है, सत्य-असत्य का, हित-अहित का, संसार-मोक्ष का पता नहीं लगता है। परन्तु, गुरु के ज्ञानोपदेश की अंजन-शलाका से तिमिर का जाला हट जाता है, तो ज्ञान-नेत्र खुल जाते हैं। इसलिए ज्ञान-ज्योति प्रदाता सद्गुरु को नमस्कार है।

सद्गुरु वह है, जो आत्म-ज्योति को जगाता है। गुरु वह है, जो सोयी हुई चेतना को जागृत कर देता है। गुरु वह है, जो आत्मा में परमात्म-ज्योति के दर्शन कराता है। गुरु वह है, जो अनन्त-अनन्त काल से सुषुप्त सत्य को जगा देता है। यह अन्तर्-जागरण ही सम्यक्त्व है। जिसने आत्म-ज्योति को जगाया, आत्म-स्वरूप का बोध कराया, वही गुरु है। उसका बदलना क्या? गंभीरता से सत्यलक्षी चिन्तन की अपेक्षा है। पक्ष-मुक्त स्पष्ट चिन्तन ही सत्य को उजागर करता है।



# विश्व रहस्य का सार एक शब्द में

हंस लो स्वयं हंसा लो पर को,  
अमर-प्रेम-मणि-दीप जला लो।  
अन्तर के सत्-सरस-धार से,  
जग-मरुथल सौंचो लहरा दो ॥

विश्व-भाव में हृदय मिला लो,  
स्वात्म-भाव से जगत् खिला लो।  
वही 'अहम्' का स्वर फूटेगा—  
मानव, मन-सागर लहरा लो!

मानव-हृदय एक विराट् अमृत-कुण्ड है। उक्त कुण्ड में अमृत है—‘प्रेम’। यह प्रेमतत्त्व ही है, जो मानवता का विस्तार करता है। मानव के क्षुद्र अहं (मैं) को और मम (मेरे) को दूर-दूर तक हम और हमारे जैसे विराट् चिन्तन की अनेक धाराओं में प्रवाहित करनेवाला यह निर्मल प्रेम-तत्त्व ही है।

यह प्रेम ही है, जो माता-पिता के रूप में, पति-पत्नी के रूप में, पुत्र-पुत्री के रूप में और भाई-बहन के रूप में प्रसार पाता है, व्यक्ति को व्यक्ति से जोड़कर परिवार बनाता है, परिवारों को परिवारों से जोड़कर समाज का निर्माण करता है। प्रेम न होता तो मानव जंगल में अकेले भटकते प्रेत की तरह होता। प्रेत मृत्यु का प्रतीक है। जीवन से सर्वथा दूर !

मानव-हृदय का यह प्रेम ही था, जिसकी कभी यह घोषणा थी, कि—“यह अपना और वह पराया, यह छोटे क्षुद्र हृदयवालों की बात है। जो उदार हृदय हैं, उनके लिए तो धरती पर बसा समग्र विश्व एक अखण्ड परिवार है। कोई पराया नहीं है। सब अपने हैं, सगे सम्बन्धी हैं।”

“अयं निजः परो वेत्ति, गणना लघुचेतसाम् ।  
उदार-चरितानां तु, वसुधैव कुटुम्बकम् ॥”

एक और वैदिक ऋषि के उदात्त मानव-हृदय ने कहा था कभी—“यह विश्व एक घोंसला है। हम सब घोंसले में रहनेवाले एक ही जाति के, एक ही परिवार के स्नेहाप्लुत पक्षी हैं। हम-सबका सुख एक है। एक कर्तृत्व और एक भोक्तृत्व।”

“यत्र विश्वं भवत्येकं नीडम्”।

भारत के चिर अतीत में एक युग था, जब मानव-हृदय के प्रेम का विस्तार केवल मानव तक ही नहीं, प्राणि-मात्र के प्रति था। इसीलिए तो प्रेम की तरंग में भारत का एक ऋषि आवाज लगा गया है—“विश्व के सारे-के-सारे प्राणी मेरे बन्धु हैं; भाई हैं। और मेरा देश कोई छोटा-सा भूखण्ड नहीं है। मेरा स्वदेश भुवन-त्रय है, अर्थात् समग्र विश्व है। विश्व के सभी छोटे-बड़े प्राणी मेरे देश बन्धु हैं। वे मेरे हैं, मैं उनका हूँ—”

“बान्धवाः प्राणिनः सर्वे, स्वदेशो भुवन-त्रयम् ।”

हम प्रेम में परस्पर इतने रंग गये थे, घुल-मिल गये थे कि हमारी आवाज एक हो गई थी, हमारा मन एक हो गया था, हमारे कदम एक हो गये थे। हम साथ बोलते थे, साथ सोचते थे और साथ ही मिल-जुल कर एक जुट होकर कर्म करते थे। मन, वाणी और कर्म की यात्रा में हम एक साथ चलनेवाले सहयात्री थे। तभी तो शिष्यों के प्रति गुरु का यह दिव्य घोष गुंज रहा था भारत की धरती पर, भारत के आकाश पर कि—

“संगच्छध्वम्, संवदध्वम्, सं वो मनांसि जानताम् ।”

किन्तु खेद है, आज वह प्रेम का अमृत-कुण्ड सूख रहा है। दूर के लोगों के दुःखों की, पीड़ाओं की, अभावों की अनुभूति तो कौन करेगा? आज तो माता-पिता के दुःख की अनुभूति पुत्र-पुत्रियाँ नहीं करते हैं और पुत्र-पुत्रियों के दुःख की अनुभूति माता-पिता नहीं करते हैं। भाई-भाई एक दूसरे से कट गये हैं। बहन और भाई एक दूसरे को ठीक तरह से पहचान नहीं पा रहे हैं। सारा प्रेम सिमट कर व्यक्ति के क्षुद्र पिण्ड में कैद हो गया है। यही कारण है, कि मिट्टी के अपने इस जड़ पिण्ड के ही सुख-दुःख आज के मानव की अनुभूति में आते हैं, इसके सिवा और कुछ नहीं देख पाता है वह।

पड़ौसी के साथ घर की दीवार-से-दीवार मिली है एक ओर, किन्तु दूसरी ओर पड़ौसी एक-दूसरे से इतनी दूर हैं कि कुछ पूछो नहीं। जड़ दीवारें तो एक-दूसरे से मिल सकती हैं, किन्तु चेतनाशील हृदय एक-दूसरे से नहीं मिल पा रहे हैं।

विद्वग् रहस्य का सार एक शब्द में

१५३

आज कहा जा रहा है, विश्व सिमट कर निकट-से-निकटतर हो गया है। संसार इतना छोटा हो गया है सिमट कर, कि जैसे अपने घर का आंगन। आज हजारों मील दूर सागर पार अमेरिका, इंग्लैण्ड, जर्मन, फ्रांस आदि देशों से भारत आदि सुदूर देश ऐसे बात कर रहे हैं, जैसे घर के आंगन में एक-दूसरे के सामने खड़े हुए घर के लोग। एक दिन क्या, आधे दिन की मुसाफिरी में ही आदमी कहीं-से-कहीं पहुँच जाता है। प्रातःकाल भारत में है, तो मध्याह्न के समय इंग्लैण्ड में और सन्ध्या होते-होते अमेरिका में। यह दूरी भी अब और कम हो रही है। धरती का छो़र, स्पष्ट है; घर आंगन के छो़र जैसा बन गया है।

यह सब हुआ है, और हो रहा है। परन्तु खेद है, मानव का हृदय, इन्सान का दिल एक-दूसरे से बहुत दूर होता जा रहा है। पड़ोस के दर्दी की आकाश को चीरती चीख-पुकार भी हम पास खड़े सुन नहीं पा रहे हैं। यहाँ बैठे एक क्षण में अमेरिका के दृश्य देख सकते हैं। किन्तु, सड़क पर पास ही घायल हुआ अपना मानव भाई हमें दिखाई नहीं दे रहा है। हम व्यक्तिगत स्वार्थ में इतने गहरे डूब गये हैं, कि एक-दूसरे के सुख-दुःख की आवाज़ हम पास रहते हुए भी सुन नहीं पा रहे हैं। क्या इस स्थिति में विश्व सचमुच निकट में आ गया है? नहीं नहीं, भौगोलिक दूरी के अन्तराल को कम करते-करते हम हृदय के बीच की दूरी इतनी बढ़ा चुके हैं कि उसे पाटना एक तरह से असम्भव-सा हो गया है।

आज सब ओर घृणा, वैर और द्वेष का विष-समुद्र लहरा रहा है। व्यक्ति-व्यक्ति में घृणा है, द्वेष है। जाति-जाति में, राष्ट्र-राष्ट्र में वैर है, विरोध है। अभी मैंने लेवनान के गृहयुद्ध का एक चित्र अखबार में देखा है। वाम-पंथी मुसलमानों ने एक ईसाई युवक को गोली मार दी है और उसके शव को लम्बे रस्से के द्वारा अपने कार से बाँध कर सड़कों पर बेदर्दी से घसीट रहे हैं, जानवर की तरह। यह क्या है? मैं चित्र को देखते ही सहसा अवसन्न हो गया। क्या यही धर्म है? क्या यही ईसाई और मुसलमान धर्म की गौरव-गाथा है। यह घृणा और द्वेष उस धर्म के क्षेत्र में भी घुस आया है, जो विश्व के प्राणि मात्र को ईश्वर की सन्तान मानने का और परस्पर भाई-भाई होने का जय-घोष करता रहा है। लगता है, तन का आदमी तो संख्या की दृष्टि से बढ़ रहा है, पर अच्छे मन का, प्रेम से छलकते दिल का आदमी कहीं नजर नहीं आ रहा है।

आज एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को ध्वस्त करने पर तुला है। आये दिन विश्वयुद्ध होने की ललकारें सुनाई देती हैं। अमरीका का शस्त्र-निर्माण के लिए वजट है ७० अरब का। हैरान हैं, हम कि ये मौत के दैत्य विश्व की क्या दशा करने की सोच रहे हैं? क्या ये लोग संसार को मरघट बनायेंगे, और स्वयं प्रेत बनकर उसमें नंगे नाचेंगे? अगर, सचमुच में कोई आदमी है और उसके पास आदमी का ही धड़कता दिल है, तो कम-से-कम वह तो इतना क्रूर, इतना निर्दय, इतना खूंखार राक्षस नहीं हो सकता।

एक धर्मगुरु दूसरे धर्मगुरु की निन्दा में, अपभ्राजना में लगा है। एक व्यापारी दूसरे व्यापारी के लाभ को सहन नहीं कर पा रहा है। एक विद्वान् का यश दूसरे विद्वान् के लिए हृदय को छेद देनेवाला भयंकर भाला है। राजकीय क्षेत्र की भी यही दुर्दशा है। टांग पकड़कर एक-दूसरे को घसीट रहे हैं, राजनैतिक दल और नेता, केवल शासन की क्षणभंगुर कुर्सी हथियाने के लिए। इधर जवान पर प्रजा के कल्याण का नारा बुलन्द है, और उधर अन्दर मन में अपने तुच्छ स्वार्थ का जोड़-तोड़ है।

अगर आदमी को आदमी के रूप में जिन्दा रहना है, तो घृणा और द्वेष तथा वैर और विरोध के हलाहल जहर को हृदय से निकाल कर दूर फेंकना होगा। साथ ही सूखती हुई प्रेमामृत की विश्वकल्याणी धारा को पुनः जन-जन में प्रवाहित करना होगा। हृदय में प्रेम का अक्षय स्रोत है। बिना किसी जाति, राष्ट्र, धर्म और समाज का भेदभाव किए, जन-जन को प्रेम का अमृत रस पिलाये जाओ। कोई कमी नहीं है। कमी है केवल उदात्त संकल्प की, विराट् मन की, प्रेम तो प्रेम के मुक्त दान में ही विस्तार पाता है, प्रेम के दान में ही प्रेम का आदान है। प्रेम का दिव्य संगीत जब हर आदमी के दिल में ध्वनित होगा, निःस्वार्थ और निष्काम, तभी धरती पर आकाश का स्वर्ग उतरगा, तभी धरती के सूखे उपवन में सुख, शान्ति एवं आनन्द के पुष्प खिलेंगे।

प्रभु महावीर का विश्व-मंगल संदेश नगर-नगर में, गली-गली में, घर-घर में गूँजना चाहिये कि 'वैरं मज्झं

न केणई'—मेरा किसी के साथ कोई वैर नहीं है, विरोध नहीं है। '“मिती मे सव्व भूएमु”’—सब प्राणियों के साथ मेरी निश्छल एवं निर्मल मैत्री है, पवित्र बन्धुता है। यह वह प्रेम गीत है, जिसका स्वर ठीक तरह यदि मानव-हृदय में मुखरित हो जाये, तो कोई पराया नहीं रहेगा। सब अपने होंगे। वैर-विरोध के अतीत को भूल जाओ “जो बीत गई, वह बात गई।” अस्तु, प्रेम और मैत्री के अमर देवता प्रभु महावीर के चरणों का स्मरण कर प्रतिदिन प्रातः और सायं भावना करो कि समग्र विश्व मेरा मित्र है . . . शत्रु कोई है ही नहीं . . . मैं सबका हित, सबका कल्याण चाहता हूँ . . . और अन्य सब मेरा हित चाहते हैं . . . मैं तन-मन धन से सबकी भलाई करूंगा—सबकी भलाई में ही मेरी भलाई है . . . सर्वत्र सब ओर प्रेम है, स्नेह है, सद्भावना है, मैत्री है और इसीलिए सर्वत्र शान्ति है, सुख है, आनन्द है। घृणा और द्वेष की, वैर और विरोध की अंधकाराच्छन्न काली रात समाप्त हो रही है। प्रेम, स्नेह, सद्भावना का स्वर्णम प्रभात जगमगाता आ रहा है, नये चिन्तन के क्षितिज पर नये विश्व का आलोक फैल रहा है ! जय प्रेम ! जय मैत्री !



**फूल के साथ कंटे भी**

जीवन सेज नहीं सुमनों की,  
सो जाओ खरटि मार ।  
जीवन है संग्राम निरंतर,  
प्रतिपद कष्टों की भरमार ॥

कहीं बिछे मिलते हैं कांटे,  
कहीं बिछे मिलते हैं फूल ।  
जीवन-पथ में दोनों का ही—  
स्वागत, दोनों ही अनुकूल ॥

जीवन-नौका का नाविक है,  
एक मात्र पुरुषार्थ महान् ।  
सुख-दुख को उत्ताल तरंगों,  
कर न सके उसको हैरान् ॥



मानव-सभ्यता के इतिहास में बीसवीं शताब्दी को सुवर्णयुग कहा जा सकता है। अतीत की तुलना में इसकी अनेक महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। खेत-खलिहानों से लेकर कला, साहित्य, तकनीकी एवं विज्ञान के क्षेत्र में आश्चर्यजनक आविष्कार और प्रगति हुई है। हर क्षेत्र में वर्तमान अतीत को पीछे छोड़ रहा है। सम्पत्ति बढ़ी है। साधन बढ़े हैं, तन्दुरस्ती बढ़ी है। और इन सारी प्रगतियों में विश्व जन-चेतना में राजनैतिक सहयोग, सद्भावना, समन्वय की भावना बढ़ी है। इस शताब्दी की सबसे महत्त्वपूर्ण यह उपलब्धि है।

पिछले कुछ दशकों में विश्व के कुछ महान् क्रान्त-दृष्टियों ने एक विचार प्रस्तुत किया है—धरती अगर एक है, तो देश एक है। उसके प्रश्न एक है, उसका समाधान एक है। आज के इस प्रगतिशील दुनिया में अगर हमें शान के साथ जीना है, तो एक होकर जी सकेंगे, अन्यथा सबकी सामूहिक मृत्यु निश्चित है।

इन महान् विचारकों के कारण राष्ट्रों में परस्पर सौहार्द बढ़ा है, सद्भाव बढ़ा है। दूसरे धर्मों को सम्मान के साथ समझने का प्रयास हो रहा है। परस्पर एक-दूसरे के इतिहास एवं परम्परा के प्रति गौरव का भाव बढ़ा है। इतना ही नहीं, उदारता के साथ दूसरों की अच्छाइयों को स्वीकार किया जा रहा है, उनका मुक्त मन से अध्ययन-मनन-चिन्तन भी किया जा रहा है।

इस उदारता के फलस्वरूप राष्ट्रों में परस्पर मैत्री बढ़ी है। प्रथम महायुद्ध के बाद निरन्तर यह अनुभव किया जाता रहा है कि परस्पर के संघर्ष, तनाव तथा युद्ध से हम राष्ट्रों का विकास अथवा निर्माण नहीं कर सकेंगे। द्वितीय महायुद्ध के बाद यह धारणा और अधिक दृढ़ होती गयी कि परस्पर एक-दूसरे राष्ट्रों की स्वतन्त्रता को स्वीकार करने का अर्थ है कि उनके आन्तरिक व्यवस्था में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। आज छोटा-से-छोटा निर्बल राष्ट्र भी उतनी ही स्वतन्त्रता के साथ जी सकता है, जितना एक शक्तिशाली राष्ट्र। कोई किसी की स्वतन्त्रता का हनन नहीं कर सकता। इतना ही नहीं, विश्व बैंक जैसी संस्थाओं के द्वारा अथवा मित्र राष्ट्रों के द्वारा कमजोर राष्ट्रों के विकास में मुक्त मन से सहयोग दिया जा रहा है। हर राष्ट्र की आजादी की सुरक्षा केवल एक राष्ट्र का प्रश्न न होकर अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न हो गया है। अगर कोई शक्तिशाली राष्ट्र किसी निर्बल राष्ट्र को दबोचना चाहता है, हड़पना चाहता है, तो ऐसा वह सहसा नहीं कर सकता। वैचारिक दुनिया में उसकी भर्त्सना होती है। उसे अमानवीय करार दिया जाता है। और कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि कमजोर राष्ट्र की सुरक्षा के लिए अन्य राष्ट्र अपनी सेना देने के लिए आगे भी आ जाते हैं। कुछ लोगों की नजरों में उन राष्ट्रों का यह अपना हित एवं स्वार्थ भी हो सकता है। कुछ भी हो, किसी न किसी रूप में अन्याय के प्रतीकार का एवं पारस्परिक सहयोग का मार्ग तो प्रशस्त हुआ ही है। गलत कार्य न किया जाए, उसके लिए U.N.O. संयुक्त राष्ट्र संघ जैसे विश्व संघटन के संस्थान भी दबाव डालने का प्रयत्न करते हैं। भले ही उसका मूल्य जितना होना चाहिए, उतना नहीं होता है।

यह बात केवल सत्ता की दृष्टि से ही नहीं, विचारों की दृष्टि से भी कोई एक राज्य दूसरे राज्यों के विचारों से प्रभावित होना पसंद नहीं करता। कोई किसी का पक्षकार होकर रहना नहीं चाहता। गुट-निरपेक्ष समन्वय व्यूहों सम्मेलनों के द्वारा प्रयत्न किया जा रहा है कि कोई किसी की अन्तरङ्ग व्यवस्था में हस्तक्षेप न करें। इस प्रकार एक-दूसरे के साथ मैत्री के मधुर सम्बन्धों का विस्तार ही आज के युग की अपेक्षा है।

अतीत में ऐसा नहीं था। साम्राज्य-विस्तार की महत्त्वाकांक्षा में एक राजा दूसरे राजा को युद्ध के द्वारा पराजित करके अपना शासन सुदृढ़ करता था। पड़ोसी राजाओं में आये दिन सीमा-युद्ध होते रहते थे। छोटे राज्य कभी ठीक तरह विकास नहीं कर पाते थे, उनके सिर पर शक्तिशाली राज्यों के आक्रमण का भय बना रहता था। एक-दूसरे को हड़पने की ताक में घात-प्रत्याघात होते रहते थे। राज्यों की शक्ति अधिकांश में सैन्य-शक्ति पर केन्द्रित रहती थी। अतः तत्कालीन राजनीति का युद्ध ही एक केन्द्रीय समाधान था, उसी के इर्द-गिर्द राज्य-शक्ति परिक्रमा करती रहती थी। आज जो गरीबी, अभाव, अशिक्षा, शोषण आदि के काले बादल छाये हुए हैं, उसका अधिकतर भाग उसी पुरानी विग्रहमूलक राजनीति का ही दुष्परिणाम है। यह सदियों पुराने मानव जाति के केवल दोष ही नहीं, कलंक हैं, जो अभी तक धुल नहीं पाए हैं।

किन्तु, बीसवीं शताब्दी ने एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन देखा है। आज कोई कमजोर राष्ट्र स्वयं को असहाय एवं निराधार महसूस नहीं करता। उसका कष्ट अन्तर्राष्ट्रीय कष्ट बन गया है। एक छोटे से राष्ट्र के संकट की घटना केवल उस तक ही सीमित नहीं रहती है। गरीबी-निवारण, रोग-निवारण, जैसे कार्य अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापक रूप से हो रहे हैं। आज बढ़ती हुई आवादी, संहारक अणुशस्त्र, क्षय, चेचक, मलेरिया आदि भीषण रोग, इत्यादि विषयों पर सारे राष्ट्र मिलकर विचार करते हैं। और इनसे मुक्ति के उपायों की एवं साधनों की सामूहिक रूप से खोज करते हैं।

उक्त सारी अच्छाइयों के बावजूद आन्तरिक संघर्ष का एक दूसरा प्रश्न अतीव विकट होता जा रहा है, उस पर भी ध्यान देना आवश्यक है। ठीक है, राष्ट्र की सीमाओं के प्रश्न कम हो गए हैं। आजादी की सुरक्षा के खतरे कम हो रहे हैं। राज्य विस्तार के हेतु होनेवाले युद्ध नाममात्र के लिए बचे हैं। किन्तु, आन्तरिक संघर्ष सारी दुनिया में विकट-से-विकटतर रूप लेता जा रहा है। यदि निकट भविष्य में उक्त स्थिति नियंत्रित नहीं हो सकी, तो मानव जाति का भविष्य खतरे से खाली नहीं है।

परस्पर विचारों में मतभेद हो सकते हैं। जन-कल्याणी नीति निर्धारण में अन्तर हो सकता है। निर्धारित नीति के कार्यान्वयन की पद्धति में भी अन्तर हो सकता है। किन्तु, अपने राष्ट्र के निर्माण में जिन्होंने अपना खून-पसीना एक किया है, उनमें परस्पर शत्रुता जैसी दुर्भावना नहीं होनी चाहिए।

यह माना हुआ ही नहीं, जाना हुआ सत्य है, कि बाहर का शत्रु उतना कहर नहीं ढा सकता, जितना कि घर का शत्रु ढा सकता है। जब कि पड़ोसी राष्ट्रों के साथ ही नहीं, दूसरे महाद्वीपों, खण्डों एवं उपनिवेशों तक के साथ मैत्री का हाथ बढ़ाया जाता है; इस विश्वास के साथ कि जितने अधिक मित्र उतना ही अधिक विकास, तो अपने ही राष्ट्र के दो विरोधी दलों के साथ मैत्री का प्रयास क्यों नहीं किया जाता। गुट-निरपेक्ष राष्ट्र होने के लिए जितना प्रयत्न किया जाता है, उतना पार्टी-निरपेक्ष शासन क्यों नहीं हो सकता है। उसके लिए प्रयत्न किया जाना चाहिए।

कोई भी दल शासन करे, उससे अच्छाइयों की अपेक्षा की जाती है। घोषणापत्रों में राष्ट्र को खुशहाल बनाने का वायदा करके ही दल सिंहासनरुद्ध होने का प्रयत्न करते हैं। हो सकता है, लोक कल्याणकारी नीतियों के कार्यान्वयन की पद्धति उचित न हो, इस कारण जैसा चाहिए वैसा सुखद परिणाम न आने पाए। अकृशल कर्मचारी-गण के द्वारा विपरीत स्थिति का भी निर्माण हो सकता है। हर कोई पद्धति सम्पूर्ण रूप से निर्दोष होती ही है, यह सम्भव नहीं है। सामान्य मनुष्यों की ही बात नहीं, मनुष्य के दोष-दर्शन की दृष्टि ने ईश्वर एवं भगवान् कहे जानेवाले महापुरुषों के कार्यों की समीक्षा करते हुए उनमें भी कमियाँ देखी हैं। अतः यदि कोई दल दूसरों को पूर्ण एकान्त दोषी और स्वयं को पूर्ण एकान्त निर्दोष होने का दावा करने का साहस करता है, तो उसे मानव की भूमिका को पार किया हुआ अतिमानवीय मानव ही समझा जाना चाहिए। इसी बात को लेकर हमारे एक प्राचीन आचार्य ने एक महान् स्पष्ट बोध दिया था—

“दृष्टं किमपि लोकेऽस्मिन्  
न निर्दोषं न निर्गुणम्।”

संसार में कोई भी ऐसी बात या स्थिति देखने में नहीं आई, जो सर्वथा निर्दोष या सर्वथा गुणरहित हो।

गीता के उद्गाता श्रीकृष्ण ने भी कहा है—

“सर्वारम्भा हि दोषेण,  
धूमेनाग्निरिवावृताः।”

मानव के जितने भी आरंभ हैं; समुद्यम हैं एवं प्रयत्न हैं, वे दोष से उसी प्रकार से संयुक्त रहते हैं, जिस प्रकार अग्नि धूम से युक्त होती है।

जब कि किसी का कोई कार्य पूर्ण रूप से निर्दोष नहीं हो सकता, तो विवेकशील प्राज्ञ पुरुषों के द्वारा प्रामाणिकता के साथ यह प्रयत्न किया जाना चाहिए कि बार-बार की जानेवाले दोषों की चर्चा को एक ओर छोड़कर अच्छाइयों को उदारता से स्वीकार किया जाए, उनकी प्रशंसा में प्रेम के दो पुष्प चढ़ाए जाएँ। और, भविष्य में उन पुरानी गलतियों की पुनरावृत्ति न हो, इसकी पूर्ण सावधानी रखी जाए।

किसी को दोषों के दुर्भाव से अधिक उछाल कर व्यक्तित्व हनन की चेष्टाएँ राष्ट्र के आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास में बाधक ही सिद्ध होती हैं। इससे बुराइयों को प्रश्रय मिलता है। हमारे भारत के महान् मनीषियों, प्रकाण्ड पण्डितों एवं अनुभवियों ने इस बात के लिए आग्रह रखा है कि मानव जीवन की अच्छाइयों का, मैत्री का, प्रेम एवं सद्-भावना का ही अधिक प्रचार किया जाए, गलतियों का नहीं; अपभ्रान्तता का नहीं। गलत बातों का अधिक प्रचार मानव मन की कमजोरियों को और अधिक बढ़मूल बना देता है। गन्दगी या कीचड़ के उछालने से, फैलाने से कभी पवित्रता, स्वच्छता एवं निर्मलता नहीं आ सकती।

आज के राजनीतिज्ञों को, वैज्ञानिकों, साहित्यकारों एवं तकनीकियों से प्रेरणा लेनी चाहिए। ये सब लोग सहज भाव से पूर्व निर्माण के प्रति आस्थावान होते हैं। उनसे प्रेरणा ले कर आगे बढ़ते हैं। वे अतीत के निर्माण को प्रगति का रोड़ा नहीं समझते हैं, किन्तु और अधिक ऊपर जाने की दिशा में एक आधारभूत सीढ़ी मानते हैं। पूर्व निर्माण में रही हुई पिछली भूलों से शिक्षा लेते हैं और पूरी शक्ति एवं निष्ठा के साथ यथावसर उनका परि-मार्जन करते हैं, एतदर्थ सदा सावधान एवं सतर्क रहते हैं।

भगवान् महावीर एवं बुद्ध यही कहते हैं, मित्रता के व्यवहार से हम अपने प्रतिपक्षी विरोधियों को भी अपने अनुकूल मित्र बना सकते हैं। विश्वमैत्री की मंगल-यात्रा अपने से प्रारंभ की जानी चाहिए। कल्याण-राज्य की स्थापना इन महापुरुषों के आदर्शों में ही निहित है। इन्हीं में 'जय जगत' का उद्घोष प्रस्फुटित हुआ है। आरोप-प्रत्यारोपों के वात्याचक्र में यह पवित्र उद्घोष कैसे प्रस्फुटित हो सकता है।

इस राष्ट्र के आंतरिक प्रश्न का भी समय पर महापुरुषों के चिन्तन-प्रकाश में समाधान यदि दुर्भाग्यवश न खोजा गया, तो यह प्रकाश-युग अन्धकार-युग में भी बदल सकता है। सुवर्ण-युग धूलधूसरित भी हो सकता है। दिन-प्रतिदिन जितनी तत्परता से प्रश्नों के हल खोजे जा रहे हैं, उतनी ही तत्परता से हर क्षेत्र प्रश्नों में उलझता भी जा रहा है। घर-घर, गाँव-गाँव, व्यक्ति-व्यक्ति कूट राजनीति की फाइलों का ढेर लगाता जा रहा है। अतः समय पर संभल जाना प्राज्ञ पुरुषों का परम कर्तव्य है। अतः भावी पीढ़ी के समक्ष सहृदयतापूर्वक उदारता से रचनात्मक कार्यक्रमों को प्रस्तुत करना आवश्यक है। जिससे दिशाहीन युवाशक्ति विध्वंस, तोड़-फोड़ एवं विनाश में नष्ट न हो कर, सही निर्माण की दिशा पकड़े। राष्ट्र के नेताओं पर इसका बहुत बड़ा दायित्व है।



# प्रेम का पुण्य पर्व

जहाँ पसीना पड़े मित्र का,  
अपना रक्त बहा डालो ।  
झेलेँ अगणित कष्ट स्वयं पर,  
सुखिया मित्र बना डालो ॥

प्रेम अमृत का निर्मल निर्र है। यह वह अमृत निर्र है, जिसकी एक बूंद भी यदि ठीक तरह उपयोग में लायी जाए, तो मानव मन का, जन्म-जन्मांतरो से संचित हलाहल घातक विष, क्षणभर में लुप्त हो जाए। आप पूछेंगे, यह विष क्या है? यह विष है घृणा का, वैर का, विद्वेष का। हजारों ही नहीं, असंख्य रूप हैं इस विष के। आज-कल के ही नहीं, अनादिकालीन संसार के जितने भी द्वन्द्व हैं, विग्रह हैं, कलह हैं, वे सब इसी विष में से ही तो उद्भूत हुए हैं, होते रहे हैं और हो रहे हैं।

परिवार के रूप में, समाज एवं राष्ट्र के रूप में, और जरा आगे बढ़िए तो धर्म-परम्पराओं के रूप में, बाहर में तो मानव परस्पर घुल-मिलकर एक साथ रह रहा है। पर, जरा अन्दर में झाँककर देखिए कि वह एक-दूसरे से कितना कटा हुआ है, अलग-थलग पड़ा हुआ है। साथ रह कर भी एक-दूसरे के प्रति विश्वस्त नहीं है, किसी पर किसी का भरोसा नहीं है। और, जब एक का दूसरे में विश्वास नहीं है, तो फिर जीवन में सुख-शान्ति कहाँ, आनन्द-मंगल कहाँ? एक-दूसरे की घात में, चोट मारने के दाव में, और हर क्षण छीना-झपटी में लगे हुए लोग, जंगली पशुओं से भी नीचे की अधम श्रेणी में पहुँच जाते हैं। कभी-कभी तो यह स्थिति आ जाती है कि उन्हें मानव कहना भी 'मानव' शब्द का अपमान करना है।

और, यह दुःखद स्थिति क्यों है? इसलिए है कि मानव अपने अन्दर में दबे हुए प्रेम के अमृत निर्र को बाहर में ला नहीं पा रहा है। यदि प्रेम के अमृत निर्र की कोई एक भी धारा बाहर में, जन-जीवन में प्रवहमान हो जाए, तो पारस्परिक घृणा एवं विद्वेष का हलाहल विष तत्काल समाप्त हो जाए और मानव अन्दर और बाहर के दोनों रूपों में यथार्थ के धरातल पर सही अर्थ में मानव बन जाए। मानव के निरन्तर विषाक्त होते हुए उत्तप्त जीवन की परस्पर टकराती जटिल समस्याओं का समाधान अन्ततः प्रेम में है। प्रेम मानव के चिरम्लान हृदयपुष्प को खिला देता है और उसके खिलते ही परस्पर में निश्चल सद्भाव, सहानुभूति एवं सहयोग की वह दैवी सुगन्ध फूट पड़ती है कि कुछ पूछो नहीं। इस महक में सब अपने हो जाते हैं। पराया जैसा कोई रहता ही नहीं। पराया, जिससे कि अलगाव या दुराव रखा जाए। श्रमण भगवान् महावीर की भाषा में यही 'सर्वभूतात्मभूत' स्थिति है— 'सर्व-भूय्यभयस्त।' प्रेम, विराट्-भाव का वह मंगल द्वार खोल देता है, जिसके द्वारा मानव उदारता के उस उच्च शिखर पर पहुँच जाता है, जहाँ जाति, पंथ या राष्ट्र आदि के रूप में संकीर्णता जैसी कोई क्षुद्र स्थिति रहती ही नहीं। यही वह मानवता का उच्च केन्द्र है, जहाँ समग्र संसार परस्परानुश्रित एक अकृत्रिम स्नेही परिवार का रूप लेता है। इसी सन्दर्भ में कभी चिर-अतीत में हमारे उदार विश्वचेता मनीषियों की यह उदात्त वाणी प्रस्फुटित हुई थी—

“अयं निजः परो वेति, गणना लघु-चेतसाम् ।  
उदार-चरितानां तु, वसुधैव कुटुम्बकम् ॥”

प्रेम की पवित्रता से रिक्त हृदय, कारागार की सब ओर से बंद, वह तंग कालकोठरी है, जहाँ सद्गन्ध एवं दुर्गन्ध के सिवा कुछ नहीं है। दम घूटने लगता है इस क्षुद्रता में। नफरत ऐसी ही मन की वह घिनौनी, ओछी तथा अत्यन्त संकीर्ण बंद कोठरी है, जिसमें से निरन्तर खुदगर्जी की बदबू आती रहती है। इस बदबू को तभी दूर किया जा सकता है, जब संकीर्णता की क्षुद्र मनोवृत्ति से निर्मित इस तंग कोठरी को गिराकार ध्वस्त कर दिया जाए और हृदय को 'एक में सब और सब में एक' वाले उदात्त सिद्धान्त के रूप में विराट् बनाया जाए। मानव की मानवता को यदि सही अर्थ में जीवित रहना है, तो वह विशाल, उदार, विराट्, निःस्वार्थ एवं अनन्त की ओर उन्मुक्त निर्मल प्रेम के सहारे ही जीवित रह सकती है।

उदात्त एवं उदार प्रेम के पास केवल एक ही भाषा है—देने की, देते रहने की, हंसते हँसाते सर्वस्व लुटाते रहने की। सच्चा प्रेम लुटना पसन्द करता है। लुटना उसे बिल्कुल पसन्द नहीं है। हिमालय की बुलंदियों से भी कहीं अधिक बुलंदियों तक ऊँचा उठा हुआ यह सर्वस्व-दानी उदार प्रेम कृतघ्न नहीं होता। ऐसे प्रेम से कभी किसी की कोई शिकायत नहीं हो सकती। शिकायत उसी प्रेम से होती है, जो ऊपर से तो प्रेम का सुन्दर बाना पहने रहता है, किन्तु अन्दर में स्वार्थी होता है, खुदगर्ज होता है। स्वार्थ हर क्षण लेना ही लेना जानता है देना ! सच्चे मन से देना, उसने कभी सीखा ही नहीं। वह दर-दर का कंगाल भिखारी है, ओढ़र दाता नहीं। ऐसा प्रेम ही कृतघ्न, बेवफा होता है। स्वार्थ की जरा भी कहीं ठोकर लगी नहीं कि बस 'यूयं यूयं, वयं वयम्' की संस्कृतोक्ति चरितार्थ

होने लगती है, जिसका अर्थ है 'बस, आज से तुम, तुम और हम, हम।' इतना भी रहे, तब भी गनीमत है। पर, वह तो आगे बढ़कर पूर्व स्नेही के सर्वनाश का खेल खेलने लगता है। सच्चा, निःस्वार्थ, निर्मल प्रेम तो एकमात्र यही शंखनाद करता है कि 'ययं वयं, वयं यूयम्' अर्थात् तुम हम हैं और हम तुम हैं। तुम में और हम में कोई भेद नहीं है, अलगाव नहीं है। यह जीवन की वह परम अद्वैत-यात्रा है, जिसके लिए कहा गया है—'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्'— अर्थात् समग्र विश्व एक घोंसला है, जहाँ न कोई घेराबन्दी है, न दीवार है, और न तालाबन्दी है। सब ओर से मुक्त अनन्त निर्मल आकाश। धारा में धारा, धारा में धारा मिलती जाए और बस एक ही विराट् धारा बहती जाए अनन्त की ओर। यही धारा प्रेम की धारा है, जिसके लिए गाया जाता है—

**“ज्योति से ज्योति जगते चलो,  
प्रेम की गंगा बहाते चलो।”**

यह जीवन का चिरन्तन सत्य है—'जो जैसा देता है, वह वैसा पाता है।' यह सत्य न कभी झुठलाया जा सका है और न कभी झुठलाया जा सकेगा। देखते हैं, खेत में जैसा बीज बोया जाता है, फसल पकने पर बोने वाले को वैसा ही मिल जाता है—गेहूँ है तो गेहूँ और चना है तो चना। इसके विपरीत कभी होता है? नहीं होता है। मनुष्य के जीवन के सम्बन्ध में भी यही बात है। नफरत से नफरत मिलती है और प्यार से प्यार मिलता है। जैसे बीज की फसल बढ़ती है, वैसे ही नफरत और प्यार की फसल भी बढ़ती है। सावधान! आप क्या चाहते हैं, नफरत या प्यार? जो चाहते हैं, उसी दिशा में कदम बढ़ाए। पर, हमारे महान् गुरुजनों का एक परामर्श है कि नफरत की दिशा में नहीं, प्यार की दिशा में चलिए। नफरत के खेल का अंजाम देखा है, देख रहे हैं। कितना गन्दा है यह खेल! कितने दर्द और हाहाकार से भरा हुआ है, घृणा का हर क्षण, नफरत का हर लम्हा। प्रेम के अमृत निर्झर में गहरा गोता लगाए और इसी अमृत-रस का पान कीजिए, और परिणाम देखिए कि कितने अद्भुत आश्चर्यजनक आनन्द की उपलब्धि होती है। केवल आनन्द ही नहीं, एक विलक्षण अनबूझा चमत्कार हो जाता है। वास्तव में प्रेम विश्व का एक अनूठा चमत्कार है। प्रेम की निश्छल-निर्मल धारा के प्रवाह में आने वाले दुष्ट-से-दुष्ट तथा पापी-से-पापी व्यक्ति भी सज्जनता एवं शालीनता में अपने साथ एकाकार हो जाने के रूप में इतने परिवर्तित हो जाते हैं कि लाखों-लाख वर्षों तक इतिहास अहो-अहो की ध्वनि में आश्चर्य की आवाज लगाता रहता है।

उक्त सन्दर्भ में पुराकाल के अनगिनत आश्चर्यजनक उदाहरण हैं ही। भगवान् महावीर एवं तथागत बुद्ध आदि के युग की भी अनेकानेक मर्मस्पर्शी घटनाएँ हैं, जो आज तक विस्मृत नहीं हो पाई हैं। अर्जुनमाली, अंगुलीमाल, दस्युराज प्रभव आदि, हृदय परिवर्तन की इसी शृंखला के वे पुरुषोत्तम हैं, जो नीचे के कितने पतित धरातल से ऊपर उठे, और अन्ततः जीवन के कितने ऊँचे सर्वोच्च शिखरों को स्पर्श कर गए। मैं बहुत दूर नहीं जाऊँगा। मेरे समक्ष इन्हीं सौ वर्षों के आस-पास का एक ताजा उदाहरण है, 'बाबा काली कमली वाले' का। मैंने पढ़ा, तो मैं सहसा मंत्रमुग्ध-सा रह गया। वस्तुतः है भी घटना हृदय को गहराई तक छू जाने वाली।

बाबाजी का असली संन्यासी नाम विशुद्धानन्द है। प्रेम और कृपा की साक्षात् जीवित मूर्ति! हिमालय के तीर्थों की पदयात्रा में उन्होंने देखा कि उत्तराखण्ड हिमालय के ऋषिकेश, बद्रीनाथ, केदारनाथ, गंगोत्री आदि पर्वतीय तीर्थों की यात्रा कितनी भीषण एवं कष्टप्रद है। यात्रा क्या है, जीते-जी मरणव्रत होता है। और तो क्या, भोजन, वस्त्र, पात्र, निवास, चिकित्सा आदि जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की भी कोई व्यवस्था नहीं। हिंस्र वन्य पशुओं से प्राण रक्षा का भी कोई विशेष प्रबन्ध नहीं। सुख-सुविधा के नाम पर सर्वत्र नागार्जुन का एकमात्र शून्यवाद। यात्रा से जीवित घर लौट आना, तो बस प्रभु-कृपा या पूर्व जन्माजित किसी पुण्य एवं सत्कर्म का प्रताप ही समझिए।

स्वामीजी के अन्तःकरण में करुणा और प्रेम का निर्झर बह गया। उन्होंने यात्रियों के लिए सुरक्षा एवं व्यवस्था का शुभ संकल्प लिया और इस महान् दुर्धर व्रत के प्रतीक स्वरूप एक साधारण काला कंबल कंधे पर डाला, स्वामी विशुद्धानन्द से 'बाबा काली कमली वाले' बने और अंगीकृत संकल्प की पूर्ति के हेतु भारत की धर्म-प्राण जनता के द्वार-द्वार पर अलख जगाने लगे।



अब क्या देर थी। स्थान-स्थान पर चट्टियाँ, (विश्राम स्थल) अन्न-क्षेत्र, एवं चिकित्सालय खुलने लगे। और यह सभी सुविधाएँ सर्वथा निःशुल्क। साधुओं से लेकर साधारण जरूरतमन्द गृहस्थ यात्रियों तक के लिए आवश्यक सुविधाओं की एक विशाल शृंखला तैयार हो गई। न यहाँ कोई संप्रदाय का भेद है, न जाति, कुल और प्रान्त आदि का। यहाँ यात्री केवल यात्री है, और कुछ नहीं। यह सेवा की गंगा अब भी प्रवहमान है। विस्तार पाया है इस गंगा ने। शुभ संकल्पों से प्रवाहित होने वाली कर्म-गंगाएँ कहाँ क्षीण होती हैं!

अपनी प्रारंभिक स्थिति में ही बाबाजी की सेवा-योजनाओं ने जन-मानस को चमत्कृत कर दिया था। इतनी सुन्दर व्यवस्था थी कि बड़े-से-बड़ा व्यक्ति भी देख कर मुग्ध हो जाता था। तत्कालीन गवर्नर जनरल ने भी जब यह देखा तो आश्चर्य की मुद्रा में कहा था—मैंने दुनिया भर में सबसे विचित्र होटल यहीं देखे हैं—जहाँ दुर्गम पहाड़ी प्रदेश में स्थान-स्थान पर हजारों लोगों को मुफ्त भोजन मिलता है। उसका कोई हिसाब-किताब भी नहीं रखा जाता है। कैसा आश्चर्य है यह। और, बाबाजी थे कि सब-कुछ करके भी निर्लिप्त—सब कुछ पाकर भी मुक्त!

इन्हीं सुगृहीत नाम बाबाजी के जीवन की, उन्हीं दिनों से सम्बन्धित एक घटना है। घटना वैष्णव-परंपरा के संत की है। किन्तु, घटना से प्रतिफलित होने वाला जन-मंगल सत्य, किसी संप्रदाय विशेष का नहीं होता, सबका होता है। सत्य बिना किसी अन्य छाप के चलने वाली वह मुद्रा है, जिसके लिए समग्र विश्व का बाजार अनादि-अनन्त काल से खुला है और अनन्त काल तक खुला रहेगा।

सन् १९३८ की प्रातःकाल की मंगल-वेला है। समग्र आश्रम सन्ध्या-वन्दन की पुनीत ध्वनि से गूँज रहा है। इसी बीच पत्र-वाहक द्वारा दिए गए एक हस्त पत्र से सारे आश्रमवासी सन्त और भक्त सहसा भयाक्रान्त हो उठे। पर, स्वामीजी के दीप्तिमान मुख-मण्डल पर वही पहले-की-सी चिर-परिचित मुस्कान खेलती रही। वही शान्त, स्थिर, निर्विकार प्रसन्न मुद्रा। तनिक भी परिवर्तन नहीं। जैसे नया-जैसा कुछ हुआ ही न हो।

बात यह थी कि यह पत्र उस समय के दुर्दान्त डाकू सुल्ताना का था, जिससे तत्कालीन अंग्रेजी शासन की कुशल एवं सबल रक्षा-शक्ति भी पंगु हो रही थी। पत्र में लिखा था, अमुक निश्चित तिथि पर पाँच हजार रुपये, जो उन दिनों बहुत होते थे, अमुक निर्धारित स्थान पर पहुँचा दें। साथ ही यह भी चेतावनी दी गई थी कि उक्त आदेश के पालन में जरा भी देर या इधर-उधर गड़बड़ की गई, तो उसके भयंकर परिणाम आप सबको भोगने होंगे। तुम जानते हो, मैं कौन हूँ, और मैं क्या कर सकता हूँ? मैं सुल्ताना हूँ, ध्यान में रखिए।

भयाक्रान्त शिष्यों ने बाबाजी से निवेदन किया—“गुरुदेव, इस भयंकर क्रूर डाकू के पत्र की उपेक्षा करना ठीक नहीं है। डाकू क्या है, राक्षस है, राक्षस। हमें जल्दी ही समय से पहले कुछ करना चाहिए। परिस्थिति साधारण नहीं है। इस तरह चुप बैठे रहे, तो कैसे उस दुष्ट से त्राण होगा?”

स्वामीजी निर्लिप्त भाव से हंसते रहे। उन्होंने प्रसन्न मुद्रा में शिष्यों से कहा—“आप सब घोषित तिथि के आने के पूर्व ही सुरक्षित स्थान पर चले जाएँ और आश्रम की सारी संपत्ति सड़क के किनारे खुले में ढेर करके रख दें। मैं अकेला उसके पास रहूँगा। देखूँगा, सुल्ताना क्या है और उसमें कितना दम है?” शिष्य सब चकित रह गए। किन्तु तेजस्वी सिद्ध संत के सामने बोलते भी क्या? गुरु के आदेशानुसार सड़क पर आश्रम की संपत्ति के ढेर लगा दिए गए। संपत्ति के नाम पर एक कौड़ी भी आश्रम में न रखी। आश्रम बिल्कुल खाली कर दिया गया। और, बाबाजी संपत्ति के ढेर के पास पास बैठ गए।

अपने पूर्व घोषित समय पर सुल्ताना सदल-बल आया। उसने देखा कि आश्रम के बाहर सड़क पर संपत्ति का ढेर लगा है। और, पास ही बाबाजी निर्विकार शान्त मुद्रा में अकेले बैठे हैं। सुल्ताना के लिए यह अलौकिक अद्भुत दृश्य था। जिसके नाममात्र से भय का भूकंप आ जाता था जनता में, उसके सामने सारी संपत्ति सड़क के किनारे रख कर निर्विकार बैठा है एक संत!

सुल्ताना घोड़े से उतरा। चकित और विस्मित! बाबा को प्रणाम किया और बोला—“यह क्या है बाबा! मैंने तो सिर्फ पाँच हजार रुपये की ही मांग की थी। और, आपने सड़क पर सारी संपत्ति का ढेर ही लगा दिया।”

बाबा मुस्कराये और प्रेम से छलकती गंभीर वाणी में बोले—“आ गये बच्चा! बहुत अच्छा किया, समय पर आ गए। मुझे देर हो रही थी। भीख चाहिए न? कोई बात नहीं, तू भी भिखारी और मैं भी भिखारी। पर, मैं बड़ा भिखारी हूँ, क्योंकि मुझे विशाल समाज के लिए बहुत-कुछ करना है। और तू छोटा भिखारी है, क्योंकि तुझे केवल अपनी भूख बुझाने के लिए ही कुछ चाहिए। बच्चा! तुझे जितने भी धन की जरूरत हो, निःसंकोच ले जा। मेरा क्या है! मैं और भीख मांग लूंगा, और वह मुझे मिलेगी ही। पर, हाँ एक बात ध्यान में रखना, मेरे बच्चे! साधु का यह धन भिक्षा का पवित्र धन है, समाज-सेवा के लिए। अतएव इसका अच्छा उपयोग करना, गलत नहीं।”

यह कहा, और बाबाजी उठकर चलने लगे। सुल्ताना हतप्रभ! सिद्ध संत की निर्भीक, निर्लिप्त, साथ ही प्रेमल वाणी एवं प्रखर तेज ने सुल्ताना के मन-मस्तिष्क को झक-झोर दिया। दुर्दान्त डाकू सहसा द्रवित हो उठा। वह दौड़कर चरणों में झुका, दोनों हाथों से चरण छूये, क्षमा मांगी और बाबाजी को अपनी ओर से पाँच हजार की दक्षिणा दे कर विदा ली।

है न, अपने में अद्भुत घटना! प्रेम का विलक्षण चमत्कार! निरुच्छल प्रेम की यह वह अद्भुत आदर्श घटना है, जो हर साधक के लिए पठनीय तो है ही, साथ ही सही तैयारी हो तो समय पर समाचरणीय भी है।

आर्हत श्रमण-परंपरा का पर्युषण-पर्व इसी भाव-धारा का पर्व है। वह प्रेम एवं सद्-भावना का उमड़ता क्षीरसागर है, अमृत का अनन्त निर्झर है। पर्युषण पर्व के साधकों की जीवन घटनाएँ भी महान् है। इतिहास साक्षी है, उन चमत्कारी घटनाओं का। सिन्धु सौवीर के महान् सम्राट् उदयन ने युद्ध के द्वारा जीता हुआ अवन्ती का राज्य पर्युषण-पर्व की मंगल-वेला में अपने विरोधी राजा चण्डप्रद्योत को सहर्ष लौटा दिया था। आज भी यह पुण्य गाथा, पर्युषण-पर्व के विश्व-मंगल दिनों में गाई जाती है। यह वह त्याग है, जो प्रेम के छलकते अमृत-सागर में से सहज ही समुद्भूत होता है।

अनेक यशस्वी गाथाओं को साथ लिए पर्युषण-पर्व, इस वर्ष भी जीवन के द्वार पर आ रहा है। स्वागत की तैयारियाँ प्रायः हर जगह पूरे जोर-शोर से हो रही हैं। तैयारी के लिए वर्षावास में स्थित साधु-साध्वियों के पुकारते-पुकारते कण्ठ सूखे जा रहे हैं। अनेक तपस्वी तप के अग्नि-आसन पर कुछ बैठ गए हैं और कुछ बैठने वाले हैं। परन्तु, पता है, पर्युषण किस आदर्श का पर्व है। यह पर्व है, निर्दोष निर्मल प्रेम का। बिना किसी पूर्व शर्त के विराट् जन-जीवन के साथ आत्मोपमा का, अपनेपन का। सस्नेह सद्भाव एवं तज्जन्य पारस्परिक सहयोग ही पर्युषण की वास्तविक उपासना है। यदि यह नहीं है, तो फिर कुछ भी नहीं है। तब तो रुढ़ि के नाम पर निष्प्राण पर्युषण का खाली शव ढोना है। प्रेम पर्युषण का प्राण है। मैत्री, करुणा, क्षमा निर्वैरता आदि इसी के विभिन्न रूप हैं, नामान्तर है। मैं देखना चाहूँगा, पर्युषण-पर्व के आराधक इस कसौटी पर कितने खरे उतरते हैं। अब तक के देखे गए पर्युषणों में तो कोई खास बात देखी नहीं गई। ‘भेत्ती मे सव्वभुएसु’ के केवल सामूहिक नारे ही लगते रहे हैं, और कुछ नहीं। मैत्री के नाम पर बाहर में बहुत-कुछ, अन्दर में कुछ नहीं। वही परस्पर घृणा है, विद्वेष है, कलह है, निन्दा है, दुरालोचना है। क्या नहीं है, जिसे सम्य समाज में अभद्रता कहते हैं? और तो और, धार्मिक परम्पराओं के उन्माद भी कहाँ कम हुए हैं। आज के धर्म, इन्हें धर्म कहना भी पाप है, पंथ कहिए। अर्थहीन घृणित वितण्डाओं में इतनी मर्यादाहीन उग्रता से संघर्षरत हैं कि उसे देखकर संसारी कही जाने वाली वितण्डाओं को भी लज्जा आने लगती है। आये दिन ये ही तमाशे दुहराये जाते हैं। और, हम इन्हें देखकर भी धर्म के पवित्र नाम पर अनदेखे कर जाते हैं। अनदेखे ही नहीं, हम में से अनेक उन्हें बढ़ावा भी देते हैं। ये सब बातें स्पष्ट ही सूचित करती हैं कि अभी तक पर्युषण, पर्युषण-पर्व के रूप में नहीं मनाये गए हैं, केवल दिखावे के रूप में अन्य सामाजिक रीति-रिवाजों की तरह ही, यह धार्मिक-रस्म भी पूरी होती रही है।

**उदयति दिशि यस्याम्.....**

धर्मवृत्त प्रेरणावृत्त है। ज्ञान-ज्योति को जागृत करने का सहज माध्यम है।  
जीवन को मोड़ देने वाला गुरु है। धर्मकथा ही वस्तुतः जीवन के अन्त तक साथ देनेवाला सच्चा मित्र है।

उत्तराध्ययन-सूत्र के २९वें अध्ययन का वाचन चल रहा है। स्वाध्याय की चर्चा चल रही है। स्वाध्याय के उत्तरोत्तर विकसित होते पाँच अंग हैं—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा। एक के बाद एक रहस्य खुलता जा रहा है, स्पष्ट होता जा रहा है। किसी भी तरह की उलझन नहीं रह जाती। एक के बाद एक कड़ी स्वतः सुलझती जा रही है। इस तरह वपन किया गया बीज क्रमशः अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित हो रहा है तथा फूल फल का रूप ले रहा है और फल रस से सराबोर हो रहा है। स्वाध्याय का, चिन्तन का भी यही क्रमिक रूप बताया गया है। स्वाध्याय का कल्पवृक्ष सर्वप्रथम वाचना से अंकुरित होता है। पृच्छना से पल्लवित होता है। परिवर्तना से पुष्पित होता है और अनुप्रेक्षा से फलित होता है। परन्तु, उस फल का जो अंतिम परिणाम है रस से परिपूर्ण होना, वह धर्मकथा में होता है। श्रमण भगवान् महावीर कहते हैं कि तत्त्वज्ञ गुरु से स्वयं के स्वरूप को सुना-समझा आपने, परन्तु सुनने मात्र से ही उसका यथार्थ परिज्ञान हो जाता है, ऐसा नहीं है। सुनने के पश्चात् उसे अपने चिन्तन की कसौटी पर कसें, उसके संबंध में कुछ तर्क उठते हों तो पूछें, उनका समाधान करें और उस पर गहराई से सोचें-विचारें। चिन्तन की गहराई में गोता लगाने पर ही आपको सत्य के स्वरूप का स्पष्ट बोध होगा। भगवान् महावीर कहते हैं कि यदि सत्य का साक्षात्कार हो गया है, तो फिर आप मौन धारण करके चुपचाप न बैठे रहें। सत्य को समझने के बाद मुक बनकर रहना गलत है। अनुप्रेक्षा से, गहन चिन्तन से आपने जो जाना है, उसकी कथा करें। कथा का अर्थ है, उसका कथन करें, विवेचन करें। स्वयं ने तो समझ लिया, अब दूसरों को भी समझायें। इसलिए अनुप्रेक्षा के बाद धर्मकथा को रखा है। उसका अभिप्राय है, आप कथा तो करें, अवश्य करें। परन्तु, वह जीवन का उच्चतम विकास करने वाली धर्म-कथा हो, संसार-कथा नहीं।

अभी चर्चा चल रही थी धर्म और दर्शन की। प्रश्न था कि धर्म और दर्शन क्या है? धर्म और दर्शन क्या सर्वथा अलग-अलग दो तत्त्व हैं? सही स्थिति यह है कि दर्शन धर्म से विपरीत नहीं है। जीवन के हर क्षेत्र में दर्शन अपेक्षित है। दर्शन का अर्थ है—दृष्टि। वाचना, पृच्छना एवं अनुप्रेक्षा से जिस धर्म-तत्त्व का बोध हुआ, जिसका दूसरों के सामने कथन कर रहे हैं वह धर्म-कथा है और उसके पीछे जो यथार्थ दृष्टि है, जो निरीक्षण-परीक्षण है, वह दर्शन है। वस्तु के परिज्ञान स्वरूप का निरीक्षण-परीक्षण करने की, उसे यथार्थरूप से जानने-समझने की जो दृष्टि है, वही तो दर्शन है। दर्शन और है क्या? वस्तु के यथार्थ स्वरूप को देखना-जानना ही दर्शन है। यह सत्य है कि कुछ चीजें परोक्ष में हैं। हम उन्हें स्पष्ट रूप से देख नहीं सकते, जैसे, स्वर्ग-नरक आदि। हम अनंत काल से अनेक गतियों में, अनेक योनियों में जन्म लेते आ रहे हैं। हम अपने पूर्वभवों में कहाँ-कहाँ थे? अनंत जन्म पहले किस स्थिति में थे? चिन्तन करने पर भी वह परोक्ष प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है। जीवन की धारा कब से प्रवहमान हुई? कर्म कब से लगे? क्यों लगे? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जिनका किनारा सामने दिखाई नहीं देता। परन्तु चिन्तन से इतनी अनुभूति तो होती है कि जीवन-प्रवाह सतत रूप से बहता चला आ रहा है। गंगा की स्वच्छ धारा कल-कल नाद करती हुई बह रही है। गंगा इतनी ही नहीं है, जितनी हमें दिखाई दे रही है। जिस स्थान पर हम गंगा को देख रहे हैं, उसके पूर्व के स्थानों पर भी बह रही है और आगे के स्थानों में भी बहती जा रही है। भले ही उसका उद्गम-स्थल दिखाई दे या न दे वह है अवश्य। गंगा का उद्गम कहाँ हुआ, यह विचारणीय तो है और इस पर विचार करना भी चाहिए, परन्तु जब आप गंगा में स्नान कर रहे हैं, उस समय यह मगजपच्ची करने की आवश्यकता नहीं है। आपको यह आग्रह नहीं होना चाहिए कि मुझे जब यह ज्ञात हो जाए कि गंगा कहाँ से निकल कर आई है, तब ही मैं उसमें गोता लगाऊँगा। परन्तु स्नान करने के लिए इतना दर्शन अपेक्षित है कि जहाँ से मैं नदी उतर रहा हूँ, वहाँ दलदल तो नहीं है, पानी ज्यादा गहरा तो नहीं है, वहाँ मगरमच्छ आदि घातक जलजन्तु तो नहीं हैं। नदी में उतरने के पूर्व यह ज्ञान तो होना ही चाहिए कि जहाँ मैं स्नान करना चाहता हूँ, वह घाट है या कुघाट है। वह अंदर में उतरने योग्य स्थान है या नहीं।

भगवान् महावीर कहते हैं कि इतना दर्शन जीवन में भी अपेक्षित है। दर्शन के बिना अथवा दृष्टि के अभाव में व्यक्ति सम्यक् रूप से गति नहीं कर सकेगा। धर्म को जीवन में उतारने के लिए, उसे आचरण का रूप देने के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का परिज्ञान होना ही चाहिए। अहिंसा, क्षमा, दया, करुणा, सत्य आदि धर्म के अंग हैं।

इन गुणों को जीवन में साकार रूप देना है और जीवन की हर गति-विधि अहिंसामय, सत्यमय हो, तो हर गति-विधि के समय यह देखना अपेक्षित है कि अहिंसा, अहिंसा है या नहीं। सत्य, सत्य है या नहीं? कहीं अहिंसा और सत्य हिंसा और असत्य से अधिक भयंकर काम तो नहीं कर रहे हैं? मन के परिणामों को शुद्ध एवं सन्तुलित रखते हुए देश-काल एवं परिस्थिति को देखकर कार्य करने वाले को ही भगवान् महावीर ने सम्यक्-द्रष्टा कहा है। कभी-कभी जिस रूप में घटना घट रही है, उसी रूप में वर्णन कर देने से अहित होता हो, तो वह सत्य, सत्य नहीं रह जाता। जिस सत्य से दूसरे को पीड़ा पहुँचती हो ऐसी कठोर भाषा, किसी के गुप्त मर्म को उद्घाटित करने वाली तथा पर-प्राणी का अहित करनेवाली भाषा बाहर में सत्य परिलक्षित होने पर भी यथार्थ में सत्य नहीं है। कल्पना करो कि एक लड़की को गुण्डे ने घेर लिया है। अपने शील की सुरक्षा के लिए वह किसी प्रकार उनके चंगुल से निकल कर भाग आई है। आपने उसे कहीं छुपते हुए देखा था वह आपकी शरण में आकर आपके ही घर में छिप गई है। कुछ देर बाद तलाश करते हुए गुण्डे भी वहाँ आ धमकते हैं। वे पूछ रहे हैं आप से कि वह लड़की कहाँ है? इस समय आप क्या कहेंगे? आपका धर्म, आपका दर्शन, इस समय क्या कहता है? क्या आप उस समय जैसा देखा है, वैसा ही बता देंगे? शाब्दिक सत्य तो यही है, परन्तु यह सम्यक्-सत्य नहीं है। जो धर्म इस तरह का सत्य बोलने की बात कहता है, उससे बढ़कर दुनिया में और कोई अधर्म नहीं है। उस समय आपका दर्शन यही होगा कि मौन रहो। यदि मौन से संदेह बढ़ता है और अहित होने का अनुमान है, तो उन्हें स्पष्ट कह देना चाहिए कि मैंने नहीं देखा, मैं नहीं जानता कि लड़की कहाँ है। ऐसे समय में इसे असत्य नहीं, सत्य कहा है। श्रमण भगवान् महावीर ने भी स्पष्ट शब्दों में कहा है—“जाणं वा नो जाणति वदेज्जा” अर्थात् जानने हुए भी कह दे कि मैं नहीं जानता।

यह बात कौन कह रहा है? श्रमण भगवान् महावीर, जो सत्य-महान्नत की प्रतिज्ञा लिए हुए हैं और सर्वज्ञ हैं। वे कोई साधारण व्यक्ति नहीं, गुरु हैं, जगद्गुरु हैं, जगन्नाथ हैं—“जगद्गुरु जगणाहो।” वस्तुतः धर्म-कथा कहने का काम गुरु का है। कुछ लोग ना समझ हैं, जो यों ही हर किसी ऐरेगरे को धर्मकथा के मंच पर या गुरु की व्यास-पीठ पर बैठा देते हैं। सत्य के यथार्थ स्वरूप को बताना साधारण बात नहीं है। ठीक समय पर उचित एवं सही निर्णय लेने-देने की क्षमता चाहिए। शास्त्रों में एक प्रसंग है, नदी के प्रवाह में कोई साध्वी बहती हुई जा रही है। उस समय कोई साधु उधर से जा रहा है। अब साधु क्या करे? दो निषेध उसके सामने हैं—नवजात लड़की का भी स्पर्श करना नहीं और कच्चे—संचित पानी को भी छूना नहीं, क्योंकि संचित पानी की एक बूंद में असंख्य जीव होते हैं। क्या करे वह? बहने दे उसे? आपका धर्म तो निषेध कर रहा है—पानी को मत छूओ, स्त्री को मत छूओ। बात ठीक है, बाहर में हिंसा होती हुई परिलक्षित हो रही है, वह तो है ही। परन्तु, सबसे बड़ी हिंसा तो उस दृश्य के द्रष्टा के अन्तःकरण में स्थित करुणा, दया एवं अहिंसा की हो रही है। इसलिए महामनोषियों ने कहा—“सताम् हि सन्देहपदेषु वस्तुषु, प्रमाणमन्तःकरण प्रवृतयः” अर्थात् संदेह के कृहासे में ऊपर से थोपा गया निर्णय प्रमाण नहीं है। प्रमाणरूप वह निर्णय है, जो सहज शुद्ध अन्तःकरण से किया गया है। इसीलिए ऐसे अवसर के लिए भगवान् महावीर ने भी कहा कि कोई साध्वी डूबती जा रही है, तो उस समय शीघ्र ही नदी में उतरकर, उसे बाहर निकाल लो। यदि ऐसे विकट प्रसंग पर कोई साधु क्रिया-काण्ड के चक्र में यह समझकर उसे बाहर नहीं निकालता है कि स्त्री का स्पर्श होने से ब्रह्मचर्य भंग होगा और पानी के जीवों की हिंसा होगी अथवा यह सोच कर कि मैंने तो उसे धक्का दे कर गिराया नहीं, मुझे पाप क्यों लगेगा? तो उसका अहिंसा व्रत शुद्ध नहीं रहता। किसी को मारना, इतना ही हिंसा का क्षेत्र नहीं है, प्रत्यक्ष किसी को बचाने का सामर्थ्य होते हुए भी उसे नहीं बचाना, उसकी रक्षा नहीं करना भी हिंसा है। और यह तो सबसे बड़ी हिंसा है। एक संत ने कहा है—

“जो तू देखे अंध के आगे, है एक कूप।  
तब तेरा चुप बँठना, है निश्चय अध रूप।।”

एक अंधा मार्ग से भटककर आगे बढ़ रहा है। उसके रास्ते में कुंआ है। उसे दिखाई नहीं दे रहा है। यदि ऐसे समय में उसे कुंए की ओर जाते हुए देखकर देखने वाला कुछ न बोले, अन्धे को सावधान न करे, तो यह पाप है, बहुत बड़ा पाप है। और तो क्या, यदि मौनव्रत भी ले रखा हो, तो उस समय मौन रहने का कोई अर्थ नहीं है। इसलिए भगवान् महावीर कहते हैं कि जो भी प्रत्याख्यान लें, जो भी क्रिया करें और जो कुछ बोलें या न बोलें अथवा मौन रहें, उसमें विवेक का होना आवश्यक है। साधना का मार्ग एकान्त निषेधरूप भी नहीं है और एकान्त विधेयरूप भी नहीं है। एक समय के लिए किया गया किसी कार्य का निषेध परिस्थितिवश दूसरे समय उसी

रूप में निषेध न रह कर कर्तव्य हो जाता है। स्त्री का स्पर्श करने का निषेध है, साधु नवजात बच्ची का भी स्पर्श नहीं करता। परन्तु, यदि कोई साध्वी भूताविष्ट है, क्षिप्त-चित्त है, नदी या तालाब में डूब रही है, तो उस समय उसे बचाने की दिशा में वह पूर्व निषेध अवरोधक नहीं है। ऐसे समय के लिए स्पष्ट विधान है कि साधु साध्वी को पकड़कर उसे पानी से बाहर निकाल सकता है। इसी प्रकार किसी विशेष प्रसंग पर आवश्यकता पड़ने पर जानते हुए भी यह कह दे कि मैं नहीं जानता, तो साधु का सत्य महाव्रत भंग नहीं होता। उस समय वही सत्य है। इस प्रकार विवेक-सम्पन्न साधक ही धर्म-कथा कह सकता है। जिसका चिन्तन गहन एवं व्यापक है, जिसकी दृष्टि विशाल और सम्यक् है तथा जिसका हृदय उदार है, वही धर्म-कथा कर सकता है।

तात्पर्य यह है कि एक ही बात के लिए एक बार निषेध कहा गया है, तो दूसरी बार उसका विधान भी कर दिया गया है। एक ही कार्य कभी 'हाँ' तो कभी 'ना'—कभी स्वीकार तो कभी इनकार, दोनों तरह से कहा गया है। यह बात आज ही नहीं, श्रमण भगवान् महावीर के समय में भी कही जाती रही है। भगवान् महावीर पर प्रायः यह आक्षेप लगाया जाता था कि वे एक वचन नहीं हैं, स्थिरचित्त नहीं हैं। सूत्रकृतांगसूत्र में वर्णन आता है कि ईरान के राजा का पुत्र आर्द्रकुमार एक बार मगध की राजधानी राजगृह में आया था। उसने भगवान् महावीर का प्रवचन सुना और वह श्रमण बनने को तैयार हो गया। भगवान् के चरणों में अपने को समर्पित करने, दीक्षा लेने आ रहा था कि रास्ते में गोशालक मिल गया उसे। उस समय कुछ गुरु बड़े-बड़े राज-कुमारों को झपटने का अवसर खोजते रहते थे। उस युग के गुरुओं की इस बात में प्रतिगठा थी कि किसके पास कितने राजकुमार दीक्षित हैं। गोशालक को जब पता लगा कि यह ईरान का राजकुमार है और भगवान् महावीर का शिष्य बनने जा रहा है, तो उसे अपनी और आकृष्ट करना चाहा। राजकुमार और वह भी विदेशी, यह तो गोशालक के लिए सोने में सुगंध वाली बात थी। आज भी कुछ गुरुजनों के लिए विदेशियों का महत्त्व कम नहीं है। अतः गोशालक ने उसे कहा—तू दीक्षा ले रहा है, यह तो अच्छा है। परन्तु ले कहाँ रहा है? श्रमण महावीर को जानता भी है? न तो उनकी बात का कोई ठिकाना है और न जीवन का। देखो, कुछ वर्ष पूर्व तो वह अकेला घूमता था, शून्य जंगलों में रहता था, किसी से बोलता भी नहीं था और किसी को दीक्षा भी नहीं देता था। तप ही करता रहता था और अब तो इन सबका पारणा ही कर लिया है। यदि निर्जन वनों में मौन सहित तप करना ही धर्म था, तो अब भी धर्मासाधना के लिए पूर्ववत् जंगलों में ही क्यों नहीं रहता? अब वह क्यों भीड़ एकत्रित करने लगा है, क्यों उपदेश देने लगा है, क्यों शहर में रहने लगा है और क्यों शिष्य बनाने लगा है? बोलने की बात ही क्या? अब तो बोलने का पूरा पारणा ही कर लिया है। एक प्रहर तक सुबह में और एक प्रहर तक संध्या को बोलता है और उसके बीच में कोई आ जाए, तो वह अलग से है। यदि मौन रखना धर्म था, तो अब इतना क्यों बोलता है? अरे आर्द्रक! यह किसी एक किनारे का स्थिर व्यक्ति नहीं है। इसलिए तुमको उसके पास प्रव्रजित होने में क्या लाभ है?

राजकुमार ने कहा—गौशालक! आप इतने उत्तेजित क्यों हो रहे हैं? इसमें इतना परेशान होने और आलोचना करने जैसी क्या बात है? मौन भी साधना का एक अंग है और समय पर बोलना भी साधना का एक अंग है। प्रबुद्ध पुरुष वह है, जो मौन और अमौन की यथोचित उपयोगिता को समझता है। जिस समय मौन रहना उचित है, तब वह मौन रहता है और जब बोलना उचित लगता है, तब वह बोलता है। श्रमण भगवान् महावीर जब साधना में संलग्न थे, आत्म-चिन्तन में लीन थे, तब उन्हें एकान्त की आवश्यकता थी, इसलिए नगरों से, गाँवों से दूर जंगलों में रहे, मौन रहे और एकाग्रचित्त से ध्यानस्थ खड़े रहे। जब अध्यात्म-साधना से जो-कुछ पाना था, वह पा लिया, तब मूक बनकर एकान्तवास करने में, जंगल में रहने में क्या लाभ है? अब तो जो पाया है, उसे जन-कल्याण के लिए जन-जन में वितरण करो। अतः भगवान् महावीर के साधना-काल में मौन रहने आदि की निवृत्तिपरक साधना में और अब पूर्णता पाने के बाद देशना देने आदि की इन प्रवृत्तियों में न तो परस्पर-विरोध है और न किसी तरह की अस्थिर वृत्ति ही है। बात यह है कि जीवन गतिशील है। यह देश-कालानुसार मोड़ लेता रहता है, अतः जो विरोधाभास दिखाई देता है, वह विरोध नहीं है, अनुरोध ही है।

अतः कहीं भी अंध एकान्त नहीं है—श्रेष्ठ और उच्च धर्म-दर्शन में। यह अनेकान्त का राजपथ है। इसलिए महान् धर्माचार्य, गुरु वह है, जो समय-समय पर जिस कार्य को न करने के लिए हजार बार 'ना' कहता रहा हो, समय पर उसी के लिए 'हाँ' कहने का प्रसंग उपस्थित होने पर निर्द्वन्द्व भाव से 'हाँ' भी कह सके और

जिसके लिए हजार बार 'हाँ' कहा हो, प्रसंग उपस्थित होने पर उसके लिए 'ना' भी कह सके। जिसे जीवन की यथायोग्य परिस्थितियों का समयोचित ज्ञान नहीं है और जिसे अपने बोध पर दृढ़ विश्वास नहीं है, वह गुरु नहीं बन सकता, वह धर्म-कथा करने का भी अधिकारी नहीं है। बाह्य विधि-निषेधों की एक ही बात को पकड़कर बैठने वाला गुरु कैसे बन सकता है? कर्म-काण्ड गधे की पूछ नहीं है कि मूर्ख ने पकड़ ली एक बार तो पकड़ ली, अब कौन छोड़े उसे?

धर्म-कथा को समझना आवश्यक है। भगवान् महावीर कहते हैं कि पहले वाचना करो, स्वाध्याय करो, अध्ययन करो। यदि तत्त्व की कोई बात समझ में नहीं आई है, तो उसे पूछो, एक बार ही पूछकर मौन मत धारण कर लो, यदि बात समझ में नहीं आ रही है, तो बार-बार पूछो और उस अध्ययन किए हुए विषय को बार-बार दुहराओ। फिर उसमें गहरे उतरते, उस पर चिन्तन-मनन करो। इस प्रकार किया गया अध्ययन परिपक्व हो जाएगा, ज्ञान की ज्योति अनावृत होगी, तब एक दिन का शिष्य गुरु बनता है, धर्मकथा का व्याख्याता होता है। इसका यह मतलब नहीं कि आचार्य या अन्य कोई पद किसी-न-किसी तंत्र से ले लिया या दे दिया और बस बन गये गुरु। वस्तुतः गुरु बनाया नहीं जाता, वह तो एक ज्योति है, जो अंदर से प्रस्फुटित होती है। जब वह ज्ञान की धारा अंदर से प्रस्फुटित हो कर प्रवहमान होती है, तब पूर्ववद्ध कर्मों की निर्जरा होती है, वह कर्मण-वर्गणा के अनंत-अनंत पुद्गलों को आत्म-प्रदेशों से हटा देती है। आगमों में कहा है और तत्त्वार्थ सूत्रकार आचार्य उमास्वाति ने भी कहा है कि सुनने वाला श्रोता उस धर्मकथा से कुछ ग्रहण करता है या नहीं, यह प्रश्न मुख्य नहीं है? यह सब तो उसके अपने क्षयोपशम पर निर्भर है। अतः इस ओर देखने की और सोचने की आवश्यकता ही नहीं है। जनहित एवं जन-कल्याण की पवित्र भावना से दिए गए उपदेश से धर्म-कथा करने वाले प्रवक्ता को तो धर्म ही होता है। यदि प्रवक्ता चिन्तन-मननपूर्वक जनता के हित की भावना से बोलता है, तो उसके अशुभ कर्मों की निर्जरा ही होती है। कहने का अभिप्राय है कि जिस विषय पर बोल रहे हो, उस विषय का पूरा ज्ञान होना चाहिये। ऐसा नहीं कि जो मन में आया वह फेंक दिया, जैसे अंधेरे में आँख बन्द कर पत्थर फेंक दिया। वह लक्ष्य की ओर जा रहा है या नहीं, इसका यदि कोई भान नहीं है, तो फिर फेंकने का क्या अर्थ है? अतः गुरु को अपने पद का एवं अपने अधिकारों का भान होना चाहिए। वह जो कुछ कहे वह विश्वासपूर्वक कहे। आचार्य उदयन ने जो न्याय का सूर्य माना जाता है, आत्म-विश्वास के सन्दर्भ में कभी कहा था उन्होंने—

“वयमिह, पदविद्यां तर्कमान्विषिकीं वा,  
यदि पथि विपथे वा वर्तयामः स पन्थाः।  
उदयति दिशि यस्यां भानुमान् सैव पूर्वा,  
न हि तरणिरुदीते दिक्-पराधीनवृत्तिः॥”

यदि पद-विज्ञान के स्वरूप को, उसके भाव को समझना हो तो देखो कि उदयन क्या कह रहा है। यदि तर्क के द्वारा समाधान नहीं हो रहा है, मन में संदेह बना हुआ है और उसके सही प्रमाण को जानना है, तो इसके लिए तुम देखो कि उदयन क्या कह रहा है। जिस पथ पर चल रहे हो या चलना चाहते हो वह पथ सही है या गलत है, वह पथ है या कुपथ है—इसका यथार्थ निर्णय करना है, तो देखो, उदयन किस पथ पर गतिशील है। उदयन जिस पथ पर चल रहा है, वही पथ सुपथ है। बाहर में साधारण लोगों की नजरों में भले ही वह कुपथ दिखाई देता है, परन्तु अपने शुद्ध विवेक से निर्णय करके जिस पथ पर हम खड़े हैं या चल रहे हैं, वही पथ है। उदयन एक महत्त्वपूर्ण बात कहता है—सूर्य जिस दिशा में उदित होता है, वही पूर्व दिशा है। यह कहना सही नहीं है कि सूर्य पूर्व में उदित होता है। वह पूर्व दिशा के अधीन नहीं है। उसके उदय होने के आधार पर ही पूर्व दिशा बनी है। अतः उदयन कहता है कि गुरु वह है, जो विश्वास के साथ कह सके कि जिस दिशा में मैं खड़ा हूँ, वही सही दिशा है। यह गर्वोक्ति नहीं, अपने स्वरूप बोध का दृढ़ विश्वास है। हम क्या हैं? हम कहाँ हैं? हमारा साधना-पथ कैसा है? यह निर्धूम ज्ञान-ज्योति जब प्रज्वलित होती है, तब कहीं गुरुत्व आता है और धर्म-कथा का सतत प्रवाह सही दिशा में प्रवहमान होता है? ऐसे गुरु से ही शिष्य को सही रास्ते की जानकारी मिलती है। यदि स्वयं गुरु ही अंधेरे में है, तो शिष्य को वह क्या प्रकाश देगा? संस्कृत-साहित्य में एक प्रहसन है, उसमें एक चुटीला गहरा व्यंग किया गया है कि एक आँखों के वैद्य थे। वे आँखों के चिकित्सक थे, नेत्र-विशेषज्ञ (Eye Specialist)। एक आँख का रोगी आया और उसने कहा कि वैद्यजी, मुझे कम दिखाई देता है।



वैद्यजी ने कहा—अच्छा बताओ, तुम कितनी दूर तक देख सकते हो। रोगी ने सामने देखा और हाथ का संकेत करते हुए बताया कि सामने कुछ दूरी पर जो वह बड़ का पेड़ है, वहाँ तक साफ दिखाई देता है। वैद्यजी ने उस ओर देखते हुए आश्चर्यान्वित हो कर पूछा—क्या आस-पास बड़ का पेड़ भी है? आँख पर आए हुए आवरण को दूर करने की चिकित्सा कर रहा है, पर स्वयं चिकित्सक को बड़ का इतना बड़ा वृक्ष ही दिखाई नहीं दे रहा है। जो स्वयं देख नहीं सकता, वह दूसरे की दृष्टि को क्या सुधारेगा, किस प्रकार सुधारेगा ?

इस प्रकार ज्ञान एवं विवेक के अभाव में कभी-कभी विचित्र स्थिति उत्पन्न हो जाती है। एक गांव था। उसमें अधिक आबादी गरीब मुसलमानों की थी। इधर-उधर से थोड़ा-बहुत पैसा एकत्रित करके उन्होंने एक छोटी-सी साधारण मस्जिद तो बना ली। परन्तु, उसकी सफाई के लिए एक आदमी रखना उनके लिए कठिन हो रहा था। उसे वेतन देने का सवाल था। वेतन कहाँ से दें, आय तो है नहीं। आखिर यह निर्णय लिया कि जो नमाजी आयें, वह एक मुट्ठी अनाज लेकर आयें। इसके लिए उन्होंने मस्जिद की दीवार में ही एक स्थान में एक मटका चिनवा कर रख दिया। जो भी नमाजी आता, वह उसमें एक मुट्ठी अनाज डाल देता। एक दिन एक बकरा उधर से निकला। अनाज की गंध से उसने अपना मुँह ऊपर उठा कर मटके को देखा और उसमें मुँह डाल दिया। मुँह तो उसमें डाल दिया, परन्तु उसमें से वापिस निकालना कठिन हो गया। उसकी गर्दन मटके में फंस गई, वह चिल्लाने लगा। लोग इकट्ठे हो गए। उन्हें कोई उपाय नहीं सूझा, तो वे अपने एक पुराने बूढ़े मौलवी साहब को बुला लाये। मौलवी साहब ने आते ही अपना रौब गांठना शुरू किया—“अरे मूर्खों! तुमको मुझे बकरे के आने की पहले सूचना देनी चाहिए थी, जिससे तुमको बता देता कि बकरा आने वाला है, तो उसकी गर्दन मटके में न फंसने देना। अब क्या हो सकता है? उपस्थित लोगों ने बड़े ही विनम्र भाव से कहा पता ही नहीं था मौलवीजी कि बकरा इधर से आ घमकेगा। वह अचानक आया है, खाने के लालच में फंस गया है। खैर हमारी भूल हो गई, अब बताइए, क्या करें? मौलवीजी ने अपनी दाढ़ी को सहलाते हुए कहा कि तुरन्त दीवार तोड़ो। दीवार तोड़ दी गई, फिर भी बकरे की गर्दन मटके में अटकी ही रही। फिर सोच कर कहा कि अब तो बकरे की गर्दन काट दो और कोई उपाय नहीं है। बेचारे बकरे की गर्दन काट दी गई। फिर भी गर्दन मटके में ही फंसी रही। तब सोच-विचार के बाद अन्त में कहा मटका फोड़ दो। मटके को फोड़ा कि वह धड़ से अलग हुई गर्दन मस्जिद के फर्श पर लुढ़क पड़ी। समस्या का हल क्या हुआ, सर्वनाश ही हो गया। बूढ़ा मौलवी सिर पर हाथ रखकर रोने लगा। लोगों ने सोचा कि यदि पहले ही घड़े को फोड़ देने का तरीका बता देते, तो मस्जिद की दीवार भी बच जाती और बकरे को भी प्राणों से हाथ नहीं धोना पड़ता। शायद इसी दुःख से पीड़ित हो कर मौलवी रो रहा है। परन्तु, पूछने पर मौलवी ने बताया कि अभी तो मैं जीवित हूँ, इसलिए तुम्हारी समस्याओं को हल कर देता हूँ। परन्तु मेरे मरने के बाद तुम्हारा क्या हाल होगा? यह विचार आते ही मुझे रोना आ गया। एक मनचले युवक ने कह ही दिया—मौलवी साहब! यदि पहले ही घड़े को फोड़ दिया जाता, तो दीवार एवं बकरे का नुकसान तो नहीं होता। इस पर मौलवीजी गुराये कि जी हाँ, पहले ही घड़ा फोड़ देने से गर्दन निकल सकती थी। यह उपाय मैं भी जानता था, परन्तु इसका सही तरीका वही था, जिस क्रम से मैंने बताया है। सत्य के सामने आने पर भी व्यर्थ ही उसे झुठलाने और अपने मिथ्या-ज्ञान का अहंकार करने वाला मूढ़ व्यक्ति न तो अपना ही कल्याण कर सकता है और न दूसरों को ही सही रास्ता बता सकता है।

धर्म-कथा करना आसान बात नहीं है। कुछ बंधे-बंधाये परंपरागत आचार के नियमों का पालन करके नाम का गुरु तो कोई भी बन सकता है, परन्तु गुरुत्व के योग्य कर्म का अनुष्ठाता गुरु कोई विरला ही होता है। अतः धर्म-कथा करने का अधिकार हर किसी व्यक्ति को नहीं है। उसके लिए व्यापक अध्ययन-स्वाध्याय होना चाहिए, स्वाध्याय का बार-बार पर्यटन होना चाहिए और उस पर होना चाहिए गहन चिन्तन। तभी वह धर्म-कथा करने का अधिकारी होता है। कभी-कभी परंपरा-पालन की झोंक में आचार अनाचार का रूप ले लेता है, सदाचार कदाचार बन जाता है। ऐसे अवसर पर सही निर्णय ले सके, वही धर्मगुरु है। महाभारत में उल्लेख है जब कभी शिष्य गुरु से कुछ पूछता है, तो गुरु को वह 'वदतां वरः' अर्थात् बोलने वालों में श्रेष्ठ वक्ता के संबोधन से संबोधित करता है। आचार्य समन्तभद्र ने भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए भगवान् को 'विदां वरः' कहा है, अर्थात् ज्ञानियों में श्रेष्ठ।

“प्रबुद्ध तत्त्वः पुनरद्भुतोदयो, ममत्वतो निर्विविदे विदां वरः ।

धर्मगुरु वह है, जो 'विदां वरः' अर्थात् जानने वालों में सर्वश्रेष्ठ हो। वक्ताओं में श्रेष्ठ—'वदतां वरः' हो और फिर 'ददतां वरः' अर्थात् ज्ञान-दान देने वालों में भी श्रेष्ठ हो। धर्मगुरु में तीनों गुण होने चाहिए—विदां वरः, वदतां वरः और ददतां वरः। श्रेष्ठ ज्ञाता, श्रेष्ठ वक्ता और श्रेष्ठ दाता। तात्पर्य यह है कि विशाल अध्ययन और गहन चिन्तन से प्राप्त सम्यक्-ज्ञान की ज्योति से ज्योतिर्मय और समय पर सही निर्णय देने में सक्षम अर्थात् विवेक-पूर्वक बोलने वाला तथा शिष्य को ज्ञान का दान देने में उदार गुरु ही धर्मगुरु है और वही धर्म-कथा कर सकता है। अतः वाचना, पृच्छना और परिवर्तना से साधक 'विदां वरः' बनता है, फिर अनुप्रेक्षा अर्थात् चिन्तन-मनन से 'वदतां वरः' श्रेष्ठ वक्ता बनता है और तब सही निर्णय करने एवं सही रास्ता बताने की क्षमता आने से वह 'ददतां वरः'—ज्ञान-दान देनेवाला श्रेष्ठ दाता बन जाता है।

# ज्योति-पर्व

शुचि कर्मों की दीपमालिका,  
जग का तमस हरेगी ।  
स्नेह, शांति, सुख की जयलक्ष्मी,  
घर-घर में बिचरेगी ॥

भारतवर्ष की महान् संस्कृति एवं उज्ज्वल परंपरा में दीपावली का महत्त्वपूर्ण स्थान है। दीपमाला में सिर्फ एक ही ज्योतिर्मय दीप नहीं, दीपों की आवलियाँ, पंक्तियाँ हैं। एक के बाद एक श्रेणीबद्ध दीप प्रज्वलित हैं। इसलिए दीपमाला और दीपावली एक ही है। आवली का अर्थ है—पंक्ति, शृंखला। अतः दीपावली ज्योति का पर्व है, प्रकाश-पर्व है। इस ज्योति-पर्व के साथ इतिहास की महत्त्वपूर्ण कड़ियाँ, स्वर्णिम शृंखलाएँ जुड़ी हुई हैं।

एक ज्योतिर्मय व्यक्तित्व, जो इतिहास का एक चमकता-दमकता अद्भुत रत्न-चिन्तामणि इस पर्व के साथ संबंधित है, वह है श्रमण भगवान् महावीर। वह महान्, विशाल, एवं विराट् आत्मा, अनंत ज्योतिर्मय आत्मा, जिसका हर गुण अनंत है। उस उज्ज्वल एवं विराट् पुरुष का दर्शन अनंत है, ज्ञान अनंत है, चारित्र्य अनंत है, वीर्य (शक्ति) भी अनंत है और सुख, शान्ति एवं आनंद भी अनंत है। छोटे-से बिन्दु से उसने अन्तर्-यात्रा शुरू की, लेकिन जब वह साधना पथ पर चल पड़ा, तो बिन्दु से सिन्धु बनता गया। वह नन्हीं-सी बूंद सागर का विशाल रूप लेती गई और विराट् होते-होते एक दिन श्रमण महावीर तीर्थंकर, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी के रूप में पूर्ण ज्योतिर्मय हो गया।

सागर विराट् है, महान् है। उसमें अपार जलराशि है। अतः उसे अपार भी कहा है। परन्तु, धरती पर उसकी भी सीमाएँ हैं, मर्यादाएँ हैं। कोई भी सागर, कितना ही विशाल क्यों न हो, अपार नहीं है। ऐसा कोई सागर नहीं है, जिसे पार नहीं किया जा सके। परन्तु वह महान् ज्योतिर्मय चेतना, जो बूंद के रूप में थी, विराट् होते-होते अनंत हो गई, अपार हो गई। न उनके ज्ञान की थाह पाई जा सकती है और न दर्शन एवं चारित्र्य की। जो अनंत है, अथाह है, उसका किनारा पा सकना कठिन ही नहीं, असंभव है। वह विराट् ज्योतिर्मय आत्मा अर्हन्त के रूप में तीस वर्ष तक धरती के प्राणियों के कल्याण के लिए, उनकी रक्षा एवं दया के लिए महानदी गंगा की तरह निरन्तर प्रवहमान रही। उस महाज्योति के जिधर भी चरण पड़े, उधर ही गाँव-गाँव में, नगर-नगर में, घर-घर में, टूटी-फूटी झोपड़ी से ले कर राजमहलों तक में ज्योति प्रज्वलित होती गई। उस महाज्योति ने ऋषि-महर्षि, मुनि, त्यागी-तपस्वी, विद्वान् मनीषियों को ज्ञान की आँख दी, निज स्वरूप को देखने-परखने एवं समझने की दृष्टि दी। जो अनंत-काल से मोह के, अज्ञान के अंधकार में भटक रहे थे, तेरे-मेरे के द्वन्द्वों में उलझ रहे थे, उन्हें चेतना के ऊर्ध्व विकास की सही राह दिखाई। इस प्रकार वह ज्योतिर्मय आत्मा तीस वर्ष तक निरन्तर प्रकाश देती रही।

पावापुरी के अंतिम वर्षावास में श्रावण, भाद्रपद और आश्विन के पूरे तीन मास और ऊपर कार्तिक के एक पक्ष तक उनकी ज्ञान-गंगा का प्रवाह निर्बाध-गति में बहता रहा। कार्तिक कृष्ण अमावस्या अर्थात् दीवाली के दिन उस महान् आत्मा ने अर्हन्त अवस्था से ऊंची अवस्था को प्राप्त किया, जिसे हम सिद्ध अवस्था कहते हैं, जहाँ पहुँचने के बाद आत्मा वापस लौटती नहीं। उस ऊंचाई को उसने छू लिया, जिसके आगे और ऊंचाई है नहीं। इसलिए उसे लोकान्त कहा है। उसके आगे लोक है नहीं और पीछे हटने का, नीचे गिरने का तो प्रश्न ही नहीं है। इस प्रकार सिद्धत्व की महान् भूमिका प्राप्त की महाप्रभु महावीर ने।

दीपावली का यह ज्योति-पर्व उस महान् आत्मा की, जगत् बन्धु की, जगत् गुरु की स्मृति में मना रहे हैं। महान् आचार्य श्रुत-केवली श्री भद्रबाहु ने, जो कि ज्ञान का गर्जता हुआ विराट् सागर है, कल्पसूत्र में कहा है—निर्वाण के समय भगवान् महावीर के अंतिम समवसरण में उपस्थित राजाओं ने यह निर्णय लिया कि भाव उद्योत, भाव-प्रकाश, भाव-ज्योति आज हमारे बीच से चली गई है, अतः उस ज्योति के प्रतीक के रूप में द्रव्य उद्योत किया जाए, द्रव्य प्रकाश किया जाए। उस समय नव मल्ली और नव लिच्छवी—१८ गणराज्यों के राजा भगवान् की अंतिम देशना सुनने और उनके अंतिम दर्शन करने के लिए वहाँ उपस्थित थे। उन्होंने रत्न-दीप प्रज्वलित करके द्रव्य-उद्योत किया। बात यह है कि भाव-ज्योति को जगाने की स्मृति के लिए द्रव्य-ज्योति एक प्रतीक है। और तत्कालीन वे ज्ञान-ज्योति के प्रतीक रत्न-दीप भी आज नहीं रहे, पर मिट्टी के दिए आज भी जल रहे हैं। इस प्रकार जैन-इतिहास के अनुसार दीपावली को ज्योति-पर्व का रूप श्रमण भगवान् महावीर के निर्वाण दिवस से मिला। राजाओं ने रत्न-दीप प्रज्वलित किये, और ज्योति-पर्व प्रारम्भ हो गया। देवों ने, देवियों ने, अप्सराओं ने, यक्षों ने, गंधर्वों ने रत्नों की ज्योति से पावापुरी के कण-कण को आलोकित कर दिया,

जगमगा दिया। और तब से यह ज्योति-पर्व की परम्परा जन-जीवन में प्रवाहित हो गई, जो आज भी श्रद्धा एवं भक्ति के साथ प्रवहमान है।

यह ज्योति-पर्व बहुत-सी स्मृतियाँ लिए हुए हैं। इस पर्व के साथ इतिहास की अनेक कड़ियाँ जुड़ी हुई हैं। अनेक महापुरुषों के जीवन की गाथाएँ इससे संबद्ध हैं। परन्तु मुख्य रूप से दो बातें हैं, जिन्हें ध्यान में रखना है। एक तो यह है कि यह ज्योति-पर्व है। संसार में सबसे अधिक डरावना एवं भयावना अंधकार है। आप देखते हैं कि दुनिया में जितने भी पाप होते हैं, जितने कृकृत्य होते हैं, जितनी बुराइयाँ पनपती हैं, वे अंधकार में ही पनपती हैं। और तो क्या, मच्छर, खटमल आदि क्षुद्र प्राणी भी रात को काटते हैं, सताते हैं। जितने भी क्रूर पशु-पक्षी हैं, वे भी रात में विचरण करते हैं। चोर, डाकू, लुटेरे आदि भी अंधेरे में ही दुष्कर्म करते हैं। इस प्रकार बाहर का अंधकार भयावना है, वह पापों का, दुष्कर्मों का केन्द्र बन जाता है।

इस अंधकार से भी अधिक भयंकर अंधकार वह है, जो मनुष्य के मन में रहता है। मानव-मन में जब मोह का, अज्ञान का अंधकार होता है, तो व्यक्ति इधर-उधर ठोकरें खाता फिरता है। उस अंदर के अंधकार में क्रोध पनपने लगता है, अहंकार बढ़ने लगता है, माया-छल-कपट एवं लोभ आदि दुर्गुणों का विस्तार होने लगता है। समस्त दोष, वासनाएँ एवं विकारों का जन्म अंधकार में ही होता है। इसलिए मोह का, अज्ञान का अंधकार समस्त पापों की जड़ है।

बाहर का अंधकार भी काफी भयंकर है, पर उसकी कुछ सीमाएँ हैं और उसमें अपकर्म करने-वाले जो दुष्कर्मी हैं, संभव है, पुलिस की सूची में उनका अता-पता कभी-कभक मिल भी जाता है, किन्तु जो अन्दर के चोर हैं, डाकू हैं, उनका अता-पता लगाना गुप्तचर पुलिस के लिए भी कठिन ही नहीं, असंभव है। और, वे अन्दर की चोर-उचकके दस-बीस या सौ-दो-सौ नहीं, असंख्य हैं। भगवान् महावीर ने कहा था कि उनके असंख्य-असंख्य रूप हैं, अनंत रूप हैं। अभिप्राय यह है कि ये हजारों-हजार दुर्गुण क्यों पनपते हैं? यह क्रोध क्यों आता है? मन में अहंकार का नाग क्यों फुंफुकार उठता है? माया, छल-कपट एवं लोभ की पिशाचनी अपना जाल क्यों फैलाती है? क्योंकि मन में अज्ञान का, मोह का अंधेरा है। और ये समस्त विकार अंधेरे में ही पनपते हैं। इसलिए जीवन में विकास-पथ पर बढ़ने के लिए प्रकाश आवश्यक है। जैसे बाहर के जीवन में प्रकाश जरूरी है, उसी तरह अंदर के जीवन में भी ज्योति का महत्त्व है। अन्तर्-चेतना में और अन्तर्-जीवन में जब ज्ञान का दिव्य आलोक फैलना शुरू होता है, तो साधक आध्यात्मिक विकास-पथ पर गतिशील हो जाता है। फिर अन्तर्मन में भूनभुनाते मच्छरों का कहीं पता नहीं चलता, कि वे कहाँ जा छिपे। सभी तरह के क्षुद्र एवं क्रूर मनोविकार विलुप्त हो जाते हैं। यह ज्ञान की अनंत ज्योति जब श्रमण भगवान् महावीर के अन्तर्-जीवन में प्रज्वलित हुई, तो उनके समस्त विकार नष्ट हो गए। प्रभु महावीर कहते हैं कि पाप-वासनाएँ एवं मनोविकार तभी तक पनपते हैं, जब तक अन्तर्-जीवन में सम्यक्-ज्ञान का दीप नहीं जलता।

श्रमण भगवान् महावीर के अन्तर्-जीवन में अनन्त ज्योतिर्मय ज्ञान का सूर्य प्रकट हुआ, तब सिर्फ उनका ही अंधेरा दूर नहीं हुआ, प्रत्युत लाखों-लाख लोगों के मन का अंधेरा भी उनके ज्योतिर्मय दिशा निर्देशन में टूट कर खत्म हुआ। अनंत काल से चले आ रहे लाखों-लाख अंधों को ज्योति मिली, अपने पथ के अवलोकन की दृष्टि मिली। इसलिए भगवान् के लिए हम कहते हैं—'लोग पज्जोयगराण' और 'चक्खुदयाण'—आप लोक में प्रकाश करने वाले, ज्योति फैलानेवाले तथा अंधों को चक्षु (दृष्टि) देने वाले महान् गुरु हैं। प्रभु की ज्योतिर्मय वाणी अज्ञान के, मोह के अंधेरे में इधर-उधर भटकते, दर-दर की ठोकरें खाते-फिरते व्यक्ति की आँखें खोल देती हैं। इसलिए महाप्रभु महावीर की वाणी का स्वाध्याय करें, निरन्तर स्वाध्याय करें और उस पर चिन्तन-मनन करें, तो आपको वह दिव्य दृष्टि मिलेगी, जिससे आपके अंदर की अनंत ज्योति अनावृत होती चली जायगी।

आपका शरीर, आपकी इन्द्रियाँ, जो कर्म करती हैं, रात-दिन कर्म में लगी रहती हैं, उन्हें निर्देशन कौन देता है, उनका संचालन कौन करता है? आपका मन ही उनका संचालक है। मन जब कहता है चलो, तो आपके कदम मार्ग पर गतिशील हो जाते हैं और उसका आदेश मिलता है ठहरो, तो तुरन्त कदमों की गति रुक जाती है। मन कहता है, खाओ, तो आप खाने लगते हैं। वह कहता है, गुस्सा करो तो आपके नेत्र आरक्त हो जाते

हैं, अंगारे की तरह आग उगलने लगते हैं, मुँह से कठोर शब्द बाणों की बौछार होने लगती है। मन कहता है, क्षमा करो, शान्ति रखो, तो आपके हृदय से क्षमा की, शान्ति की शीतल-धारा बह निकलती है। इस प्रकार सारे चक्र का, शरीर एवं इन्द्रियों से होने वाली समस्त प्रवृत्तियों का संचालक मन है। परन्तु, मन का सूचना-केन्द्र कौन है? उसे दिशा-निर्देशन कहाँ से मिलता है? मन का सूचना-केन्द्र है—महापुरुषों की वाणी। उसे जितनी अच्छी सूचनाएँ मिलती हैं, वे सब महाप्रभु की वाणी से मिलती हैं। और, जो गलत सूचनाएँ मिलती हैं, वे मिलती हैं, स्वार्थ, मोह एवं वासनाओं के शैतानों से, जो साधक को इधर-उधर भटका देती हैं। इसलिए आवश्यक यह है कि आप चिन्तन-पूर्वक प्रभु वाणी का स्वाध्याय करें।

ढाई हजार वर्षपूर्व महाप्रभु महावीर जन-मन को अहिंसा का, करुणा का, सत्य का निर्देशन दे गए थे। उसने प्रेम का, स्नेह का, क्षमा का, सहिष्णुता का निर्देशन दिया था मानव के अबोध मन को। वह निर्देशन ऐसा निर्देशन था कि यदि व्यक्ति एकान्त में साधना कर रहा है, तो वहाँ भी आनंद के क्षीर-सागर में डुबकियाँ लगनी शुरू हो जाती हैं। परिवार में है, तो परिवार के साथ आनंद का उपभोग कर सकता है। समाज और राष्ट्र में रह-रहा है, तो समाज एवं राष्ट्र के व्यक्तियों को प्रेम-स्नेह एवं आनंद बांटता हुआ सुप्रसन्न जीवन-यात्रा कर सकता है। वह कहीं भी क्यों न रहे—भले ही राजमहल हो या टूटी-फूटी घास की झाँपड़ी, सर्वत्र आनंद में रहता है। भगवान् के निर्देशन के अनुसार जीवन-यात्रा करने वाला साधक एक नयी दृष्टि का, एक अद्भुत सृष्टि का निर्माण करता है। उस सृष्टि के सामने स्वर्ग का राज्य, इन्द्र का सिंहासन भी धूमिल हो जाता है। वह संसार के सब तरह के अंधेरों को चीरता हुआ प्रभु-वाणी के आलोक में विकास-यात्रा पर निरन्तर बढ़ता जाता है। वह प्रभु से और कुछ नहीं चाहता, केवल ज्योति चाहता है, सत्य का आलोक चाहता है, ज्ञान का प्रकाश चाहता है, जीवन का अमृत चाहता है—

**“असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय।”**

हे प्रभो! मुझे असत् से सत् में ले चलो, मुझे अंधकार से ज्योति में ले चलो, और मुझे मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलो।

भारतीय जन-ज्योति के प्रतीक के रूप में दीप जलाकर प्रकाश की उपासना करते हैं और लक्ष्मी की पूजा करते हैं। लक्ष्मी की ही नहीं, महालक्ष्मी की पूजा करते हैं। महालक्ष्मी शब्द में जो महान् शब्द का विशेषण लगाया है, वह महत्त्वपूर्ण है। सिर्फ लक्ष्मी ही नहीं, महालक्ष्मी चाहिए। महालक्ष्मी की उपासना का अर्थ है—जीवन की समस्त—तन की, मन की और अर्थ की (जीवनोपयोगी भौतिक साधनों की) दरिद्रता समाप्त हो जाये। दरिद्रता भले ही वह किसी भी प्रकार की क्यों न हो, भयंकर होती है। दरिद्रता के अनेक रूप हैं। सिर्फ पैसे का, अर्थ का अभाव ही दरिद्रता नहीं है। तन की दरिद्रता भी जीवन-विकास के लिए एक अभिशाप है। तन अस्वस्थ है, जर्जर है, दुर्बल है—न तो वह ठण्डी हवा का झोंका सह सकता है और न गर्म हवा का। उस दरिद्र शरीर की स्थिति बड़ी नाजुक होती है। यदि रोटी का एक टुकड़ा ज्यादा खा लिया तो रात भर, दिन भर परेशान है और एक टुकड़ा कम खा लिया, तब भी क्षुधा से परेशान है। विचित्र स्थिति है तन की दरिद्रता की। महालक्ष्मी का आह्वान इसलिए है कि हमारे तन की दरिद्रता भी दूर हो। भगवान् महावीर ने भी धर्म-साधना के लिए स्वस्थ और सशक्त तन की बात कही है। कुछ लोग कहते हैं कि भगवान् वीतराग थे, उन्हें संसार से क्या लेना-देना है? और शरीर की स्वस्थता-अस्वस्थता से उन्हें क्या अपेक्षा है? परन्तु, उन्हें लेना-देना है। आगम में एक प्रश्न है—मुक्त कौन होगा? उत्तर में भगवान् महावीर ने कहा है कि—मुक्ति के लिए वज्रऋषभ-नाराच सहनन अर्थात् वज्र जैसे दृढ़ एवं सशक्त शरीर का होना भी आवश्यक है। समस्त कर्म-बंधन से मुक्त होने के लिए अन्य अनेक अपेक्षाओं के साथ वज्र जैसा शरीर भी होना चाहिए। अन्तर्-चेतना का महत्त्व तो ही है, उसके बिना आध्यात्मिकता ही नहीं सकती। परन्तु, उसके विकास के लिए शरीर की संपन्नता का भी महत्त्व है। वज्र जैसा दृढ़ एवं स्वस्थ शरीर ही आध्यात्मिकता के द्वार खोल सकता है। जिनके शरीर गले-सड़े हैं, इन्द्रियाँ अपूर्ण या शिथिल हैं, वे क्या तो धर्म के द्वार खोलेंगे, वे क्या साधना-पथ पर गति करेंगे और वे क्या मुक्ति-पथ पर बढ़ सकेंगे? इसलिए तन के दरिद्र अर्थात् शरीर से अस्वस्थ, कमजोर एवं जर्जर व्यक्ति क्या कर सकते हैं? वह कुछ भी तो नहीं कर सकता—वह न धर्म कर सकता है और न कर्म। बात यह है कि गिर गया,

तो उसके लिए पुनः खड़ा होना कठिन है, बैठ गया तो उठने की मुसीबत है। ऐसा जीवन किसी काम का नहीं होता। इसलिए भक्त प्रभु से प्रार्थना करता है कि तन की दरिद्रता दूर हो। तन स्वस्थ रहे, सशक्त रहे। कहावत है—स्वस्थ तन में स्वस्थ मन रहता है। तन अस्वस्थ है, तो मन भी अस्वस्थ एवं गिरा-गिरा रहता है।

दूसरी दरिद्रता और है। वह है, बुद्धि की दरिद्रता, सोचने समझने की दरिद्रता, विवेक की दरिद्रता। तन तो देवों जैसा बड़ा सुन्दर एवं पहलवान जैसा मजबूत मिल जाता है, परन्तु मस्तिष्क में सोचने-समझने की बुद्धि का, विवेक का दिवाला निकला रहता है। शरीर हूण्ट-पुण्ट है, पर खोपड़ी को देखो, तो उसमें गोबर भरा रहता है। बौद्धिक दरिद्रता स्वयं अपने लिए ही नहीं, समाज, परिवार एवं राष्ट्र के लिए भी घातक है। न तो वह अपने जीवन को सही दिशा में गतिशील रख सकता है और न परिवार, समाज, संघ एवं राष्ट्र हित के लिए कुछ कर सकता है। बुद्धिहीन एवं विवेक-शून्य जीवन वास्तव में जीवन ही नहीं है। वह बहुत भयंकर एवं खतरनाक जीवन होता है—अपने लिए भी और परिवार, समाज एवं राष्ट्र के लिए भी। इसलिए भक्त परम-ज्योतिर्मय महाप्रभु से प्रार्थना करता है कि मेरी बुद्धि की दरिद्रता समाप्त हो, मैं बुद्धि-सम्पन्न एवं विवेक-सम्पन्न बनूँ—**“धौ महिधियो योनः प्रचोदयात्”**। हमारी बुद्धि एवं विवेक सदा जागृत रहे, सही दिशा में गतिशील हो और आनंद का वातावरण तैयार कर सके। वह स्वयं के लिए भी आनंदवर्षी हो और वह जहाँ भी खड़ा हो जाए, वहाँ आनंद की गंगा बह जाए, धरती पर स्वर्ग उतर जाए। भगवान् महावीर के लिए कहा जाता है कि वे जहाँ-जहाँ कदम रखते थे, वहाँ-वहाँ स्वर्ण-कमल खिल जाते थे। आज भी आप भक्तामर-स्तोत्र में पढ़ते हैं—

**“उन्निद्रहेम—नवपंकजपुञ्जकान्ती,  
पर्युल्लसन् नखमयूखशिखाभिरामौ ।  
पादौ पदानि तत्र यत्र जिनेन्द्र ! धत्तः,  
पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति ।”**

आचार्य मानतुंग ने बहुत ऊँचाई से बहुत ही सुन्दर बात कही है। प्रभु का जीवन तो ऊँचाई पर है ही। वे जहाँ कदम रखते हैं, वहाँ कमल खिलते ही हैं। परन्तु प्रभु के धर्मपुत्र जहाँ पर धरते हैं, वहाँ क्या होता है? वहाँ भी कमल खिलने चाहिए। अभिप्राय यह है कि प्रभु का बेटा साधक भी विवेक सम्पन्न है, बुद्धि का धनी है। अतः वह विवेकपूर्वक, कर्म-पथ पर जो कदम रखता है, चिन्तन-पूर्वक जो कार्य करता है, उससे जीवन में आनंद-मंगल के स्वर्ण-कमल खिलते ही हैं।

एक और दरिद्रता है, जिसे हम दरिद्रता के रूप में जानते हैं और कहते भी हैं। वह दरिद्रता है—धन-वैभव की, ऐश्वर्य की, भौतिक-साधनों की। भगवान् महावीर ने अपरिग्रह की बात अवश्य कही है, परन्तु दरिद्रता का उपदेश नहीं दिया। अपरिग्रह का अर्थ है—जो मन में पदार्थों के प्रति आसक्ति है, ममता है, उन्हें बटोरने की तृष्णा-लालसा है और अर्थ को ही सब-कुछ समझने की मिथ्या-दृष्टि है, उसका परित्याग करना। जीवन जीने के लिए साधन एवं सम्पत्ति एक सीमा तक आवश्यक है। जीवन का आदर्श सम्पत्ति की सीमा करना तो है, परन्तु भिखारी होना, दरिद्र होना और दर-दर भीख माँगकर जीना नहीं है। जीवन में ऐश्वर्य का भी अर्थ है। तथाकथित कुछ गुरु कहते रहते हैं कि इन पुद्गलों का, धन-सम्पत्ति का कोई अर्थ नहीं है। वैभव-ऐश्वर्य पतन का कारण है। पर, यह किसके लिए पतन का कारण है? जो पापाचार में रत हैं, भोग-विलास में आसक्त हैं, जिनकी अन्दर की आँखें खुली नहीं हैं और जो सम्यक् रूप से न तो लक्ष्मी का उपार्जन करना जानते हैं, न उसका संरक्षण करना जानते हैं और न उसका उपभोग एवं उपयोग करना, उनके लिए ऐश्वर्य पतन का कारण है। परन्तु, जिनके अंदर की आँखें खुली हैं, उनके लिए ऐश्वर्य भी जीवन-विकास में सहायक हैं। यदि दरिद्रता जीवन का आदर्श होती, तो भगवान् आनंद श्रावक को व्रत स्वीकार कराते समय कहते—हे देवानुप्रिय ! तू बारह करोड़ सोनैया क्यों रखता है? ऐश्वर्य तो पाप है। सब-कुछ छोड़कर दरिद्र बन जा। परन्तु, महाप्रभु ने कहीं भी ऐसा नहीं कहा। और तो और, जब वे गर्भ में आये, तब उनकी माता त्रिशला ने १४ स्वप्नों में से चौथे स्वप्न में महालक्ष्मी का स्वप्न देखा। वह सूचना देता है कि वह अनंत ऐश्वर्य का स्वामी होगा। वह अंदर की अनंत विभूति भी प्राप्त करेगा और बाहर के वैभव से भी संपन्न होगा। आप भगवान् महावीर का वर्णन पढ़ते हैं, वे स्वर्ण सिंहासन पर बैठते थे, उनके ऊपर तीन छत्र रहते थे, दोनों ओर इन्द्र-इन्द्राणियाँ, देव-देवियाँ, राजा और



रानियाँ तथा साधारण जन की ओर से यथाप्रसंग चंवर ढलते रहे हैं। कितना बड़ा ऐश्वर्य। छत्र भी एक नहीं, एक के ऊपर एक करके तीन हैं। ताप निवारण के लिए एक ही छत्र पर्याप्त है, फिर तीन छत्र क्यों? यहाँ ताप-निवारण का कोई हेतु नहीं है, वे तो प्रतीकात्मक हैं। आचार्य सिद्धसेन के शब्दों में तीन छत्र यह सूचित करते हैं कि भगवान् तीन लोक के स्वामी हैं। हाँ तो, उनके सिर पर तीन छत्र हैं, देव-दुर्भियों का निर्घोष हो रहा है, दिन-रात हजारों-हजार पताकाएँ लहरा रही हैं। और समवसरण में बैठे हैं, तब भी देव पुष्पों की वर्षा करते हैं। जो भी देव आता है फूल बरसाता आता है और यह फूलों का कितना ढेर, घुटनों-घुटनों तक। मैंने एक दिन कहा था कि ऐश्वर्य के, बाह्य परिग्रह के शिखर पर बैठकर तीर्थंकर महावीर ने उपदेश किसका दिया? अपरिग्रह का। कमाल है, आश्चर्य है, जादू है कि कितनी ऊँचाई पर है वह जीवन। बाहर में इतना बड़ा भोग होते हुए भी अंदर में कुछ भी नहीं। बाहर में कुछ भी रहा हो, अंदर में पूर्ण रूप से अपरिग्रही। अभिप्राय यह है कि बाहर में ऐश्वर्य में रहो, फिर भी अपरिग्रही बने रहो। जीवन का आदर्श भीख-माँगना नहीं है। जीवन का अर्थ है—सब-कुछ प्राप्त करके भी अंदर में कमल-पत्र की तरह पूर्णतः निर्लिप्त रहो। अनंत जलराशि से भरे-पूरे सागर में गोता लगाकर भी सूखे निकल आओ। यह जीवन की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। दरिद्रता तो दरिद्रता है, वह बाहर की हो या अन्दर की। दरिद्रता से बढ़कर कोई पाप नहीं है—“न दरिद्र्यात् पातकं महत् ।”

सबसे भयंकर दरिद्रता है—‘आध्यात्मिक दरिद्रता।’ आध्यात्मिक दरिद्रता का अर्थ है—हमारा मन सद्गुणों से खाली पड़ा है। चित्त में, मन में न अहिंसा की भावना उद्बुद्ध होती है, न दया की, न करुणा की भाव-ज्योति जगती है, किसी भी दुःखी-पीड़ित व्यक्ति को देख कर। जरा अन्तर्दय से सोचें कि किसी गरीब, असहाय एवं दुःखी व्यक्ति के प्रति कभी कुछ अर्पण करने की भावना आपके हृदय में जगती है, या इधर-उधर से सब कुछ समेटने में ही लगे रहते हैं। यदि सिर्फ समेटते ही रहते हैं, तो यह मन की, भावना की दरिद्रता है। और, यह दरिद्रता बाहर के वैभव की दरिद्रता से भी कहीं अधिक भीषण है। ऐसे मन के दरिद्र लोग न परिवार के लिए समय पर कुछ कर सकेंगे, न समाज, न संघ और न राष्ट्रहित के लिए ही कुछ कर पाएँगे। मैंने तो यहाँ तक देखा है, कि वे और तो क्या अपने तन के लिए भी कुछ नहीं कर पाते हैं। आस-पास के दूसरे लोग कहते हैं कि इसके पास काफी वैभव है, लेकिन उनके शरीर की हालत देखो तो ऐसी है कि मानो ये कई जन्मों के दरिद्र हों। जिनके सम्बन्ध में कहा गया है—‘पुनर् दरिद्रः पुनरेव पापी’ अर्थात् पापी दरिद्र होता है और यह मन का दरिद्र फिर पापी होता है। यह परंपरा अनेक जन्मों तक चलती रहती है, जब तक अन्तर्-ज्योति जागृत नहीं होती। इस प्रकार मन की दरिद्रता दूर होनी चाहिए। वस्तुतः दरिद्रता एक अपराध है, गुनाह है, पाप है—भले ही वह तन की दरिद्रता हो, मन की दरिद्रता हो, बुद्धि की दरिद्रता हो या धन की दरिद्रता हो। क्योंकि पूर्व पाप के उदय से ही व्यक्ति दरिद्र होता है। और, दरिद्रता के कारण न तो वह स्वयं अपने जीवन का आनंद ले सकता है और न वह परिवार, समाज एवं राष्ट्र को ही यथोचित आनंद दे सकता है।

इस दृष्टि से हम विचार करेंगे कि आज का यह महापर्व ज्योति-पर्व है। अनंत ज्योतिर्मय ज्ञान-लक्ष्मी की उपासना का पर्व है। दीपावली-पर्व एक वर्ष के पश्चात् प्रकाश का संदेश ले कर आता है। यह ज्योति-पर्व अंदर और बाहर की दरिद्रता को तोड़ने के लिए है। महाप्रभु महावीर और उनके महान् शिष्य गुरु गौतम का पावन स्मरण ही—जिनके जीवन की स्मृतियाँ इस पर्व के साथ संबद्ध हैं, आनंद का स्रोत हैं। उनका स्मरण जीवन में परम प्रसन्नता की गंगा बहा देता है। और यह स्मरण हमारे इस जीवन की ही नहीं, जन्म-जन्मांतरों की दरिद्रताओं को—जिनका वर्णन मैंने किया है, समाप्त कर सकता है। उन महाप्रभु के चरणों में हम भावना रखते हैं—

“सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।  
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥”

धरती के सभी प्राणी सुखी हों, सभी प्राणी तन और मन के रोग से मुक्त हों, सब भद्र अर्थात् मंगल-कल्याण के दर्शन करें, किसी को भी कोई दुःख और पीड़ी न हो। सबकी आँखों में आनंद की ज्योति प्रज्वलित हो। इस संसार का कोई प्राणी न मन से पीड़ित हो, न आध्यात्मिक अभाव से पीड़ित हो, और न भौतिक अभाव

से पीड़ित हो—वह दोनों ही तरह की समृद्धि प्राप्त करे। अभी-अभी मन में कुछ भाव जगे और उन्होंने शब्दों का रूप ले लिया, वे इस प्रकार है—

**“ज्योति-पर्व पर, ज्योतिर्मय हो, जीवन का, कण-कण क्षण-क्षण।  
विघ्न जाल से मुक्त सर्वथा, हो मंगल का नित्य वरण॥”**

ज्योति-पर्व के उपलक्ष्य में हमारे जीवन का जो भी कण-कण, क्षण-क्षण आ रहा है, वह ज्योतिर्मय हो जाए, प्रकाश-रूप हो जाए। मार्ग में आने वाली जितनी बाधाएँ हैं, रुकावटें हैं, वे दूर हों। जीवन मंगलमय, आनन्दमय बन जाए। अंदर का अंधकार, बाहर का अंधकार, जो है वह मिट जाए। हमारा धर्म भी सुन्दर हो और कर्म भी सुन्दर हो। धर्म, कर्म से अनुप्राणित हो और कर्म, धर्म से अनुप्राणित हो। निष्क्रिय धर्म और धर्म से शून्य कर्म जीवन को सड़ा देता है, मलिन बना देता है। इसलिए कर्म को धर्म से ज्योति मिले और धर्म को कर्म से गति मिले। जैसे दीपावली के हजारों-लाखों दीप जगमगाकर बाहर के अंधकार को नष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार हमारा अन्तर्मन भी ज्ञान-ज्योति से जगमगा जाए। इन्हीं भावनाओं के साथ, मैं प्रभु महावीर और गुरु गौतम की स्मृति में आप सबके आध्यात्मिक विकास के लिए अनंत शुभ कामनाएँ करता हूँ और इसी मंगल-भावना के साथ विराम लेता हूँ—

**“अन्दर का, बाहर का जो भी, अंधकार सब मिट जाए।  
धर्म-कर्म की युगल ज्योति से, जन-मन जगमग हो जाए॥”**

**देशकालानुरूपं धर्मं कथयन्ति तीर्थकराः**

ओ, अतीत की गहन तटी में रमने वालो!  
मुक्तद्वार पर रमती ज्योति-शिखा पहचानो!  
मृत अतीत पर झल-झलकर क्या रोना पलपल-  
वर्तमान की मांग सुनो, जीवन संधानो!!

महाकाल की बाधरहित गति चिन्तन के एक-एक बिन्दु को ज्ञानसिंधु के अतल तल में समाहित करती रही है। सृष्टि के विकास और इतिहास की चरम परिणतियाँ महाकाल के गुरुगंभीर पदक्षेप में ध्वनित होती रही हैं और प्रेरणा के नानाविध छन्दों को अणु-अणु में समाहित करती रहीं हैं। ऋजु संकल्पों के न जाने कितने सेतुओं का निर्माण विकास की संघर्षमयी चेतन गाथा में अब तक हो चुका है। न जाने कितने प्राज्ञ-स्वर ऐन्द्रियक-बोध को कल्याण की भावधारा में बहाते रहे हैं और मानव अपने को संवारता-मांजता, इतिहास को हर पल नयी दिशा-दृष्टि देता कालातीत आयामों के अन्वेषण में अपने अहं-भाव को नियोजित करता रहा है।

उसके अटल संकल्प कभी कलकल निनादिनी सरिता की तरह गतिमान होते रहे हैं और कभी वह सागर की उत्ताल तरंगों की तरह अपनी अस्मिता को घोर गर्जना के साथ उछालता रहा है। कभी नेहमय दिव्यता से उसके मनोहर प्राण पुलकित होते रहे हैं और कभी वह शिला-खण्डों की तरह कठोर होता रहा है। मानवीय विकास की सद्गुणायें विविधवर्णी पुष्पों की सौरभयुक्त मोहमयी गाथा हैं, जिसमें प्राण के नेहपुरुष अपनी अचिन्त्य महाशक्ति का विस्तार करते हैं और माधुर्यमयी तन्द्रा को सम्मोहित दृष्टि से टटोलते रहे हैं।

श्रमण-संस्कृति के उद्भव और विकास की कथा-यात्रा के विविध भावयुक्त ऐतिहासिक कार्य-कारण संबंधों पर जब हम दृष्टिपात करते हैं—अन्तर्नयन द्वार पर ज्ञान और भक्ति का संवेगमय सागर हिलकोरे मारने लगता है। बीजांकुरों-सी सुकोमल भावनायें अन्तःप्रदेश को मथती चली जाती हैं और एक चैतन्य प्रवाह नैरंतर्य धारण कर लेता है। श्रमण-संस्कृति की उस नैरंतर्यता में ऐसा नहीं है कि बाधाएँ न आयी हों अथवा उसे कटु अनुभवों से न गुजरना पड़ा हो। श्रमण-संस्कृति की प्रवहमान धारा तो उस स्वयंभू निर्झरिणी के समान है, जिसे अपनी दिशा स्वयं निर्मित करनी पड़ती है। न जाने कितने अज्ञानरूपी शिलाखण्डों से टकरा कर वह उच्छल गति से बढ़ती रही है। न जाने कितने विभ्रान्तिजन्य झाड़-झंखाड़ उसके पथ-बाधक बने हैं, पर श्रमण-संस्कृति का वह वज्र निनाद—उसकी ज्ञानरूपी निर्झरिणी का उदग्र प्रवाह, उसकी मनोमुग्धहारी प्राणवत्ता—क्या कहीं से भी क्लान्त हो सकी है? इतिहास और दर्शन के दर्पण में जिसे झाँककर देखने की लालसा हो, देख ले! देख ले कि वह महायात्रा अब भी जारी है और तब तक जारी रहेगी, जब तक मानव के मन में देवता बन जाने का संकल्प श्रद्धावान बना रहेगा।

आदिम मानव की वे व्यक्तिगत दैहिक प्रवृत्तियाँ—जिन्हें श्रमण-संस्कृति के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभ-देव ने सम्पूर्ण मानवीय सद्गुण स्वरूप प्रदान किया था—तीर्थंकर महावीर तक और उसके बाद भी निरन्तर अपने को श्रेयस् तक ले जाने के लिये कटिबद्ध होती रहीं हैं और जीवन के हर क्षेत्र को ऋजु संकल्पों से आप्लावित करती रहीं हैं। यही वह उत्कट तपःपूत संकल्प है, जिसके कारण श्रमण-संस्कृति विश्व वाङ्मय में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

दुग्ध-धवल श्रमण-संस्कृति ने निरन्तर सदुपायों द्वारा विकास के इतिहास को नये आयाम दिये हैं। काल की चेतना के अनुसार इसने अपनी प्राज्ञ-दृष्टि को निरन्तर मांजा है। समय की मांग को स्वीकारते हुये इसने अपनी अस्मिता के मान-मूल्यों को वैचारिक ऊर्ध्वता प्रदान की है। अतएव प्रारम्भ से ले कर आज तक की विकास-यात्रा के मध्य इसकी प्रखर तेजस्विता को युगीन सन्दर्भों में भी आकलित किया जा सकता है और विमुग्ध भाव-दृष्टि जीवन के चांचल्य-भाव को दी जा सकती है एवं गति के मनहरण छन्द स्नेह संकल्पित ऊर्जा में ध्वनित किये जा सकते हैं।

श्रमण-संस्कृति की इस बहुविध चैतन्य-परम्परा के प्रथम तीर्थंकर आदि प्रवर्तक भगवान् ऋषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थंकर महावीर तक मानवजाति के सुप्त देवत्व को जागृत करने की दिशा में आध्यात्मिक एवं सामाजिक स्तर पर कितने संकल्पवान प्रयत्न होते रहे हैं, इसे क्या सहज ही समझा जा सकता है? इसे समझने के लिए तीर्थंकर-परम्परा के उद्बोधन की उस महायात्रा को चिन्तनशील गहन एकाग्रदृष्टि से निहारना होगा। यह विराट् संस्कृति चौबीस तीर्थंकरों के मध्य की वैचारिक प्रक्रिया काल के हर पदक्षेप को अपने भीतर समाहित करती रही है और “बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय” की विराट् भावना को प्रचारित-प्रसारित करती रही है।

पर, ऐसा नहीं है कि यह सब कुछ सहज ही हो गया हो? अनेक ज्ञानावातों, कटु-मृदु अनुभूतियों, पारस्परिक चिन्तन की समस्याओं एवं समयोचित परिवर्तन की जटिलताओं के मध्य से उन सभी देवाधिदेव सर्वज्ञ-देवों को गुजरना पड़ा है—जिनकी स्मृतिमात्र से जन्म-जन्मान्तरों के सुकृत संचित हो जाते हैं। प्राण में निर्जन अरण्य-सी मौन एकाग्रता समा जाती है। अह्लाद के कोटिशः श्रद्धा के मंगलद्वार नयन-मन में खुल जाते हैं। अतएव उस सांघर्षिक महायात्रा पर उसके परिवर्तित मूल्यों के मानदण्ड पर एवं परिवर्तन की समयोचित आवश्यकता पर एक विहंगम दृष्टिपात करना नितान्त आवश्यक है।

जैन पौराणिक गाथाओं के अनुसार आदिम मानव की स्थिति अर्धपशु अथवा अर्धमानव की तरह थी। कन्द, मूल, फल से जीवन-यापन करना और आरण्यक मनोवृत्तियों के साथ ही एक दिन जीवन-लीला का समाप्त हो जाना उसकी नियति थी। यह उस समय का एक चिरागत अल्पसंख्यक समाज था, किन्तु कालक्रमानुसार शनैः शनैः उसकी जनसंख्या में वृद्धि होने लगी और आहार के साधनों में कमी आने लगी, विग्रह और कलह से जन-जीवन अशान्त होने लगा। अरण्य की मनोहारी सुषमा उस काल में समाप्त-प्रायः हो गई थी। आदिम मानव के जीवन-संघर्ष की प्रारम्भिक यात्रा ने सर्वत्र हाहाकार मचाना आरम्भ कर दिया। क्षुधार्त जनता के उदर में सारे पत्र, पुष्प और फल समा गये थे, भयंकर अकाल की विकराल अग्नि की लपटें नित्य-निरन्तर विस्तार पाती जा रही थीं। कुलकर अथवा कुलक नेता असमंजस की स्थिति में थे। भूमि एवं पर्वत श्रेणियों के वृक्ष-समूह नष्ट हो रहे थे और हरीतिमाएं सूर्य के मंगल गान से उदित नहीं हो रही थीं। धरती की छाती में दरारें पड़ गई थीं और दैत्याकार मानव कुशकाय हो गया था। मानव-जीवन के प्रारम्भिक संघर्ष का यह युग त्राहि-त्राहि कर रहा था। दिग्भ्रमित मानव-समुदाय के समक्ष सुरक्षा का कोई उपाय न था।

यह एक निर्विवाद सत्य है और इतिहास के पन्ने इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि जब भी मानवीय अस्तित्व का विलोप होने लगता है अथवा दिग्भ्रान्त स्थितियाँ उत्पन्न होने लगती हैं—एक महानायक जन्म लेता है अथवा उसे युं कहें कि मानवसमूह की असीम शक्ति एकत्रित होती है और एक प्राण-पुरुष उनके बीच से उठ खड़ा होता है। काल के इस व्यापक सत्य को सभी धर्मों ने विभिन्न शब्दावलियों के द्वारा स्वीकार किया है। इतिहास का एवं मानव विकास का यह एक अनुभूत सत्य है, जिसे कहीं से नकारा नहीं जा सकता। भौतिक-वादी विचारक भी प्रकारान्तर से इस मत को स्वीकार करते हैं।

आदिम मानव के उस विकास-युग में भी एक युवक ऋषभकुमार बड़ी गंभीर एवं तीक्ष्ण दृष्टि से समय की विकराल स्थिति को देख रहा था। यहाँ उन्हीं ऋषभदेव की बात कही जा रही है, जिन्हें जैन-परम्परा का आदि तीर्थंकर माना जाता है। युवक ऋषभकुमार मनुष्य की आदिम प्रवृत्ति को अपनत्व और स्नेह भरी दृष्टि से निहार रहा था। अज्ञान एवं प्रमाद में रत मानव की मुक्ति के लिये वह व्यग्र हो उठा। पाशविक प्रवृत्ति के मानव को चेतनाशील बनाने का उन्होंने व्रत लिया। देवत्व तथा मानवता की प्राण-प्रतिष्ठा करने को वे व्यग्र हो उठे।

मनुष्य की आवश्यकतायें दैनंदिन बढ़ती जा रही थीं। क्षुधित मानव-समुदाय में संचय-वृत्ति का भाव पनपने लगा था। अब वह पक्षियों की तरह स्वतंत्र विचरण नहीं कर पाता था। यह एक अकाट्य सत्य है कि जब भी कोई सांघर्षिक काल विघटन की प्रक्रिया में अपने मान-मूल्यों का अन्वेषण करता है। अवश्यंभावी रूप से सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक मर्यादायें बीजभाव में अवस्थित हो जाती हैं। भगवान् ऋषभदेव का काल इसी प्रकार के ऊहापोहों के मध्य जन-मानस में अवस्थित था। पूर्व की तरह मानव की निश्छल, निष्कपट व सहज मनोवृत्तियाँ समाप्त प्रायः हो गई थी और वह पारस्परिक वैमनस्य, घृणा, तनाव व संघर्ष का शिकार हो गया था। अपराध वृत्तियाँ सिर उठाने लगी थीं।

भगवान् ऋषभदेव जैसा महान् कर्मयोगी इस बिखरती हुई मानवीय चेतना को मौन हो कर नहीं देख सकता था। अतएव उन्होंने समस्त मानव समुदाय को श्रम-शक्ति से परिचित कराया एवं श्रम के पश्चात् शी की उपलब्धि का मंगल संदेश जन-मानस में प्रचारित किया। वस्तुतः कृषि का आदर्श उपस्थित करने वाला वह आदि पुरुष था। और भी स्पष्ट ढंग से अगर इसे व्याख्यायित करना हो, तो हम कह सकते हैं कि अगर ऋषभदेव

समयोचित निर्णय न लेते, तो धरती पर मनुष्य का कोई अस्तित्व न रहता। एक-दूसरे का भक्षण कर मानव जाति दानव बन जाती और प्रकृति का स्वरूप कुत्सित हो जाता। मैं पूर्व में कह आया हूँ कि इस तरह के संक्रमण-काल में मानव-संस्कृति के उन्नायक अवतरित होते हैं और विकास को समयोचित दिशा एवं गति देते हैं।

जब हम ऋषभदेव-कालीन मानव-प्रवृत्तियों पर और उसकी जीवनचर्या के संसाधनों पर दृष्टिपात करते हैं, तो एक सहज स्मित हास्य की रेखा भी होठों पर उभर आती है। एक कौतूहल एवं आश्चर्य भी हमारे मानस को झकझोर जाता है। भगवान् ऋषभदेव ने अपने वक्त के मानव को अन्न खाना सिखाया था, पर कच्चे अनाज को खाकर पचा जाने की शक्ति लोगों में नहीं थी। उस वक्त अग्नि अगर थी भी कहीं, तो अगोचर थी और अन्न को पकाने के साधनों का अभाव था।

ऐसा नहीं था कि भगवान् ऋषभदेव अग्नि के बारे में नहीं जानते थे। उन्हें यह पता था कि काल की स्निग्धता के कारण अग्नि उत्पन्न नहीं हो सकती। दीर्घ समय के पश्चात् स्निग्धता जब कुछ कम हुई, तब उन्होंने काण्ड को रगड़कर अग्नि उत्पन्न की और लोगों को भोज्य पदार्थों को पकाने का ज्ञान कराया।

इसी प्रकार जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों में भी मनुष्य को विकसित दृष्टि प्रदान करने का श्रेय आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव को ही जाता है। एक प्रकार से वे पहले समाज-शास्त्री, धर्म-व्याख्याता एवं कुशल प्रशासक थे। साथ-ही-साथ वे जीव-मात्र की पीड़ा के सहभागी भी थे। सर्वप्रथम उन्होंने ही “आत्मवत् सर्वभूतेषु” का पाठ मनुष्य को पढ़ाया एवं नवीन चेतना से समृद्ध किया।

अस्त्रों की होड़ ने आज के मानव को भयंकर रूप से हिंसक बनाया है। उस अस्त्र के प्रथम निर्माता भी भगवान् ऋषभदेव ही थे। उन्होंने ही असि अर्थात् तलवार का निर्माण किया, परन्तु उनका यह निर्माण हिंस्र पशुओं एवं आसुरी प्रकृति के अत्याचारी लोगों से मानव की रक्षा के लिए था। किन्तु, आगे चलकर इसका भयंकर दुरुपयोग हुआ, तुच्छ स्वार्थों के लिए भीषण नर-संहार हुए, सुरक्षा के स्थान पर आक्रामक रूप सामने आया, जिसने शस्त्रास्त्र धारण के मूल आदर्श को ही नष्ट कर दिया। जो भी हो, परन्तु शस्त्रास्त्र की एक सामाजिक उपयोगिता है इससे इनकार नहीं किया जा सकता। यदि असि से भविष्य में होने वाले अनर्थों के विकल्पों में ही ऋषभदेव उलझे रहते, तो आज मानव जाति का क्या भविष्य होता? गुण और दोष एक सिक्के के दो पहलू हैं। वे समय पर अपना-अपना स्थान लेते रहते हैं। ‘दृष्टं किमपि लोकेस्मिन्, न निर्दोषं न निर्गुणम्’। प्रश्न वर्तमान का है। कुछ दूर तक के भविष्य का भी है। यदि अमुक समय या अमुक भविष्य तक किसी निर्णय की या बात की अर्थवत्ता है, तो उसका उपयोग करना चाहिए। सुदूर भविष्य के विकल्पों में अत्यधिक मस्तिष्क को उलझा देने से वर्तमान विनष्ट हो जाता है और वर्तमान के विनष्ट होने से बढ़कर समाज के प्रति बड़ा आघात और क्रुद्ध भी नहीं है। जूँ पड़ जाने के भय से वस्त्र न पहनना बुद्धिमानी की बात नहीं है। जूँ न पड़ने पाये, इसके लिए यथावसर वस्त्रप्रक्षालन का ध्यान रखना चाहिए। भोजन करेंगे, तो शौच की समस्या आएगी ही। यह तर्क मूखतापूर्ण नहीं तो और क्या है? ऋषभदेव ने इसीलिए वर्तमान समय की उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए मानव के हाथ में आत्मरक्षा के लिए तथा जो अशक्त, दीन और दुर्बल अपनी रक्षा करने में असमर्थ हैं उनकी आततायियों से रक्षा करने के लिए असि अर्पित की। उस वक्त उस करुणामूर्ति के समक्ष मनुष्य एवं उसकी सामाजिक रक्षा का प्रश्न ही सबसे बड़ा था। असि का निर्माण क्षत्राण के सूत्र पर आधारित है। असि धारक ‘क्षत्रिय’ वर्ण के लिए प्रयुक्त, ‘क्षत्र’ या ‘क्षत्रिय’ शब्द इसी अर्थ को ध्वनित करता है। “क्षतात् किल त्रायत इत्यु-दग्रः, क्षत्रस्व शब्दो भुवनेषु रूढः।”

यही बात लेखन के सम्बंध में भी है। लेखन का भी भविष्य में दुरुपयोग हुआ। झूठे दस्तावेज लिखे गये। मिथ्या शास्त्र लिपिबद्ध हुए। हिंसा, विग्रह, एवं वासना-वर्धक पुस्तकें लिखीं गयी, यह सब हुआ पर साथ-ही-साथ कुछ अच्छी चीजें भी प्रकाश में आयीं। विचारों को स्थायी रूप देने के लिए लेखन एक बहुत बड़ी अपेक्षा थी मानव की। श्री ऋषभदेव ने उसकी तत्काल पूर्ति की। जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्तिकार के विचार से प्रजा का हित सम्पादन किया। असि, मसि और कृषि आदि में हिंसा होते हुए भी मनुष्य का हित निहित है और जहाँ हित है, हित बुद्धि है, वहाँ पाप नहीं है, पुण्य है। अतः ऋषभदेव ने राज्य-शासन, व्यापार-वाणिज्य, शिल्प-कर्म एवं युद्ध-कला आदि के प्रशिक्षण

देशकालानुरूपं धर्मं कथयन्ति तीर्थंकराः

१८९

द्वारा प्रजाहितरूप पुण्य-कर्म ही किया, पाप-कर्म नहीं। क्योंकि इनके ये तत्कालीन निर्णय विश्व-जनहित में थे।

‘आइगराणं तित्थयराणं’ के अनुसार तीर्थंकर धर्म की आदि करने वाले हैं, तीर्थ के कर्त्ता हैं, संस्थापक हैं। परन्तु, प्रश्न यह है कि वे किस धर्म के कर्त्ता हैं? निश्चय-धर्म तो अनादि-अनन्त है। जिस युग में जो भी तीर्थंकर हुआ, उसने मूल निश्चय-धर्म के रूप में एक ही बात कही—राग-द्वेष से मुक्त होना, निज स्वभाव में स्थित रहना, वीतराग-भाव—समभाव में रमण करना धर्म है। अनन्त-अनन्त अतीत काल में जो अनन्त तीर्थंकर हो चुके हैं, उनमें से किसी ने भी इसके विपरीत प्ररूपणा नहीं की और न अनन्त अनागत-काल में होनेवाला कोई तीर्थंकर इसके विरुद्ध कुछ कहेगा। किसी ने कभी भी यह नहीं कहा कि राग-द्वेष से मुक्ति होती है, विभाव-परिणति धर्म है। क्योंकि निश्चय-धर्म अनादिकाल से जिस रूप में चला आ रहा है, वही वर्तमान में है और वही भविष्य में रहेगा। वह तो आत्मा का निज स्वभाव है। उसमें कोई परिवर्तन करेगा भी क्या? फिर तीर्थंकर किस धर्म के कर्त्ता हैं? वे नयी स्थापना क्या करते हैं? यदि वे पुराने सत्य का, धर्म का ही उद्घोष करते हैं, तब वे कर्त्ता कैसे हुए? वस्तुतः तीर्थंकर आत्मा के स्वरूप की, तत्त्वों के स्वरूप की, वीतराग-भाव की अन्तरंग साधना की कोई नयी स्थापना नहीं करते। अतः स्पष्ट है कि कोई भी तीर्थंकर निश्चय-धर्म का कर्त्ता नहीं होता और न हो ही सकता है। व्यवहार-धर्म में, बाह्य के आचार में, क्रिया-काण्ड में युग के अनुसार जो परिवर्तन अपेक्षित होता है, तीर्थंकर उस बाह्य आचार में परिवर्तन-परिवर्धन करता है। अतः वह व्यवहार-धर्म का कर्त्ता है। आचार्य जिनदास ने—जो आगमों के व्याख्याता एक महान् आचार्य हुए हैं, उन्होंने सहस्राधिक वर्ष पूर्व उत्तराध्ययन-चूर्णि में कहा था—

“देशकालानुरूपं धर्मकथयन्ति तीर्थंकराः।”—तीर्थंकर देशकाल के अनुरूप धर्म—आचार का कथन करते हैं। अर्थात् व्यवहार धर्म एवं आचार की स्थापना करते हैं। देश और काल के अनुसार परिवर्तित होने वाला था तो व्यवहार धर्म होता है, बाह्याचार होता है, निश्चय एवं अन्तरंग धर्म नहीं।

भगवान् ऋषभदेव ने धार्मिक शासन-तंत्र के नियम भी निर्धारित किये। अचेल-नग्नता आदि के रूप में वे कठोर थे। उनके बाद की परम्परा में आने वाले द्वितीय तीर्थंकर श्री अजितनाथ ने सचेल-सवस्त्र आदि कोमल एवं व्यावहारिक विधान प्रस्तुत कर अपने युग में श्री ऋषभदेव द्वारा प्रचारित कठोर नियमों को अपदस्थ कर दिया। थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ धर्म-शासन का यह परिवर्तित रूप तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ तक चलता रहा। अब प्रश्न उठता है कि श्री अजितनाथ ने कठोर व्रतों को कोमल क्यों बनाया? स्पष्ट है कि एक समय की कठोर व्यवस्था भविष्य में सार्वजनिक रूप से अव्यावहारिक हो जाती है, अन्ततः वह दंभ का रूप ले लेती है। उसका मौलिक सही रूप रह नहीं पाता। लोक-प्रतिष्ठा के भय से बाह्यावरण बना रहता है, पर अन्तर में संत्रासजन्य स्थिति उत्पन्न हो जाती है। धर्म ढोंग एवं पाखण्ड में परिवर्तित हो जाता है। और यह पाखण्ड, धर्म एवं समाज की पवित्रता एवं प्रामाणिकता को ले डूबता है। अतएव समयानुसार धर्म एवं समाज के शासकों के समक्ष कुछ ऐसे विकट प्रश्न उभर उठते हैं, जिनके समाधान-हेतु परंपरागत नियमों में कुछ आवश्यक परिवर्तन करने पड़ते हैं। इसी समयोचित परिस्थिति को श्री अजितनाथ ने गंभीरता के साथ अनुभव किया एवं कठोर-चर्या को मृदु-चर्या में परिवर्तित करने का उचित निर्णय लिया। अगर, वे सामाजिक एवं धार्मिक मर्यादाओं के पूर्वगत पक्ष से मुक्त न हुए होते और आवश्यक निर्णय न लिए होते, तो धर्म-संघ की स्थिति क्या होती? यह इतिहास का एक ज्वलन्त प्रश्न बन गया होता। अतएव जीवन के हर क्षेत्र में युगानुकूल परिवर्तन आवश्यक होता है।

एक लम्बे कालखण्ड के गुजर जाने के पश्चात् भगवान् महावीर का युग आता है। कोमल नियम भी अन्ततः शिथिलाचार एवं भ्रष्टाचार का रूप ले लेते हैं। अतः भगवान् महावीर फिर अपरिग्रह के चरम आदर्श अचेल अर्थात् नग्नता आदि के कठोर पथ पर चल पड़ते हैं। यह परिवर्तन आवश्यक था, अपेक्षित था। अतएव उन्होंने यह परिवर्तन बिना किसी पुरातन आदि की उल्लंघन के सहज भाव से किया। इस परिवर्तन में पूर्व के तीर्थंकरों की अवज्ञा नहीं है। भगवान् पार्श्वनाथ या उनसे पहले के तीर्थंकरों का अपमान नहीं है। स्पष्ट है अपने समय में पूर्व परंपरा के तीर्थंकरों के निर्णय भी सही थे और अपने युग में भगवान् महावीर के भी। शाश्वत सत्य के साथ व्यवहार-पथ के कुछ सामयिक सत्य भी होते हैं। जो परिवर्तित समय में अपनी अर्थवत्ता एवं गुणवत्ता खो देते हैं। फलतः उनमें परिवर्तन करना



आवश्यक होता है इसी सामयिक उपयोगिता को ध्यान में रख कर विचार किया जाय, तो उपर्युक्त दोनों पक्ष अपने-अपने युग-सत्य पर उचित हैं। दोनों में परस्पर विरोध-जैसा कुछ नहीं है।

भगवान् महावीर के पश्चात् उनके ज्येष्ठ शिष्य प्रथम गणधर गौतम का युग आता है। और उसी शिष्य द्वारा भगवान् महावीर के कुछ निर्णयों में परिवर्तन एवं संशोधन किया जाता है। आगम साक्षी है इस बात का कि श्रावस्ती में पार्श्वसंघ के केशीकुमार श्रमण और अन्य समुदाय के परिव्राजकों एवं गृहस्थों के समक्ष गुरु गौतम स्पष्ट रूप से घोषणा करते हैं कि नग्नता आदि क्रियाकांड, धर्म के बाह्य रूप, युग पर आधारित हैं। यह धर्म का, साधना का मूल अंग नहीं है। उत्तराध्ययन सूत्र में आज भी—“लोगे लिंगप्पओयणं।” के रूप में उनका स्वर मुखरित है। वे देश-कालानुसार प्रज्ञा के आधार पर निर्णय ले लेते हैं। उक्त सन्दर्भ में उनका बोधसूत्र “पञ्चासमिक्खए धम्मं।” युग-युग का बोधसूत्र है। गौतम केवल समन्वय का विचार दे कर ही नहीं रह जाते हैं। स्वयं अपने जीवन में भी उसे साकार रूप देते हैं। अतएव आगे चलकर अनेक जगह वे स्वयं वस्त्रधारी स्थविरकल्पी मुनि के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। उपासकदशांग और विपाकसूत्र आदि उनकी उक्त स्थापना के परिवर्तित रूप के साक्षी हैं। गणधर गौतम का समय पर लिया गया यह निर्णय ही पार्श्व-संघ और महावीर-संघ को एक-धारा का रूप दे सका।

परिवर्तन का यह चक्र आगे भी उत्तरोत्तर चलता रहा, अधिक तो नहीं, पर कुछ उदाहरण उपस्थित किये देता हूँ—निशोध सूत्र के अनुसार भिक्षु के लिए लिखना वर्जित है। लगभग एक हजार वर्ष तक इसी कारण आगम-ग्रन्थ लिपिबद्ध नहीं हो सके। किन्तु, आचार्य देवद्विगणि ने आगमों की रक्षार्थ उन्हें लिपिबद्ध करने के लिए पुरातन मान्यताओं को अस्वीकार कर दिया। जैन इतिहास के अनुसार कलम पकड़ने वाले वे प्रथम जैन आचार्य हैं। ऐसा नहीं है कि देवद्विगणि का उस वक्त विरोध नहीं हुआ हो। आलोचना, प्रत्यालोचना के कण्टकाकीर्ण पथ से उन्हें अपने ध्येय स्थल तक पहुँचना पड़ा है। यह साधारण-सी बात है कि हर नयी बात का विरोध जनता करती है। सर्वसाधारण जनता का स्वभाव ही कुछ ऐसा है। परन्तु जनता को नेतृत्व देने वाले दिशानिर्देशक इस भय से कभी अपने कर्तव्य से विमुख नहीं हुए हैं अथवा चुपचाप नहीं बैठे हैं। वे निर्द्वन्द्व-भाव से गंतव्य की ओर चलते ही रहते हैं। यदि देवद्विगणि यह साहसपूर्ण निर्णय न लेते, तो प्रभु महावीर की वाणी का, आगम सिद्धान्त का, संभव है—एक अक्षर भी हमारे पास नहीं होता। जिस प्रकार उनके पूर्व का विशाल जैन वाङ्मय नष्ट हो गया। इतस्ततः भ्रष्ट हो गया, उसी तरह आज यह जो कुछ अवशेष प्राप्त हैं, वह भी नष्ट हो गया होता।

पात्र के संबंध में भी यही बात हुई। प्रथम अंगसूत्र, आचारांग में भिक्षु के लिए एक ही पात्र का विधान है और यह परम्परा काफी समय तक चलती रही। किन्तु बृहत्कल्प आदि भाष्य ग्रन्थों के अनुसार आचार्य आर्यरक्षित से पूर्व भिक्षु के लिए एक ही पात्र विहित था। आर्यरक्षित ने देश और काल की मान्यता को स्वीकार करते हुए दूसरे पात्र का भी विधान कर दिया। एक युग था जब भिक्षु केवल पाणिपात्र था, दूसरे युग में एक पात्र रखने का निर्णय निर्धारित किया गया। और, आर्यरक्षित का यह तीसरा युग था कि दूसरा पात्र भी रखने का निर्णय लिया गया। विरोध इसका भी कम नहीं हुआ होगा। परन्तु, आर्यरक्षित जैसे आचार्य समय की मांग को पहचानते हैं और तदनुसार परिवर्तन का निर्णय लेते हैं।

इस प्रकार और भी अनेक परिवर्तनों की गाथाएँ आगम तथा आगमोत्तर साहित्य में परिलक्षित होती हैं। एक बार का आहार तथा तीसरे प्रहर की भिक्षा के एवं रात्रि के तीसरे प्रहर में निद्रा आदि के विधान में परिवर्तन परिलक्षित होते हैं। यह-सब कुछ शिथिलचार नहीं है, समय की अपेक्षा है। एक समय तो लेखन ही वर्जित था, अब तो बड़े-बड़े धुरन्धर धर्माचार्यों के ग्रन्थों की हजारों प्रतियाँ धड़ाधड़ छप रही हैं। और इसमें बहुत से व्रत-नियमों का पारणा हो जाता है। निशोधसूत्र में गृहस्थ से पढ़ने का स्पष्ट निषेध है। अब तो काफी समय से वेतन-भोगी पण्डितों से पढ़ा भी जाता है। इसे तटस्थ दृष्टि से देखने वालों को साफ पता चल जायेगा कि समय की गति के साथ आगे बढ़ना ही श्रेयस्कर है। जो इस गति के अनुरूप समय पर निर्णय लेते हैं, वे वन्दनीय हैं। क्योंकि वे संघ एवं समाज को बिखरने से बचा लेते हैं।

एक समय जब आवश्यकता महसूस हुई, तो आचार्यों ने गृहस्थों के लिए मूर्तिपूजा का विधान निर्मित किया और जब अनावश्यक आडंबर बढ़ने लगा, तो उसका विरोध भी करना पड़ा। कहने का तात्पर्य यह है कि जब किसी

आग्रहमूलक धारणा में ही समग्र धन-जन-शक्ति केन्द्रित हो जाती है एवं जीवनस्पर्शी उदात्त आदर्श विवेक की आंख से ओझल हो जाते हैं, तो समय पर उनका परिष्कार करना नितान्त आवश्यक हो जाता है। उन सारी समस्याओं को समय के परिप्रेक्ष्य में ही देखना चाहिए और उचित निर्णय लिया जाना चाहिए। क्योंकि एक समय का अच्छा माना जाने वाला निर्णय परिवर्तित समय में पुनः परिष्कृत अथवा रूपान्तरित होते रहने की अपेक्षा रखता है।

जीवन का कोई भी क्षेत्र क्यों न हो—समय पर सब में परिवर्तन की आवश्यकता है। धार्मिक-क्षेत्र की ही तरह सामाजिक क्षेत्र भी परिवर्तन से अलिप्त नहीं रहा है। सुदूर अतीत में नारियों में परदा-जैसी कोई चीज नहीं थी। एक समय आया, जब कि उसकी आवश्यकता महसूस हुई और आज फिर वह समय आ गया है, जबकि लोग परदे को अनावश्यक समझने लगे हैं। इसी प्रकार दहेज, मृत-भोज, बाल-विवाह एवं विधवा-विवाह तथा स्त्री-शिक्षा आदि परम्पराएँ विधि से निषेध में और निषेध से विधि में परिवर्तित होती रहीं हैं। ये शास्वत नहीं, युग-धर्म के तत्त्व हैं, इन्हें परिवर्तन के चक्र में यथावसर रूपान्तरित होना ही पड़ता है।

धार्मिक-क्षेत्र में गुरु हो अथवा आचार्य तथा सामाजिक क्षेत्र में कोई नेता या हो मुखिया, उन्हें संघ एवं समाज के वर्तमान तथा भविष्य की अपेक्षाओं का सतत पर्यवेक्षण करते रहना चाहिए। उन्हें निरन्तर उचित-अनुचित का विचार करते रहना चाहिए। उन्हें निरन्तर देखना है कि क्या आवश्यक है, क्या अनावश्यक है। जो ठीक है, उसका संरक्षण करना है। और, जो ठीक नहीं है, उसे साहस के साथ काट कर साफ कर देना है। उसके स्थान में यदि कोई अन्य उचित निर्णय अपेक्षित है, तो उसका विचार करना है। जनता के मानस में तो कोई एक परिभाषा निश्चित नहीं है। लोग क्या कहते हैं, यह नहीं देखना है। देखना है सत्य एवं हित क्या है। योग्य डाक्टर या वैद्य, यह नहीं देखता है कि रोगी क्या कहता है, वह क्या खाना-पीना चाहता है। वह तो रोग और उसके प्रतीकार को लक्ष्य में रख कर कड़वी या मीठी जैसी भी औषध हो, सुस्वादु या दुःस्वादु जैसा भी खान-पान हो, विधान कर देता है। चिकित्सक रोगी का अनुयायी बना कि सर्वनाश।

नेतृ-वृन्दों को समयोचित निर्णय लेने में किसी भी प्रकार की झिझक को मन में स्थान नहीं देना चाहिए। स्थान, कारण एवं पात्र विशेष के अनुसार अगर कोई अन्य निर्णय भी अपेक्षित है, तो उस पर भी आचार्य अथवा गुरु को गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए, ताकि स्वलन की संभावना उत्पन्न न हो। ऐसे समय में लोकापवादों की परवाह नहीं करनी चाहिए।

गुरु का कार्य साधारण नहीं है। वह “तमसोमा ज्योतिर्गमय” का प्रतिष्ठाता है। अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाला महानायक है। समस्या उपस्थित होने पर वह अगर साधारण शिष्य की भांति चिन्तामग्न हो गया, तब तो स्थिति कभी नहीं सुधरेगी। वह पथप्रदर्शक है, अतएव उसे सिर्फ लोक-मंगल को ध्यान में रखना चाहिए। और अपनी प्रज्ञा से समय पर सही निर्णय लेना चाहिए। उसके सामने सर्वसाधारण की इच्छा महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण है सर्वसाधारण की भलाई, उसका मंगल। और यह गुस्तरकार्य गुरु ही कर सकता है।

लोक-मूढ़ता भी अपने में एक बहुत बड़ी मूर्खता है। भगवान् महावीर के दर्शन में यह भी मिथ्यादृष्टि का ही एक रूप है। अनेक लोक-परम्पराएँ ऐसी हैं, जिनका विवेक से कोई संबंध नहीं है। पर, मूढ़ व्यक्ति उन्हें पकड़े ही रहता है। अतएव सम्यग्दृष्टि के लिए ऐसी लोक-मूढ़ता का परित्याग आवश्यक है। अधिकतर लोक-मानस गतानुगतिक होता है, पारमार्थिक नहीं होता। हर बात के लिए वह यही कहता है कि यह तो पूर्व से चली आ रही परम्परा है। इसीलिए एक मनीषी ने कहा है—“गतानुगतिको लोकः, न लोकः पारमार्थिकः।” यह सिंह चाल नहीं, भेड़ चाल है। यह प्रति-स्रोतगामिता नहीं, अनुस्रोतगामिता है। वेगवान् प्रवाह के प्रतिकूल तैरना प्रति-स्रोतगामी सिंहों का काम है, अनुस्रोतगामी भेड़ों का नहीं।

बहुधा यह देखा जाता है कि अनेक धर्माचार्य तथा समाज नेता सत्यासत्य के निर्णय-त्रिन्दु पर आ कर भी उसे उद्धोषित एवं क्रियान्वित करने में हिचकते रहते हैं। जिसके कारण आवश्यक शुभकार्य बिलम्ब से संपादित हो पाते हैं। कभी-कभी वे वात्याचक्र में ही उलझ कर रह जाते हैं, जिसका परिणाम शुभ की जगह अशुभ होने लगता है। मेरा कहना है कि अगर शुभ है, तो उसे शीघ्र क्रियान्वित करना चाहिए। ‘शुभस्य शीघ्रम्’—कोई गलत

वात नहीं है। देर करने से शुभ का रस समाप्त हो जाता है। 'कालः पिवति तद्-रसम्।' लोग कहते हैं—देर है अंधेर नहीं। पर, मैं कहता हूँ देर स्वयं ही अंधेर है। जो भी करना है उसे समय पर कर लेना ही उत्तम विचार का फल है। जो भी करना है, समय पर कर लेना चाहिए, तारिखें डालते रहना, व्यर्थ ही केस लम्बा करते जाना, कोई अच्छी बात नहीं है। 'तुरंत दान महाफल' का सिद्धान्त ही ठीक है। आज की अदालतें फैसला देने में देरी करने के कारण मजाक बन गई हैं।

साधना की अन्य पीठिकाओं के संबंध में भी यही बात है। इतिहास के प्राचीन पृष्ठों पर आचार परिवर्तन की अनेक कथाएँ अंकित हैं। इसे मैं आचार-क्रान्ति का नाम देता हूँ। किन्तु, आज आचार परिवर्तन के संबंध में क्रान्ति की संभावना नहीं है। मैं आचार परिवर्तन के संबंध में कुछ भी नहीं सोचता हूँ। मैं सोचता हूँ, परम्परागत धार्मिक आचार और विधि-विधान के संबंध में आज के युग का व्यक्ति स्वयं की अपनी रुचि के अतिरिक्त बाहर के किसी दयाव से कुछ भी स्वीकार या अस्वीकार करने की मनःस्थिति में नहीं है। वस्तुतः धर्म और धार्मिक आचार साधक के अन्तर् से उद्भूत होने वाला आध्यात्मिक भाव है, वह बाहर से आरोपित नहीं है। उसे आरोपित होना भी नहीं चाहिए। उसमें पूर्णतः स्वात्मरुचि और योग्यता की स्वतंत्रता होनी चाहिए। आरोपित संयम, सम्यक्-संयम नहीं हो सकता। आरोपित धर्म, सही अर्थ में धर्म नहीं हो सकता। आरोपित धर्म, जो कभी-कभी अधर्म से भी अधिक भयानक हो जाता है। इस दृष्टि से ही तीर्थंकरों का धर्म, साधक के स्वयं चलने का धर्म है, बलात् धकेलने का धर्म नहीं है।

यही बात सत्यासत्य के विचार-क्षेत्र में भी है। सत्य के लिए भी आवश्यक है कि मान्यताओं के आग्रह कम हों, कम क्या, हो ही नहीं। जो मान्यताएँ महाकाल के प्रवाह में धिस गयी हैं, अपना मूल्य खो चुकी हैं—उनके दुराग्रह क्षीण होने चाहिए। भगवान् महावीर का अनेकान्तवाद विचारों के एकान्त जड़ आग्रह को शिथिल करने का ही वाद है। अनेकान्त की जितनी स्पष्ट और मूलग्राही व्याख्या होती जा रही है, उतना ही मनुष्य अधिक सभ्य एवं सुसंस्कृत बनता जा रहा है। पिछले कुछ वर्षों में साम्प्रदायिक संकीर्णताओं एवं मान्यताओं की अहम्मन्यताएँ मनुष्य को उन्मादग्रस्त कर रही थीं, पर आज वैसी स्थिति नहीं रही है। आज भिन्न सम्प्रदायों के लोग एक साथ मिल कर कुछ सोच सकते हैं, साथ-साथ रह सकते हैं। हर क्षेत्र में सहिष्णुता का विकास हुआ है। और उक्त सहिष्णुता का जन्म विचारों के शिथिलीकरण, लचकीलेपन एवं उदात्ता के कारण ही संभव हो सका है। यह शिथिलीकरण अनेकान्त से भिन्न और कुछ भी नहीं है। अनेकान्तवाद किसी भी विचार-धारा के एक-पक्षीय आग्रह-वृत्ति का निषेध करता है और उसके अनेक-पक्षी विचारों को स्वतंत्र दृष्टि से देखने का मार्ग बताता है।

एक युग था, जब धार्मिक मान्यताओं एवं धारणाओं को विश्वास और परम्परा के नाम पर स्वीकार किया जाता था। किन्तु, वे आज तर्कसम्मत आलोचना के द्वार पर खड़ी हैं। आज हर मान्यता की मात्र ऐतिहासिक ही नहीं, सामाजिक मीमांसा भी होती है। उसे तर्क एवं विज्ञान की कसौटी पर कस कर देखा जाता है। अध्ययन और चिन्तन की दृष्टि का यह पैनापन सर्वत्र व्याप्त हो चुका है। इसे युगीन संदर्भों और तात्कालिक मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में देखा जाता है। परन्तु, जो सत्य है, वह विभिन्न आयामों में अपनी अस्मिता का अन्वेषण करता है। और यही कारण है कि सत्य सर्वदा भय रहित होता है। जहाँ भय है, वहाँ सत्य कदापि अपना स्थान प्राप्त नहीं कर सकता। सत्य की विमुक्त दृष्टि आलोचना-प्रत्यालोचना की परवाह नहीं करती। क्योंकि वह एक सार्वजनीन शक्ति है, उसे विश्व की कोई भी शक्ति चुनौती नहीं दे सकती। वस्तुतः देखा जाय, तो सत्य इन मार्गों से गुजर कर अपने स्वरूप को नित्य-निरन्तर उदात्त एवं विराट बनाता है। किन्तु देश-काल की परिधि में आवद्ध जो सामयिक सत्य होते हैं, उन्हें सनातन सत्य मान लेने की भ्रान्ति ही उसे आलोचना का शिकार बनाती है। और उससे उत्पन्न होने वाली परिस्थितियाँ कट्ट मंतव्यों को उजागर करती हैं। इन्ही परिस्थितियों में तथाकथित धार्मिक और परम्परा-वादी लोग व्यग्र हो उठते हैं और उनमें जड़ता छा जाती है। सत्य यदि वस्तुतः सत्य है, तो उसे भय कैसा? "सत्ये नास्ति भयं क्वचित्।"

विचार चर्चा, शास्त्रचर्चा और स्वाध्याय के बिना धर्म-शास्त्र, अध्यात्म एवं परम्परा को समझना नितान्त असम्भव है। हम अतीत में क्या थे। और अब क्या हो गये हैं? इसे समझे एवं जाने बिना यह सब स्पष्ट नहीं हो सकता और सामाजिक प्रबुद्धता जागृत नहीं हो सकती। भरे कहने का तात्पर्य यह है कि हमारा सामाजिक दृष्टि-

देशकालानुरूपं धर्मं कथयन्ति तीर्थंकराः

कोण चिन्तन प्रधान हो। उसकी वैचारिक अर्थवत्ता जीवन के नित्य नूतन नये आयामों का अन्वेषण करे।

युगीन संदर्भों में जीवन के मान-मूल्यों का अन्वेषण अगर इस दृष्टि से होता रहा, तो हमारी सांस्कृतिक-परम्परा और श्रमण-परम्परा की उदार मनोवृत्तियाँ कभी भी समाप्त नहीं हो पायेगी। विश्व वाङ्मय के विशाल वृक्ष पर श्रमण-संस्कृति का महान् उद्घोष अगर अक्षुण्ण रह पाया है, तो इसका मूल कारण यही है कि इसने सत्य को स्वीकारने में कभी भी मिथ्यात्व का सहारा नहीं लिया। नानाविध झंझावातों को अनवरत झेलते रहने के बावजूद, अगर जैन-धर्म आज भी अपनी अस्मिता को पवित्रता की समस्त ऊँचाईयों के साथ जीवित रख सका है, तो उसका एक मात्र कारण यही है कि इसने जीवन के हर पहलू को समकालीन दृष्टि चेतना से समन्वित हो कर देखा एवं परखा है। आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव से लेकर आज तक की श्रमण-संस्कृति की जो प्रवहमान धारा है, वह सत्य के विशाल एवं उन्मुक्त दृष्टि को आत्मसात् करने के कारण ही नैरन्तर्य स्थापित किये हुए है। विश्व-मानव की चेतना का यह जो महाउद्घोष श्रमण-संस्कृति की सुदीर्घ परम्परा में सुनाई पड़ता है, उसकी पीठिका पर ऐसा नहीं है कि उसे बहुविध आलोचनाओं का शिकार न होना पड़ा हो, परन्तु बावजूद इसके वह आज भी कलकल निनादिनी सरिता की तरह प्रवहमान है। हिमगिरि के उत्तुंग शिखर की तरह अडिग-अविचल रूप से अवस्थित है। श्रमण-संस्कृति की यह भाव-धारा मानवीय मूल्यों को जीवन की गति के नये आयाम देती है। ज्ञान की समस्त ऊँचाईयों से भारतीय मनीषा को समृद्ध करती है। चिन्तन के विशाल एवं सुदीर्घ पृष्ठों पर भगवान् ऋषभदेव से लेकर तीर्थंकर महावीर तक की जो अविराम धर्म-यात्रा की कथा है, वह सृजनात्मक तत्त्वों का पोषण करती है और विकास के अनेक कालातीत अध्यायों को जोड़ती है।

में प्रारम्भ में कह आया हूँ कि आदिम मानव की मनोवृत्तियाँ कितनी सहज एवं अज्ञान-जन्य थीं। उसे श्रमशक्ति से परिचय भगवान् ऋषभदेव ने किस प्रकार कराया था। तब से लेकर आज तक की वह श्रमण-यात्रा सिर्फ भारतवर्ष की ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण वसुधा को एक मधुर आह्लाद से परिपूरित करती रही है एवं मनुष्य को विकसित करने से वचाती रही है। भगवान् ऋषभदेव से लेकर आज तक के हुए तमाम परिवर्तनों में श्रमण-संघ ने कहीं से अपनी पवित्र भावनाओं को खोया नहीं है, बल्कि प्राप्त करने की उदात्त अभिलाषा ही इसके मन्तव्यों एवं परिवर्तनों में मूल कारण रही है। हम इन तमाम परिवर्तनों में कहीं से भी स्वलन की संभावनाओं को नहीं देखते हैं, बल्कि उसके समकालीन संदर्भों में आने वाले औचित्य पर विचार करते हैं। समयोचित परिवर्तन विकास के मार्ग में कहीं भी बाधक नहीं है, धर्म एवं संस्कृति के मार्ग में अवरोधक नहीं है, बल्कि वह एक अकाट्य आवश्यकता है—चिन्तन की प्रखर दीप्ति है।

अगर हम इसे और भी विकसित दृष्टि से देखने का प्रयास करें, तो हमें साफ दिखाई देगा कि इन्हीं समयोचित परिवर्तनों के कारण श्रमण-संस्कृति का तपस्तेज आज भी अक्षुण्ण है। धर्म एवं संस्कृति के क्षेत्र में समस्त बाधाओं का सामना करते हुए भी वह गतिमान है।

भविष्य में जब भी संततियाँ मानवीय मूल्यों पर विकसित विचार करेंगी, तब उनके समक्ष जैन-धर्म की विराट गाथा उन्हें दिशा एवं गति निर्धारित करने में समयोचित सहायता देगी। चिन्तन की यह एक जीवन्त प्रक्रिया है। जिस पर विचारकों ने गहरी आत्मीयता से विचार किया है और मनुष्य को विचारवान बनाया है। भगवान् महावीर की अनेकन्तवादी दृष्टि एवं दार्शनिक चेतना यही तो अपनी व्यावहारिक अर्थवत्ता प्राप्त करती है और अबन से अम्बर तक अपनी धर्म-ध्वजा फहराती है। यही वह चिन्तन-प्रक्रिया है, जिसके कारण भारतवर्ष का स्थान अनन्य है। और, वह विश्व में समादृत है। वस्तुतः श्रमण-संस्कृति कलुष के तमाम कगारों को ऋजु संकल्पों के आप्लावन के द्वारा तोड़ती है और अनेक को एक एक को अनेक से जोड़ती है।

समयानुसार सभी धर्माचार्य समयोचित परिवर्तन की आवश्यकता पर बल देते आये हैं। और शायद यही कारण है कि विकास की गत्यात्मकता कहीं से भी अवरुद्ध नहीं हुई है।

अविद्या के त्रि-आयामी दोषों से मुक्त होने के लिए ही वस्तुतः जैन-आचार्यों ने समयोचित परिवर्तन को स्वीकार

किया है। क्योंकि जैन-दर्शन में अविद्या केवल ज्ञानगत मिथ्यात्व नहीं है, अपितु दर्शनगत और चरित्रगत मिथ्यात्व भी है। अतएव इन दोषों का परिष्कार करने के लिए, मिथ्यात्व दृष्टि से मुक्त होने के लिए, आत्मा की निर्मलता पर आच्छादित कर्म से स्वतंत्र हो कर स्वरूप में अवस्थित होने के लिए एवं विकास की नवीन उपलब्धियों को प्राप्त करने के लिए, समयोचित परिवर्तन परमावश्यक है।

यह किसी सम्प्रदाय-विशेष की दृष्टि नहीं है, बल्कि तीर्थंकर-परम्परा की वह समन्वयात्मक अखण्ड दृष्टि है, जिससे भारतीय-संस्कृति की ऋजुता समृद्ध हुई है। वर्तमान धर्माचार्यों एवं समाज-शास्त्रियों से यह मेरा अनुरोध है कि वे इस व्यापक भारतीय असांख्यिक दार्शनिक दृष्टिकोण पर तटस्थ दृष्टि से विचार करेंगे, जिससे अज्ञान का तिरोधान होगा एवं सम्यक्-साधना के अभ्यास द्वारा भारतीय मनीषा के साधक अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल होंगे।



**जन-सेवा : भगवत् पूजा है**

धन दौलत पाकर भी सेवा,  
अगर किसी की कर न सका ।  
बधा भाव ला दुःखित दिल के-  
जख्मों को जो भर न सका ॥  
वह नर अपने जीवन में,  
मुख-शान्ति कहां से पाएगा ?  
ठुकराता है, जो औरों को,  
स्वयं ठोकरें खाएगा ॥



यह शस्यश्यामल वसुन्धरा जिसे पा कर कृतार्थ हुई थी, जिसकी आभासे वैशाली का राजमहल जगमगा उठा था, अमरावती को भी मात करने वाले ऐश्वर्य के बीच जिस राजकुमार का लालन-पालन हुआ था, वही राजकुमार वर्धमान सत्य की खोज में समस्त सुख-साधनों का परित्याग कर एक दिन निकल पड़े। राजकुमार को गृह-त्याग कर सत्य के अन्वेषणार्थ जाते देख लोग मूर्तिवत् स्तब्ध हो कर खड़े रह गये थे, वैशाली की सारी जनता शोकाकुल हो गयी थी। अन्ततः करुणामूर्ति राजकुमार वर्धमान साधना के कठोर मार्ग पर चल पड़े।

दीर्घ अवधि तक अनवरत साधना करने के पश्चात् उन्होंने आत्म-स्वरूप का सम्यक् दर्शन किया और उनकी दिव्य ज्ञान-ज्योति से दिग्-दिगन्त प्रकाशमान हो उठा। अन्ततः ज्ञानकी उपलब्धि के उपरान्त भगवान् ने दुःख से पीड़ित विश्व के विशाल प्राणि-समुदाय को देखा और करुणा से भर उठे। हाहाकार करते दिग्भ्रमित मानवों के समूह ने भगवान् की दिव्य करुणामूर्ति का दर्शन किया और परिव्राण के लिए प्रभु के श्रीचरणों में नत हो गये। भगवान् ने देखा, सारा विश्व राग-द्वेष की अग्नि में झुलस रहा है। पथ-निर्देशन के अभाव में प्राणियों का समूह क्षोभ और पीड़ा से जर्जर एवं क्लान्त हो उठा है। चारों ओर पाखण्ड का अन्ध साम्राज्य फैलता जा रहा है। शान्ति कहीं नहीं दिखाई देती। इन भीषण परिस्थितियों को देख कर भगवान् ने प्राणिमात्र को क्लेश-मुक्त करने का दृढ़ संकल्प किया।

श्रमण महावीर किसी जाति, कुल, देश धर्म एवं पंथ के प्रति प्रतिबद्ध नहीं थे। उन्होंने समस्त प्राणिजगत् को आत्मवत् अपनाया था। प्राणि-जगत् के अन्तर्जीवन में दिव्य ज्योति की रश्मियों को देख कर उन्होंने कहा—“सर्व आत्माएँ अपने चिद्रूप-स्वरूप एवं स्वभाव से समान हैं। इसलिए सबको अपने समान समझो। किसी को पीड़ा मत दो। विश्व के सभी प्राणी सुख एवं शान्ति चाहते हैं। दुःख एवं अशान्ति की कामना कोई नहीं करता।”

तत्त्वग्राहिणी दृष्टि के संवाहक पुरुष भगवान् महावीर ने इसीलिए मानव-मुक्ति के सिद्धान्तों में किसी भी एकांगी विचार-धारा को प्रश्रय नहीं दिया। असत् का परिहार और सत् का स्वीकार ही उनका एकमात्र जीवन-लक्ष्य था। यही बात है कि उन्होंने किसी मत, धर्म तथा संप्रदाय के प्रवर्तक और उसके मूल जन-मंगल के सिद्धान्तों की आलोचना नहीं की; क्योंकि उन्होंने एक में अनेक और अनेक में एक का साक्षात्कार किया था। उनकी सर्वव्यापिनी दृष्टि में विश्व का समग्र चैतन्य एक था। इसीलिए आत्म-चेतना के ऐक्यभाव को उद्घोषित करते हुए उन्होंने कहा—“एगो आया” अर्थात् विश्व की आत्माएँ एक हैं। अतः जो सुख तुम्हें प्रिय है, वह सबको प्रिय है और जो दुःख तुम्हें अप्रिय है, वह सबको अप्रिय है।”

भगवान् महावीर भावनात्मक अभेद के विकास को ही अध्ययन, मनन, चिन्तन का लक्ष्य मानते थे। उनके अनुसार, मानव-जीवन के परम लक्ष्य विश्व-कल्याण की साधना अभेद स्थापना द्वारा ही संभव थी। उनके समन्वय-दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता थी—“समन्वय स्थापना की प्रक्रिया में सभी पक्षों के ‘स्व’ की रक्षा।” समन्वय को स्थायित्व प्रदान करने के लिए यह एक अनिवार्य शर्त है। ऐसे सर्वभूत हितरत महापुरुष के पास पहुँच कर धर्म, संप्रदाय, जाति, देशकाल और भाषा की मानव निर्मित सारी कृत्रिम सीमाएँ ध्वस्त हो जाती हैं। तपःपूत जीवन तथा उपलब्धियों की विश्वसनीयता अक्षुण्ण रखने के लिए श्रमण-संस्कृति के विशाल चित्रपट पर उनके लीला-विहार की शौर्य गाथा मानव-कल्याण के मार्ग में आने वाली सारी भेद-बाधाओं का परिष्कार करती है और जीवन की दिव्य उपलब्धियों की ओर अग्रसर होते रहने का मंगलमय संदेश देती हैं।

एक शिष्य की पाप-मुक्ति की जिज्ञासा का समाधान करते हुए भगवान् ने कहा था—जिसके विचार और व्यवहार में सभी प्राणी आत्मवत् हैं, निजस्वरूप हैं, जो सबको समान भाव से देखता है, वह पाप-कर्म से मुक्त रहता है—“सव्व भूयप्प भूयस्स, सम्मं भूयाइं पस्सओ. . . . . पाव कम्मं न बन्धई।”

ऐसे थे धर्म के अनुशास्ता भगवान् महावीर। उनका जन्म ग्रहण इसी आत्मवत् दर्शन की करुणा-द्रवित अनेकान्त चिन्तना को व्यावहारिक रूप देने के लिए हुआ था।

धर्म के नाम पर जहाँ एक ओर एक-दूसरे के मत, सिद्धान्त और चिन्तन को काटने का क्रम विद्वेष की सीमाओं

का अतिक्रमण कर गया था, वहीं दूसरी ओर यज्ञादि कर्म-काण्डों में निरीह पशुओं की बलि दी जा रही थी और तत्कालीन विवेकहीन पौरोहित्यवाद की रूढ़िवादी विचाराधारा इस नृशंस कृत्य को जायज करार दे रही थी। इस अवस्था पर विचार करने के पश्चात् भगवान् महावीर के जन्म और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य की ओर जब हम दृष्टिपात करते हैं, तो अनायास ही श्रमण-संस्कृति के प्रवक्ता-पुरुष महावीर अवतार पद-वाच्य सारे महापुरुषों में अन्यतम लगने लगते हैं।

अनेकान्तवादी चिन्तन को व्यावहारिक रूप देने का कार्य भगवान् महावीर ने इसीलिए किया था कि मतभेदों के संघर्षों में समन्वय का सत्य एक है। उन्होंने देखा कि यात्रा के प्रस्थान-बिन्दु एक ही हैं। कोई भी मार्ग हेतु नहीं है, यदि विवेकमूलक प्रामाणिकता के साथ स्व-पर-हित में उन्हें उतारा जाए। दिव्य जीवन को प्राप्त करने के लिए इस प्रकार का वर्ण-संघर्षवादी विवाद महत्त्वहीन है। क्योंकि अभेद पर आधारित आत्म-स्वरूप की दृष्टि में भेद-वृद्धि का अंकुरित होते रहना विकार का कारण है। इसीलिए उन्होंने धर्मसंघ को अनन्त धर्मात्मिक सत्य के सभी पहलुओं की तत्त्व-जिज्ञासा के प्रति सहिष्णु और विनयावनत हो कर निरंतर साधना-पथ पर अग्रसर होते रहने का आदेश दिया। सर्वभूत-हितैरत भगवान् महावीर ने जब निरीह पशुओं का बलिदान धर्म के नाम पर होते देखा तो, वे करुणाद्रो हो उठे। उन्होंने स्पष्ट देखा कि अगर हिंसा का यह क्रम चलता रहा, तो पृथ्वी पर जीवों के पारस्परिक स्नेह-सिक्त मैत्री सम्बन्ध समाप्त हो जायेंगे। सृष्टि के लीलाचक्र से दैवीय गुणों के समाप्त होते ही विकास के सारे मार्ग अवरुद्ध हो जायेंगे। अतएव उन्होंने प्राणिमात्र के प्रति निजभाव रखने का उपदेश दिया और अहिंसा को ही सबसे बड़ा धर्म बताया।

विकास की इस सर्व-मंगल यात्रा पर अग्रसर होने के इच्छुक साधकों को भगवान् महावीर ने इसीलिए सबके प्रति विनम्र, उदार एवं सहयोगी रहने का संदेश प्रसारित किया और इसीलिए उन्होंने अहिंसा के विधि-पक्ष सेवा-भावना को प्रमुखता दी। क्योंकि सेवाभावी मन ही विनम्र, उदार और परस्परोपग्रही हो सकता है। सेवा का उदात्त संकल्प ही मनुष्य की मानवता को प्रांजल स्वरूप प्रदान करता है, चिन्तन में सर्वभूतहित का व्यापक भाव सेवा-भावना से ही उत्पन्न होता है।

चिन्तन के इसी बिन्दु पर जीवन की बहु-आयामी ऋजुता-गंगा के निर्मल जल में पूर्णमा के चाँद की तरह झलक उठती है। सेवाव्रती मन कलमष रहित होता है और कलमष रहित मन में ही सम्यक्-ज्ञान का निर्मल प्रकाश फैलता है।

आमतौर पर सामान्य जन पूजा, उपासना अथवा भक्ति-प्रधान क्रिया-काण्ड को ही धर्म समझते हैं। किसी एक भगवत्स्वरूप महान् व्यक्ति विशेष के श्रीचरणों में श्रद्धांजलि अर्पण करने में ही उनके धर्म और कर्म की इतिश्री है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। यह तो प्रारम्भिक क्रिया है। वृद्धि-शुद्धि और चित्त-शुद्धि का एक बहुत ही लघु साधन है। सद्धर्म के विराट् स्वरूप को समझने की दिशा में उन्मुख होने की यह पहली सीढ़ी तो है, पर यही सब-कुछ नहीं है। इस संदर्भ में गणधर इन्द्रभक्ति गौतम और भगवान् महावीर के मध्य एक बड़ा ही सुन्दर सत्यबोधक धर्म-संवाद हुआ था। विश्वात्मा की विश्व-चेतना के उदात्त स्वरूप के बारे में प्रश्न करते हुए गणधर गौतम ने पूछा—“भन्ते! एक व्यक्ति आपके श्रीचरणों में विनयावनत है। आपकी पूजा, अर्चना, भक्ति और सेवा में ही अपना कल्याण समझता है। और दूसरा व्यक्ति आपका भक्त तो है, पर दीन-दुःखी, निर्बल, प्रताड़ित व्यक्तियों की सेवा-शुश्रूषा में उसका अधिक समय गुजरता है, आपकी भक्ति-पूजा के लिए समय नहीं निकाल पाता। इन दोनों में कौन धन्य है, कौन श्रेष्ठ है? आपकी शुभाशंसा इन दोनों में किसे अधिक मिलती है?”

अन्तेवासी गौतम की जिज्ञासा का समाधान करते हुए श्रमण महावीर ने पूजा के सत्य का रहस्योद्घाटन करते हुए कहा—“गौतम! मेरी पूजा, अर्चना की अपेक्षा जो दीन, दुःखी, निर्बल, रोगी और असहाय जनों की सेवा करता है, वह अधिक महान् है। उसका जीवन धन्य है। वही भक्त भक्ति के क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ है गौतम—“गोयमा! जे गिलाणं पडियरइ से धन्ने।”

अनन्त करुणामूर्ति भगवान् महावीर का यह संदेश सूचित करता है कि सेवा ही मानव जीवन का उच्चतम

विशिष्ट धर्म है। सेवा मानवता का प्राण है। किसी भी पीड़ित को कराहते देखना, किन्तु उसके लिए कुछ भी उचित व्यवस्था न करना, मानवता नहीं, पशुता है। हर प्राणी की पीड़ा में मनुष्य सहभागी बने, उसके क्लेश-ताप को दूर करने का अनवरत प्रयास करे, यही मानव जीवन की सार्थकता है। पशु और मानव का, जड़ और चेतन का फर्क इसी बिन्दु पर समझ में आता है। पशु अज्ञान और असहाय स्थिति में है, अतः वह किसी की पीड़ा का सहभागी नहीं हो सकता। और तो क्या, वह अपनी पीड़ा को भी ठीक अभिव्यक्ति नहीं दे सकता। उसके पास सुख या दुःख की प्राप्त स्थितियों को अभिव्यक्त करने वाली स्पष्ट भाषा नहीं है, उसके पास विचार नाम की कोई स्पष्ट चेतना नहीं है। कुछ अपवादों को छोड़ कर प्रायः पशुजगत् स्व-पर हित-साधन में असमर्थ ही है। पर, मनुष्य के पास यह सब-कुछ है। वह स्व और पर दोनों दिशाओं में हित-साधन के सफल प्रयास कर सकता है। इसीलिए मनुष्य को सृष्टि की महत्तम उपलब्धि माना गया है।

मनुष्य यदि यथार्थ में मनुष्य है तो किसी को कष्ट में देख कर मौन नहीं रह सकता। किसी को भी विपद में देख अनुकम्पा से उसका हृदय हिल उठता है। उसके मन-प्राण स्पन्दित हो उठते हैं। वह दुःखी प्राणी के दुःख निवारण का उपाय सोचता है। और उसके लिए तत्काल करणीय कर्तव्य करता है। ऐसा नहीं करने वाले मनुष्य को भारतीय-चिन्तन मनुष्य नहीं, पशु कहता है। क्योंकि पशु ही किसी की पीड़ा को देख कर मूक रह सकता है। समय पर कुछ कर नहीं पाता है। उस बेचारे की प्राकृतिक स्थिति ही ऐसी है। अतः पर-दुःख-कातर हो कर प्राणी मात्र की सेवा में जुट जाना ही मानवीय विकास की शृंखला-वद्ध प्रक्रिया है। सारे ज्ञान-विज्ञान और आचार-संहिताओं की आधार-शिला यही है। यहीं से मानव-चैतन्य भावना के ऋजू शिखरों पर आरोहण करता है और इस क्रम में जिन सहजानन्द प्रधान अनुभूतियों का चित्त को स्पर्श होता है, उन्हें हम कविता की भाषा में महाकाव्यों की सर्ग-वद्ध रसानुभूति का नाम दे सकते हैं।

देह के स्थूल आवरण में अनन्त चैतन्य का सूक्ष्म अनन्त दिव्य रूप छिपा हुआ है। अपेक्षा है, उस दिव्यता को लोकहित में प्रकट करने की। मनुष्य चाहे, तो क्या नहीं कर सकता है? मूल में मानव असीम शक्ति-पुंज का मालिक है। उसे विवेक-ज्ञान के प्रकाश में अपनी शक्ति को अशुभ से शुभ की ओर मोड़ देना चाहिए। इस मोड़ में ही वह अहिंसा, करुणा, समता और सत्य से अपनी शक्ति का परिष्कार कर सकता है। साधना एवं सेवा की राह से वह अपने गन्तव्य तक जब समर्पित भावना से आगे बढ़ता है, तब उसकी ऊर्जा का विकास होता है। जीवन की उष्मा में गत्यात्मकता आती है और इस केन्द्र-बिन्दु पर वह धर्मप्राण साधक होता है। उसके सेवारूपी तप से प्राणी मात्र सुख का अनुभव करते हैं और वह स्वयं अन्तर् में दिव्य ज्योति से उदीप्त होता है।

सारे तपों में सेवा को महान् तप माना गया है। इसमें महान् सत्साहस के साथ अपने स्वार्थों का विलय और वैयक्तिक सुखों का त्याग करना पड़ता है। इस अवस्था में पहुँचने पर साधक का बचा-खुचा वैयक्तिक स्वार्थ-निष्ठ अहं अपने आप ही तप अग्नि में भस्मीभूत हो जाता है। सेवारूपी तप से अज्ञेय ज्ञेय हो जाता है। यहाँ इच्छा का बलात् निरोध करना नहीं पड़ता। इच्छाएँ स्वयं अपने महत्तम स्व में विलीन हो जाती हैं। स्रोत एक, प्रवाह अनेक के रूप में है—सेवा मन, वाणी और कर्म में प्रवाहित होने वाली परम पावन त्रिपथगा भाव-गंगा है। सुख प्रदानरूप प्रवृत्ति होने से सेवा पुण्याश्रव है। वैयक्तिक सुखाभिलाषा का निरोध होने से अमुक अंश में आश्रव निरोधरूप संवर भी है। भाव-विशुद्धि की आत्म-परिणति होने से पूर्ववद्ध अशुभ कर्मों की निर्जरा होती है—“तपसा निज्जरिज्जइ।” निर्जरा आत्म-विशुद्धि की साधना है। वह आंशिक रूप से बन्ध-मुक्ति की प्रक्रिया में स्वयं मुक्ति-स्वरूपा है।

सेवा तप है उसमें अपनी इच्छाओं का संयम, स्वार्थ का विलय, वैयक्तिक सुखवृत्ति का परित्याग एवं अहं का विसर्जन करना होता है। इस अर्थ में तपः साधना की दिशा में सेवा कोई सामान्य उपक्रम नहीं, एक महान् उपक्रम है। सेवा, तप की शृंखला में कौन-सा तप है? आगम की भाषा में यह वैयावृत्य तप है। जैन-दर्शन में तप के दो प्रकार हैं, बहिरंग और अन्तरंग—बाह्य और आभ्यन्तर। सेवा बाह्य तप नहीं, अन्तरंग तप है। और, अन्तरंग तप उपवासादि बाह्य तप की अपेक्षा अनन्त गुण विशिष्ट है।

भगवान् महावीर ने कहा था—सेवा का यह उदात्त भाव सर्वोत्तम विश्वमंगल तीर्थकर नाम कर्म की पुण्य

प्रकृति का हेतु है—“वेयावच्चेणं तित्थयर-नामगोत्तं कम्मं निबन्धइ ।” यही कारण है कि तीर्थकर-संघ के साधकों की उत्तम चर्या की चिन्तन-प्रक्रिया सेवा के मार्ग से ही गतिमान् रही है। इसीलिए साधक शिष्य जब प्रातः गुरुचरणों में प्रत्याख्यान एवं तपश्चरण लेने को उपस्थित होता है, तब गुरुदेव संघ के रोगियों की सेवा का ही सर्वप्रथम आदेश देते हैं। संघ में यदि कोई रोगी हो, अस्वस्थ हो, तो उस दिन उपवासादि तप छोड़ कर श्रद्धाभक्ति से रोगी की सेवा-परिचर्या ही करनी चाहिए। यह संघीय अनुशासन की स्वयंस्वीकृत बाध्यता है। उक्त प्रसंग में सेवा को ही गुरुदेव सबसे महान् तप बताते हैं। गुरुदेव के इस आदेश का पालन करने से साधक शिष्य को एक सहज समाधि का अनुभव होता है। क्योंकि सेवा से चित्त में विनम्रता आती है, समर्पण भावना जागती है, जो स्वयं तपों में एक तप विनय है। इधर-उधर के विकल्पों से मुक्त हो कर एकमात्र सेवा में ही निष्ठा, एकाग्रता रहती है, अतः सेवा, ध्यान तप में अपना स्थान रखती है। इसी कारण शिष्य के लिए भगवान् महावीर का यह आदेश है कि उपवास एवं अन्य उपासना के मध्य अगर किसी की सेवा की आवश्यकता आ जाए, तो सर्व प्रथम उसे ही करना चाहिए। सेवा के लिए यदि अशक्तता के कारण गृहीत उपवासादि तप छोड़ना पड़े तो सहर्ष छोड़ना ही चाहिए। ऐसा करने से तपभंग नहीं होता, वरन् उससे भी अधिक उत्कृष्ट अन्तरंग तप में स्थित होने से अधिक लाभ ही होता है। प्रवचन सारोद्धार वृत्ति में कहा है—“महतां प्रत्याख्यानं पालनवशाल्लभ्यनिर्जरापेक्षया बृहत्तर निर्जरालाभहेतु भूतम् ।” इसी प्रकार आचार्य नमि का प्रतिक्रमण वृत्ति में—“महत्तरकादेशेन भुंजानस्य न भंगः ।” का बोध पाठ सेवा का प्रेरक सूत्र है। यह अनेकान्तवाद है, जिसमें बाह्यतः तप का भंग होते हुए भी अन्तरंग में अभंगता प्रमाणित होती है। क्योंकि इसमें सेवा-भाव मुख्य है शेष सब गौण है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सेवा से बड़ा तप संसार में कुछ भी नहीं है। यह वह उदात्त भाव है, जिस की तुलना अन्यत्र कहाँ है ?

श्रमण भगवान् महावीर के उपासकों की यह सेवावृत्ति भारतीय मनीषा और दर्शन की चिन्तन-प्रक्रिया को बहुआयामी गौरव प्रदान करती है। अनेकान्त सिद्धान्त और तप उक्त दो धाराओं का संगम इस सेवाभावी मानस संसार में जब होता है तब पवित्रता के वे विविध स्वरूप उजागर होते हैं, जो दिनानुदिन साधक को परमात्म पथ पर अग्रसर करते हैं। फलस्वरूप आत्मानन्द के दिव्य द्वार उद्घाटित होते हैं।

यह कालक्रम है। परिवर्तन इसकी प्रकृति है। इसके बिंब वनते और विगड़ते रहते हैं। पर, इस कालक्रम के महान् साधकों की तैजस् गाथा इसीलिए अक्षुण्ण है, इसीलिए वह कालातीत है, क्योंकि वे सेवाव्रती थे। उन्होंने ब्राह्मण, शूद्र, चांडाल, और पशुपक्षी तक को समत्व की दृष्टि से देखा था। वे वीतराग साधक हो कर भी वीतरागता के नाम पर निर्मम नहीं थे, हृदयहीन नहीं थे। तू, मैं और मेरे, तेरे की सारी क्षुद्र भावनाओं पर विजय प्राप्त करने के बाद भी वे लोक-मंगल के लिए सर्वहित रत रहते थे। सेवा ही साधना है। सेवा ही उपासना है। सेवा ही तप है। सेवा ही लोक-मंगल है और लोक-मंगल के लिए ही संत अवतरित होते हैं—“नाऽत्र सन्देहलेशावकाशः ।”

# खाद्य समस्या : समाधान की खोज में

“अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् ।”

—यह अच्छी तरह से जान लीजिए कि अन्न ही ब्रह्म है ।

आत्मा की खोज अलौकिक अन्तर्ब्रह्म की है । और शरीर की खोज अन्न-ब्रह्म की है । यद्यपि दोनों ही ब्रह्म को जानना आसान नहीं है । पर, अन्न-ब्रह्म की खोज विश्व के समस्त शरीरधारी प्राणियों की है ।

अतः अन्तर्ब्रह्म की खोज में इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती ।

प्राचीनतम धर्म-शास्त्रों तक के अनुसार हर प्राणी के प्राण अन्नगत हैं। अन्न के बिना देह में प्राण का रह पाना असंभव है। यह समस्या कोई नवीन नहीं है। 'अन्नं वै प्राणाः' का शंखनाद बहुत पुराना है। पर, फिलहाल यह कुछ विकट रूप धारण किए हुए है। पूरे देश में यह जो वैषम्य देख रहा है, देश की आबादी का यह जो बड़ा भाग कभी-कभार बवण्डर की तरह इधर-उधर अपनी ध्वंसलीला दिखाने लगता है। उसके मूल में समस्या रोटी की है। माना कि मानव के लिए रोटी की समस्या कोई अन्तिम समस्या नहीं है। पर, एक बड़ी समस्या तो है ही, इसे यों ही नकारा नहीं जा सकता। खेद है, इसके समाधान की बात, अनेक बार बात ही हो कर रह गयी है। उसका कार्यरूप कहीं-कुछ भी नहीं दिखाई देता।

इस बात को सभी जानते हैं कि जीवन की पहली समस्या खाद्य-समस्या है। और इस देश में, जिसे हम मानव-संस्कृति का अग्रदूत भारतवर्ष कहते हैं, उसकी तो फिलहाल यही एक समस्या विकराल रूप धारण किये हुए हैं। परन्तु इसके विकराल रूप धारण करने के पीछे कुछ कारण हैं, जिन पर न अतीत में समय पर ध्यान दिया गया, और न अब ही गंभीरता से संतोषजनक रूप से ध्यान दिया जा रहा है। अतः वे प्रमुख कारण क्या हैं, संक्षेप में उन पर यहाँ कुछ विचार करना आवश्यक है।

पहली बात तो यह है कि इस देश की जनसंख्या पौराणिक रक्तबीज असुर की तरह बढ़ती जा रही है। भोगलोलुप प्रवृत्तियाँ दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही हैं। जमीन जितनी है, उतनी ही है। और उसकी उपज को खाने वालों की एक भीषण बाढ़ ही आ गयी है। परन्तु ऐसा भी क्यों है? यह भी एक प्रश्न है? प्रश्न साधारण नहीं, विकट प्रश्न है? कुछ भी हो, अगर प्रश्न है, तो उसका कोई-न-कोई उत्तर भी तो होता है। क्योंकि कालक्रम से मनुष्य की चेतना का एक ओर ह्रास हुआ है, तो दूसरी ओर विकास भी कुछ कम नहीं हुआ है। विकास इस अर्थ में कि जीवन-धारण-सम्बन्धी माध्यमों के सम्बन्ध में उसकी दृष्टि काफी-कुछ साफ हुई है। और ह्रास इस अर्थ में कि वह अपनी मूल प्रकृति से कट गया है।

ऐसा भी एक समय रहा है, जब कि मनुष्य ने अपना वन्य जीवन पशु की तरह बिताया है। और, इतिहास हमें उस समय के बारे में भी साक्षी देता है, जब कि वह देवता बना है। परन्तु, देवता बनने वाले बहुत थोड़े अंगुलियों पर गिने जाने वाले महापुरुष ही हुए हैं। सर्वसाधारण मनुष्य तो पशु एवं देवता के बीच अटका हुआ है। जिसे आप आम आदमी कहते हैं, वह तो दोनों के बीच की कड़ी है, और यह अपने में एक बड़ी अच्छी बात है, साथ ही सुखकर भी। धरती पर यही बीच का आदमी चाहिए। परन्तु, समस्या यह है कि यह अपनी केन्द्रीय स्थिति को सही रूप में समझ नहीं पा रहा है। वह पशु से अधिक देवत्व का अंश लिए हुए है, किन्तु उस ओर उसकी दृष्टि पहुँच नहीं रही है। इसका निदान काफी गंभीरता से खोजा जाना चाहिए। वरना इस देश की गौरवमयी संस्कृति विनाश की ओर लुढ़कती जा रही है, उसे रोक नहीं जा सकेगा।

एक जटिल राजनैतिक समस्या है इस देश की। कभी अतीत में राजनीति प्रजा के कल्याण के लिए होती थी। प्रजा-मंगल के लिए समर्पित प्रबुद्ध मनीषी राजनेता हुआ करते थे। उन्हीं के हाथों में देश के संचालन का भार होता था। परन्तु, दुर्भाग्यवश आज वह स्थिति नहीं है। राजनीति का तंत्र-चक्र व्यवस्थित नहीं है। वह एक संहारक व्यूह बन गया है, जिनमें लाखों-लाख, करोड़ों-करोड़ अभिमन्यु मर-कट रहे हैं। अधिकांश राजनेता येन-केन-प्रकारेण अपनी क्षुद्र स्वार्थसिद्धि में लिप्त हैं। प्रजा की सेवा के नाम पर सैंकड़ों दल खड़े हो गए हैं। और, वे लोकतंत्र एवं लोक-मंगल के पवित्र नाम पर जनता को दिग्भ्रमित कर रहे हैं। अतः इस देश की प्रमुख प्राथमिक समस्या—खाद्य समस्या का समाधान हो, तो कैसे हो?

पुरातन काल में, जब कि भारत की धरती पर जन-संख्या भी कम थी, लोग बड़े मेहनती थे। प्रथम कठोर श्रम और उसके बाद आनन्दोपभोग, इस सिद्धान्त में लोगों का आपाद-मस्तक अटल विश्वास था। देह को मर्यादाहीन सजाने-संवारने के प्रति लोग प्रायः उदासीन थे और सहजता के साथ सीधा-सादा जीवन-यापन करने के अभ्यासी थे। पर, अब यह बात एक मिथ बन गई है। और, लोग भौचकके हो कर इस पूर्व जीवन की गाथाओं को ऐसे सुनते हैं, जैसे कि कोई परी-कथा कही जा रही हो।

सन् १९१६ की सोवियत क्रान्ति के बाद 'दुनिया के मजदूरों एक हो जाओ' का आकर्षक नारा तूफान की तरह फैला हुआ हमारे देश में भी आया। तब यह देश गुलाम था। अतः लोगों के पास सर्वप्रथम इसे आजाद करने की ही समस्या सबसे बड़ी थी। महात्मा गान्धी जैसा महान् युगपुरुष सामने आया और देश आजाद हुआ। लोगों ने क्षणभर के लिए सुख की साँस ली। किन्तु, पुनः देश अराजकता का शिकार हो गया। अनेक लोगों के विचारानुसार जो व्यवस्था अंग्रेजों के समय में थी, उससे भी कहीं बदतर स्थिति लोगों की हो गयी। प्रबुद्ध लोगों के विचारों का दलों के रूप में टकराव का एक कैम्प निर्मित होता गया और मूक जनता असहाय स्थिति में अपने नेताओं का केवल मुँह ताकती रही।

आज देश की वर्तमान परिस्थिति से लगभग सभी अवगत हैं। मजदूरों के एक होने के नाम पर मजदूरों को काम नहीं करने का पाठ पढ़ाया जा रहा है। अकर्मण्यता का शिक्षण दिया जा रहा है। और, मजदूरों के नेताओं को देखिए, वे बात-बात में सोवियत देश की दुहाई दे रहे हैं। लेनिन एवं मार्क्स को उद्धृत कर रहे हैं। धर्म, दर्शन, सभ्यता, संस्कृति—सबको जी भरकर गालियाँ दे रहे हैं। गरीबी से त्राण दिलाने के नाम पर, यह सब-कुछ खराब है, सब बेकार है। किसी भी मूल्य पर हो, शोषकों को समाप्त करो, सब ओर संत्रास फैला दो। यही एक अन्धा पाठ मजदूरों को पढ़ाया जा रहा है। यहाँ तक कि अनेक प्रबुद्ध लोग भी विना कुछ सोचे-समझे एक स्वर से यही चिल्ला रहे हैं।

यह एक भयंकर स्थिति है। सोवियत देश में अपने देश-जैसा कुछ नहीं है। वहाँ श्रम की चोरी करने वालों को कठोर सजा दी जाती है। वहाँ कोई भी व्यक्ति श्रम की चोरी नहीं कर सकता। यह एक भयंकर सामाजिक अपराध माना जाता है। पर, हमारे देश में ऐसा कहाँ है? यहाँ के मन-मस्तिष्क में श्रम का कोई अर्थ ही नहीं है। और जो थोड़ा-बहुत है भी, उसे बेदरती से बर्बाद किया जा रहा है। गरीबों एवं पीड़ितों के सर्वतोमुखी उत्थान की चिन्ता, सम्पत्ति एवं उन्नति के अवसरों का सभी के लिए मुक्तद्वार, अधिक तथा उचित वितरण के लिए जनोपयोगी माँग और जातीय आदि असमानता समाप्त कर समत्व की स्थापना का आग्रह, इत्यादि मार्क्सवाद के निश्चित ही महत्त्वपूर्ण सामाजिक सन्देश हैं, जिनसे सभी आदर्शवादी सहमत हैं। परन्तु, इसके सामाजिक कार्यक्रमों से सहानुभूति होने का यह अर्थ नहीं है कि हम मानवीय जीवन के मार्क्सवादी-दर्शन की चरम वास्तविकता को, उसकी नास्तिक धारणा को, मनुष्य के संबंध में उसके प्रकृतिवादी दृष्टिकोण को और व्यक्तित्व की पवित्रता के प्रति उसकी निष्ठुर अवज्ञा को भी आँख मूंदकर स्वीकार कर लें।

मार्क्स अपने युग के निश्चित ही एक महान् चिन्तक थे। वे मनीषी थे। अतः समाजोत्थान के अपने दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के बाद, संभवतः मजदूरों की अकर्मण्यता को भी मार्क्स समझ गये थे। अस्तु, उन्होंने यह भी लिखा था कि "थैंक गाड आय एम नाट मार्क्सिस्ट।" इस पर से यहाँ समझा जाना चाहिए मार्क्स यह कहता है कि "मैं किसी भी सिद्धान्त को अन्तिम और पूर्ण और सुदृढ़ रूप से स्वीकार करने की शपथ नहीं ले चुका हूँ।" श्रमण भगवान् महावीर के अनतिवादी अनेकान्त और मार्क्स की इस दृष्टि में यहाँ एकरूपता है, जिसे कोई भी चिन्तनशील व्यक्ति परिलक्षित कर सकता है। स्पष्ट है, श्रम के अपने तथाकल्पित संघर्षप्रधान विद्रोही दर्शन को प्रस्तुत करते हुए मार्क्स केवल युगानुलक्ष्यी अस्थायी सत्य को ही प्रस्तुत करता है। उनकी चिन्तन प्रक्रिया उन्हीं के शब्दों में कोई एक शाश्वत सत्य नहीं है। यह एक समाजवादी पद्धति है। इसका निर्माण के लिए अमुक उपयोगी अंश स्वीकृत किया जा सकता है, किन्तु जो अंश विघटन का है, परस्पर विग्रह का है, वर्ग संघर्ष का है, हिंसा का है, निर्माण के स्थान पर विनाश का है, उसे भारत जैसे सांस्कृतिक देश में कैसे स्वीकृति मिल सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि रचनात्मक तथ्यों से विपरीत विद्रोह-भावना, मजदूरों के मन में भरी जा रही है। परिणाम स्पष्ट है, कहीं-कुछ काम नहीं हो पा रहा है। फलतः समस्याएँ घटने के बजाय बढ़ती ही जा रही हैं। यह श्रम की चोरी का एक पक्ष है।

और, दूसरा पक्ष यह भी है कि बहुत से क्षेत्रों में श्रम का उचित मूल्य नहीं मिल रहा है। इस पर भी शान्त मस्तिष्क से विचार करना होगा। यह ठीक है कि मजदूर एवं इंजिनियर एक नहीं हो सकते। पर, सबको जीवन-निर्वाह हेतु उचित मुआवजा तो मिलना ही चाहिए। साथ ही उचित सम्मान एवं आदर भी 'यथायोग्यम्' का अर्थात् सिद्धान्त है। उसे यों ही किसी लफाजी से झुठलाया नहीं जा सकता। एक बार एक पत्रकार ने इसी सन्दर्भ में एक



बड़े कम्युनिस्ट चिन्तक से प्रश्न किया था कि 'हाथ बड़ा है या मस्तिष्क?' चिन्तक ने कहा कि 'भाई! बड़ा तो मस्तिष्क ही है।' इस पर पत्रकार ने प्रश्न किया कि—'फिर आप केवल हाथ को ही बड़ा क्यों मानते हैं?' आखिर, चिन्तक को कहना पड़ा कि—'भाई, यह पार्टी का सिद्धान्त है। डार्विन के मत से भी, मस्तिष्क बड़ा है। क्योंकि उसका निर्माण पहले हुआ है।'

यह एक विसंगति है श्रम के क्षेत्र में—जो अभाव एवं यंत्रणा का कारण है। यह कम्युनिस्टों की सर्वथा भ्रान्त नीति है, जो एक किराणी एवं लेखक में फर्क नहीं समझती। वह साहित्यकार लेखक से भी किराणी का काम लेना चाहती है। परन्तु श्रम के नाम पर यह अन्ध ऐक्य समस्या का सही हल नहीं है। हमारी परम्परा, यथायोग्य व्यवहार और मर्यादा में विश्वास रखती है। इसी से विश्वास होता है, योग्य प्रतिभाओं का जन्म होता है। हमारे यहाँ श्रम के मानदण्ड हैं, उसकी सीढ़ियाँ हैं। हम उसका वर्गीकरण करके ही सही विश्लेषण कर सकते हैं। जैसे अगर नकारना ही हो, तो नजर टेढ़ी करके विद्वत्ता के साथ कुछ भी नकारा जा सकता है। पर विवेकवान लोग मूलभूत सत्य के प्रति त्रिनयावनत होते हैं। और उसे बड़े आदर के साथ स्वीकार करते हैं। अगर व्यक्ति में विशिष्टता है, तो उसे आदर के साथ स्वीकार किया जाना चाहिए। विशिष्टता को सामान्यता के साथ जोड़ना कथमपि संगत नहीं है। उससे हमारी प्राचीन संस्कृति की स्वर्णिम छवि धूमिल होगी। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सब-कुछ बुद्धि-जीवियों के चरणों में ही समर्पित कर दिया जाए। श्रमिक भूखा मरता रहे, और बुद्धिजीवी गुलछर्रे उड़ाता रहे। प्रत्येक व्यक्ति के लिए जीवन और उसकी समस्या एक है, बुद्धिजीवियों को यथोचित सम्मान देते हुए भी आवश्यकता पूर्णतः तो समय पर सबकी ही होनी चाहिए। अतएव श्रम के मूल्यों का और मूल्यों के श्रम का यथोचित विभाजन अपेक्षित है।

खाद्य समस्या का एक दूसरा पक्ष है—जिसे हम खाद्याखाद्य विचार कहते हैं। और, जिसे लोग भूल बैठे हैं, जिसके कारण तामसी प्रवृत्तियाँ विकसित होती जा रही हैं। देश में न जाने कितने मूक जानवरों की निर्मम हत्या कर मानव अपना उदर पोषण कर रहा है। यह कितनी ममान्तिक बात है कि अपना पेट भरने के लिए निरपराध जानवरों की हत्या कर दी जाए। मैं शुरु में कह आया हूँ प्राण अन्नगत हैं। इस प्राण में सामूहिक भावों का अगर उदय करना है, तो जीव-हत्या बन्द करनी होगी। देश के सामूहिक अभ्युत्थान एवं कल्याण को ध्यान में रखते हुए कृषि आदि प्रत्येक औद्योगिक क्षेत्र में मन लगाकर कठोर श्रम करना है, और तदुपरान्त शुद्ध सात्विक भोजन करना है, वह भी क्षुधापूर्ति तक ही। पेट बनकर सब-कुछ ही उदरस्थ नहीं कर लेना है। भारतीय-संस्कृति में महाराना उदरभरी महापापी माना गया है। हमारी संस्कृति का दिव्य घोष है—'लब्धभागा यथारूपम्।' सबको अपना यथोचित भाग मिलना चाहिए। एक स्थान पर आवश्यकता से अधिक संग्रह, अन्यत्र अभाव का हेतु होता है, जो अनावश्यक, सर्वनाशी, वर्गसंघर्ष को जन्म देता है। इस सन्दर्भ में भगवान् महावीर की वाणी नहीं भूलनी चाहिए कि, 'असंविभागी न हु तसस मोक्खो।'

खाद्य समस्या हो या तत्सदृश अन्य कोई अपेक्षा, बिना कठोर परिश्रम के समाधान का कोई अन्य विकल्प नहीं है। जीवन के उत्थान हेतु इस देश में बलिष्ठ भुजाओं की आवश्यकता है। दानव-सा सबल देह और देवताओं जैसे सुन्दर तथा सबल मस्तिष्क की आवश्यकता है। श्रम की चोरी और श्रम के मूल्य की चोरी, दोनों ही पाप हैं, मानव जाति के लिए घातक हैं। अतः न श्रम की चोरी करो और न श्रम के मूल्य की चोरी करो। दोनों ही स्थितियाँ समाज और राष्ट्र के विकास में बाधक हैं।

आकाश में विश्वयुद्ध के बादल मंडरा रहे हैं। कुछ विदेशी ताकतें जानते हो, इस देश की गौरवमय संस्कृति को ध्वस्त कर देना चाहती हैं। इन सबसे अगर भारतीय धर्म, संस्कृति और समाज को त्राण दिलाना है, तो विवेक-पूर्वक जनमंगलकारी श्रम अपनी अपनी स्थिति के अनुसार करना ही होगा। यही श्रमण-संस्कृति की महान् शिक्षा है। यही श्रमण भगवान् महावीर की सर्व-जनहित देशना है। यही वह पक्ष है, जिसका कोई विकल्प नहीं है। श्रमण अर्थात् श्रम का पुरस्कर्ता महावीर श्रमण हैं। अन्दर और बाहर दोनों ही जगत् में श्रम के लिए पुरुषार्थ एवं पराक्रम के लिए उनका उपदेश है। यथोचित दिशा में यथोचित श्रम के बिना न कहीं मुक्ति है और न कहीं भुक्ति।



# मानवता की मंगलमूर्ति : सजग नारी

## “ज्योतिर्मयी”

नारी, तेरी गरिमाओं के  
शुष्क न दिव्य स्रोत ये होंगे ।  
तेरी महिमाओं के उज्ज्वल,  
कभी न धूमिल तारे होंगे ॥

सरस्वती तू, लक्ष्मी तू है,  
चण्डी तू है, सदा शिवानी ।  
शिव-संवर्धक, अशिव नाशिनी,  
तेरी लीला जन-कल्याणी ॥

मन विराट् तव नभ मंडल-सा  
तू देवी मृदु करुणा की है ।  
दिव्य मूर्ति तू पुण्य योग की  
नहीं मूर्ति अघ-छलना की है ॥

तू बदले तो घर बदलेगा,  
जग बदलेगा, युग बदलेगा ।  
जीवन के निर्माण-मार्ग पर  
स्वर्ग हर्ष गद्गद् उछलेगा ॥

तुझे राक्षसी कहा किसी ने,  
भूल गया वह पथ यथार्थ का ।  
अपनी दुर्बलता, कुण्ठा का,  
डाला तुझ पर भार व्यर्थ का ॥

“यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः” जहाँ नारियों की पूजा होती है, देवता वहीं वास करते हैं। यह एक वह पुरातन सांस्कृतिक सूत्र है, जिसमें पुण्यशीला नारियों के प्रति गहरी हार्दिक एवं पूज्य श्रद्धा भावना व्यक्त की गई है। नारी देश और समाज की ऐसी दिव्य शक्ति है, जो पुरुषवर्ग में अपने नानाविध रूपों से क्षमता व सहनशीलता का भाव जगाती है। और स्वयं जागृत रहकर निरन्तर अपने प्राप्तव्य ध्येय की ओर जाने की प्रेरणा देती है। नारियों के आदर्श बलिदानों से इस देश का इतिहास भरा पड़ा है। उनकी कठोर तपस्या, प्रकृतिसिद्ध सेवा, भावनाशील संवेदना, असीम त्याग और अतुलनीय साहस की इतिहास गाथाएँ जन-जीवन को कर्तव्यनिष्ठ व कर्मठ बनाती हैं। और उनका मातृ स्वरूप ऐसा है कि जिसमें मानवता की ऊँचाइयों का दिव्य-दर्शन होता है। नारियाँ किसी भी देश की महान् धात्री होती हैं। उनका ऋण इस धरती पर कुछ ऐसा है, जिसे किसी भी कीमत में चुकाया नहीं जा सकता। चुकाने की इच्छा भी अगर किसी के मन में है, तो वह गलत है, क्योंकि नारियों का ऋण, ऋण नहीं है। वह तो एक प्रकार का नैतिक प्रेमोपहार है, जिसे श्रद्धापूर्वक हृदय से ग्रहण कर जीवन का मंगल किया जा सकता है, उत्थान के लिए कुछ सीखा जा सकता है। जो भी कुछ उच्चतर है, परिवार एवं समाज की दृष्टि से नारी अप्रतिहत आदर्श है, उसकी उपलब्धि के लिए। सृष्टि के प्रारंभ से ही नारीजाति का जो ऐतिहासिक योगदान मानव-जीवन के हर क्षेत्र में मिलता रहा है, वह मात्र प्रशंसा के योग्य ही नहीं, वरन् प्रेरणा की उर्वरा भूमि है, जिसमें बिना किसी आग्रह-दुराग्रह के सहज सुखस्पर्श मृदुलता के साथ सतत कर्मशील रहने का अमृतसंदेश अनुगुञ्जित रहता है। अगर खुली दृष्टि से देखा जाए, तो व्यक्ति और समाज के सर्वांगीण विकास में महिलाओं का योगदान बहुत बड़ा है। वे एक ऐसे उत्तरदायित्व का पालन करती हैं, जिसे उतनी मौन निष्ठा के साथ कर पाना पुरुषवर्ग के लिए असंभव नहीं, तो कठिन अवश्य है। पुरुष, समाज का मस्तिष्क है, तो नारी हृदय है। हृदय का योगदान मिलने पर मस्तिष्क का ताप शान्त होता है और उसे कर्म के लिए दिशा मिलती है।

लाखों-लाख वर्षों से निरन्तर प्रवाहित हो रहे इतिहास की ओर झाँकने पर यह पता चलता है कि परिवार, समाज और धर्म के क्षेत्र में नारियों ने अपनी महती भूमिका निभाई है। वस्तुतः नारी नारी के रूप में कोई एक इकाई नहीं है। वह गुणधर्म की दृष्टि से नानारूपा है, अनेकरूपा है, कहीं वह मधुसूताविणी लोरी सुनाती हुई ममतामयी माँ है, तो कहीं सहज स्नेह बिखेरती भगिनी है। कहीं वह श्रद्धास्निग्ध कन्या है, तो कहीं वह तन-मन से समर्पित ऐसी भावप्रवण प्रिया है, जिसे पुरुष की सहर्षमिणी होने का गौरव प्राप्त है।

धर्म-शास्त्र के अध्येताओं को यह पता है कि भगवान् महावीर के काल में हजारों की संख्या में महिलाएँ भिक्षुणी हो गयी थीं। उन्होंने जीवन के सभी प्राप्त सुखों का परित्याग कर दिया था। वैदिक-काल की गार्गी और मैत्रेयी के उज्ज्वल उदाहरण इतिहास-प्रसिद्ध हैं।

भारतीय वाङ्मय के अभ्यासी सभी जनों को यह पता है कि वाणी भी सरस्वती के रूप में स्त्री का ही एक रूप है, जिसके कारण धर्म और समाज के कण-कण में चिदानन्द-बोध का माधुर्य समायोजित है। सरस्वती ज्ञान की देवी है, चेतना की ऊर्जा है, यदि मानव ज्ञान-चेतना से शून्य हो जाए, तो फिर जड़ में और उसमें क्या अन्तर रह जाएगा? तब नर एक प्रकार से नराकृति में मूक पशु ही तो होगा। और क्या? और चेतनाशील सजग नारी पशुत्व नहीं, ज्ञान-चेतना से युक्त देवत्व की प्रज्वलित ज्योति है। अतः उक्त सर्वशुक्ला सरस्वती का स्वरूप भारतीय मनीषा ने नारी के रूप में ही चित्रित किया है।

शक्ति क्या है? जिसके बिना मानव पशु है, तेजहीन है। आचार्य शंकर की भाषा में शिव भी बिना शक्ति के शव है, वह एक साधारण स्पन्दन करने की भी क्षमता नहीं रखता। और, इस शक्ति को भी दुर्गा, भवानी, चक्रेश्वरी, पद्मावती आदि नामों में स्त्रीरूप ही मिला है।

और एक है, सम्पत्ति। इसके बिना भी मानव समाज की जीवन-यात्रा सुखद नहीं रहती है, दरिद्रता से बढ़कर कोई पाप नहीं है, यह हमारे चिर अतीत की अनुभूत अनुश्रुति है, और यह दरिद्रता दूर होती है, सम्पत्ति की, लक्ष्मी की वरद कृपा से। और यह कमलासना लक्ष्मी भी एक दिव्य नारी का ही तो अभिराम रूप है। मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि वे नारियाँ ही हैं, जिनके कारण मानव-सृष्टि के भीतर अहिंसा, करुणा एवं ममता की भावना पल्लवित, पुष्पित एवं फलित हुई हैं। जहाँ भी कहीं विरोधी के प्रति भी जो क्षमा भाव दिखता है, समझना चाहिए कि वहाँ प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी-न-किसी रूप में सहिष्णुता की प्रतिभूति नारी का महान् क्षमा-संस्कार, बीज-रूप में छिपा हुआ है। साहित्य, कला और शिल्प के विविध रूपों में भी नारी का सहज कोमल संवेग समायोजित हुआ है। अमुक रूप में

इन सब की जननी नारी ही है। उसी ने संसार को कल्याण भावना दी है। स्नेह-सिग्ध गोद में उछालते एवं पालने में झुलाते हुए मानव शिशु को मानवता का प्रथम पाठ मातृ-स्वरूपा नारी ने ही पढ़ाया है। जीवन का कोई भी क्षेत्र क्यों न हो, नारी सब जगह अपनी धीर-गंभीर बुद्धि का परिचय देती है। पुरुष शिलाखण्ड की तरह कठोर हो सकता है, पर नारी अपने कलकल निनादिनी स्वच्छ सलिला सरिता के स्वभाव का त्याग नहीं कर सकती। वह हर किसी की पीड़ा में सहभागिनी बन जाना चाहती है। वह हर किसी के दुःख-दर्द को मिटा देना चाहती है। भगवान् महावीर के संघ में जहाँ चौदह हजार साधु थे, वहीं साध्वियों की संख्या छत्तीस हजार थी। संख्या की दृष्टि से साधना-क्षेत्र में वे उस काल में भी पुरुष-वर्ग से अधिक थीं। पुरातन काल से ही भगवान् की दिव्य-वाणी के अमृत-रस का पान सबसे ज्यादा उन बहनों ने ही किया है, यह जैन इतिहास पर से सूर्यवत् स्पष्ट है।

जिन्हें पौराणिक मान्यताओं के आधार पर सामाजिक दृष्टि से पिछड़ा कहा जाता रहा है। और, जिनका हम आज भी अज्ञान और अन्धकार में रहनेवाले प्राणिविशेष के रूप में उपहास करते जा रहे हैं। और, वे रही भी हैं इस स्थिति में कभी, परन्तु ज्यों ही उन्हें प्रकाश मिला, वे सब-कुछ मोह-माया और प्राप्त सुखोपभोग त्यागकर लोक-मंगल की राह पर चली आयीं। जिनका सुन्दर शरीर फूल के समान सुकुमार था, और जो हवा के तप्त झोंके से भी मुरझा सकता था, वे पुष्पशय्यारूढ़ गृहदेवियाँ भिक्षुणी के रूप में झुलसा देनेवाली भीषण गर्मी और कड़कड़ाती देह-चौरती सर्दी के दिनों में भी महाश्रमण महावीर एवं तथागत बुद्ध का मंगलमय संदेश घर-घर पहुँचाती थीं। जिनके हाथों ने एकमात्र देना-ही-देना जाना था, वे ही राजरानियाँ अहंकार-मुक्त होकर अपनी प्रजा के सामने, यहाँ तक कि झोपड़ियों में भी भिक्षा के लिए घूमती थीं और राजप्रासादों से लेकर पर्णकुटीरों तक सबको समान भाव से अहिंसा एवं करुणा के आत्मौपम्य धर्म-दर्शन का अमृत बांटती फिरती थीं।

इससे यह सत्य जाहिर होता है कि जीवन के विविध क्षेत्रों में नारी-जाति का संकल्प और कर्म बहुत ही महान् रहा है। त्याग का जितना बड़ा आदर्श नारी ने उपस्थित किया है, वैसा अन्य वर्ग में विरल ही देखा गया है। किंचित् भी मुख म्लान किये बिना धैर्य के साथ जितना कष्ट वह सह लेती है, अन्यत्र कहाँ है वह आदर्श सहिष्णुता, क्षमता, धैर्य, गांभीर्य एवं शक्ति।

हमारा यह देश भारत, जिसे महादेश भी कहा जाता है, यहाँ गृहस्वामिनी स्त्री जीवन के आदर्श का आरम्भ और अन्त मातृत्व में ही होता है। वह मातृत्व, जो वक्ष में दुग्धामृत, हृदय में स्नेहामृत और करकमलों में कर्मामृत लिए मानवजाति को प्रारम्भ से पोषण देती है, और धीरे-धीरे विकास के पथ पर उसे अग्रसर करती है। स्त्री शब्द के उच्चारण मात्र से भारतीयों के मन में विकसित एवं उदारमना मातृत्व का स्मरण हो आता है। “स्त्री” शब्द का अर्थ ही विस्तार है। अतः वह संकुचित नहीं, विस्तृत है। वह बिन्दु नहीं, धारा है। संस्कार-हीनता के कारण घटित होनेवाले कुछ अपवादों को छोड़ दीजिए, शेष जो है वह उदात्त है, आदर्श है। जिन नारियों के जीवन में उदात्त गुणों का विकास हुआ है, उनका मन, वचन, कर्म सब मातृमय हो जाता है। वे विश्व के सभी प्राणियों को स्नेह की ममता-मयी दृष्टि से देखती हैं। उनकी आंखों में कहीं भी घृणा-द्वेषमूलक तिरस्कार नहीं रहता है। उनके ओठों पर हर क्षण एक सर्वमंगल मुस्कान विच्छुरित होती रहती है, जो जीवन में आनन्द की भावधारा का संचार करती है। हिन्दुओं के यहाँ इसीलिए एक युग में स्त्री को ईश्वर रूप में भी सम्मानजनक स्वीकृति मिली है। यह वह दिव्य माता है, जिसे लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा और अन्य कितने ही उदात्त नामों से लोग स्मरण करते हैं। आचार्य शंकर जैसे अनेक शास्त्र-कारों का कहना है कि पुत्र कुपुत्र हो सकता है, पर माता कुमाता नहीं हो सकती। अगर मैं प्रसंगोचित यह भी कहूँ कि मानव-संसार में जो कुछ शुभ दिखाई पड़ता है वह एक प्रकार से वात्सल्यमूर्ति माँ के वात्सल्य भाव का ही परिणाम है, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। क्योंकि उसी की ममता, स्नेह एवं वात्सल्य की सुखद छाया में मानव की जीवन-यात्रा का सूत्रपात हुआ है।

नारी-जाति के पुरातन इतिहास को देखने पर ऐसा लगता है कि नारी का जीवन एक बहुत ही ऊँचा आदर्श जीवन रहा है। जब हम उसे स्मृति में लाते हैं, तो हमारा मन-मस्तिष्क सहसा श्रद्धा से आप्लावित हो जाता है। हम उनके प्रति सहज आदर भाव से तरंगित हो उठते हैं।

किन्तु, यह एक दुःखद संयोग है कि इसी मिट्टी में जहाँ नारी इतनी महान् महत्ता के पद पर प्रतिष्ठित रही है, उसकी स्वर्णिम छवि धूमिल हो रही है। उसके प्राकृतन सुन्दर और सात्विक स्वरूप को भौतिकता की मर्यादाहीन दौड़ धूलि धूसरित कर रही है। अतः आज समाज में इधर जो गड़बड़ी फैली हुई है, संत्रास का वातावरण बन रहा

है, उसका अमुक अंश में कुछ दोष नारी पर भी आया है। इसलिए आज की नारी को अपनी प्राचीन गरिमा को अक्षुण्ण बनाये रखना है, तो उसे सजग होना होगा। एक बहुत बड़ा उत्तर-दायित्व उन्हें पुनः वहन करना होगा। विश्व के अनेक मनीषी चिन्तक समझते हैं कि संसार को त्रास से मुक्ति दिलाने का कार्य अन्ततः नारी कर सकती है। अंगजात सन्तान के रूप में उसे एक तरह से कच्ची मिट्टी का आर्द्र पिण्ड मिला है। उसे क्या बनाना है और क्या नहीं बनाना, परिवार, समाज, राष्ट्र, धर्म एवं संस्कृति के हित में, यह अर्थगंभीर समयोचित निर्णय करना, उसके ही अधिकार क्षेत्र में है। जब माताएँ योग्य होती हैं, तो वे अपनी सन्तान में सांस्कृतिक चेतना का रस पैदा कर देती हैं। कसणा की प्रशान्त, शीतल, सुखद छाया में मानव ही नहीं, प्राणिमात्र के प्रति स्नेहसिक्त उदार मर्यादा भाव जगा देती हैं, धर्म एवं समाज की सेवा के लिए महत्त्वपूर्ण प्रेरणा प्रवाहित कर देती हैं। वे अपनी और पास-पड़ोस की कोमल पीढ़े के रूप में अंकुरित होती प्रिय सन्तानों को जैसा भी बनाना चाहें बना सकती हैं। देव, दानव या मानव कुछ भी बनाना अधिकांशतः माताओं की चेतना और चर्या पर ही निर्भर है।

कहने का तात्पर्य यह है कि मानवीय जीवन का उत्थान-पतन दोनों ही नारी की विचार प्रक्रिया के ऊपर निर्भर करता है। परन्तु, आज इसके विपरीत सर्वत्र देखा ऐसा जा रहा है कि नारी-जगत् ने अपने कान खड़े कर लिए हैं और आंखें बन्द कर ली हैं। फलस्वरूप वैचारिक-जगत् में भ्रम फैल गया है कि वह स्वयं कुछ नहीं कर सकती। नारी अबला है, उससे कुछ नहीं हो सकता। आज के नारी-आन्दोलन इसके साक्षी हैं कि नारी अपने अपेक्षित मौलिक अधिकारों एवं समस्यागत प्रश्नों का समाधान दूसरों से मांगना चाहती है, जिनका सही समाधान उसके सिवा दूसरा कोई नहीं कर सकता। यह जीवन-दर्शन की रहस्यमयी भाषा है, विश्व की हर नारी को इसे समझना है। अब अपनी खुद की आंख मूंदकर केवल इधर-उधर सुनी-सुनाई बातों के अंधकार में नहीं चला जा सकता। जो कुछ भी करना है अपनी खुद की आंखों से देख कर करना है। बाहर के ही नहीं, अपने अन्तर के ज्ञान चक्षु खोलकर अपने परिवार एवं समाज को देखना है। जो माता-पिता सास-ससुर, पति, जेठ, देवर, जेठानी, देवरानी, ननद, पुत्र, पुत्री नौकर, पड़ोसी अन्य रिश्तेनातेदार आदि के रूप में दूर-दूर तक फैला हुआ है, यहाँ तक ही नहीं, भारतीय संस्कृति के अनुसार पशु-पक्षी तक भी परिवार के अंग है। उनके भरण-पोषण का दायित्व भी गृहस्वामिनी पर है। इसी व्यापक दायित्व के आधार पर भारत के उदारचेता महर्षियों ने कहा है—“न गृहं गृहमित्याहुः गृहिणीगृहमुच्यते”। इंट, पत्थर चूना गारा आदि का बना घर असली घर नहीं है। असली घर तो गृहस्वामिनी गृहिणी है, जो घर की ज्योति है। इसी के प्रकाश में गृह, गृह के रूप में परिलक्षित होता है। अन्यथा चूहों के द्वारा अपने बसेरे के लिए निर्मित बिल में और मानव के घर में क्या अन्तर है? नारी को केवल किसी एक मोर्चे पर ही काम नहीं करना है। पुत्री, भगिनी, पत्नी और माता आदि के रूप में अनेक केन्द्रों पर उसे गुरुतर दायित्व को वहन करना है। उसे एक अच्छी पुत्री, अच्छी बहन, अच्छी पत्नी और एक सर्वश्रेष्ठ अच्छी माँ बनना है। और सर्वत्र अपने उक्त पदों की गरिमा की आकर्षक मूद्रा अंकित करनी है। किन्तु उक्त पदों में एक महत्त्वपूर्ण पद है, जिसकी तुलना अन्य किसी से नहीं की जा सकती। मर्यादा पुरुषोत्तम राम के भावों में और महर्षि वाल्मीकी के शब्दों में जन्मदात्री माँ—“स्वर्गादिपि गरीयसी” है, अर्थात् स्वर्ग से भी बढ़कर है। वह इतिहास प्रसिद्ध माँ मदालसा है, जो अपने नवजात पुत्रों को शुद्ध, बुद्ध निरञ्जन, निर्विकार-स्वरूप उच्च जीवन की स्मृति दिलाते हुए लोरी गा रही है—

**“गृद्धोसि बुद्धोसि निरञ्जनोसि,  
संसार माया-परिर्वाजतोसि।”**

स्पष्ट है, माँ मदालसा की लोरी सुननेवाले पुत्र कभी गलत नहीं हो सकते। संसार की भोग-लिप्सा रूप माया उन्हें कैसे स्पर्श कर सकती है? आज के विकृत मन-मस्तिष्क के भटकाव से अपनी संतानों को बचाना है, तो आज की माँ को मदालसा बनना होगा। इसके अतिरिक्त कल्याण का कोई मार्ग नहीं है—“नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।”

परिवार, समाज एवं राष्ट्र के कल्याण के लिए आज की महत्त्वपूर्ण अपेक्षा है, नारी जाति को प्रारम्भ से सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत बनाया जाए, ताकि वह अपने सामाजिक दायित्वों को यथोचित रूप में समझ सके और समय पर निर्वहण कर सके। वह सामाजिक या धार्मिक सभी प्रकार के अन्ध-विश्वासों, पाखण्डों तथा जीर्ण-शीर्ण कुरूप रूढ़ियों से मुक्त होकर लोकमंगलकारी यथार्थ सत्य का बोध स्वयं प्राप्त करे और दूसरों को भी कराए। एक सुशिक्षित संस्कार संपन्न नारी सृष्टि-चक्र का नाभिकेन्द्र है, जिसमें जीवन निर्माण के सहस्राधिक आरक ओतप्रोत है। नाभिकेन्द्र-धुरी के सुदृढ़ होने में ही चक्र की गति है। गति ही निर्माण है और निर्माण ही आनन्द मंगल का अक्षय स्रोत है।

**मानवता की मंगलमूर्ति : सजग नारी**

२१३





# जीवन-शुद्धि का द्वार

**“जयं भुंजन्तो . . . . . पावकम्मं न बन्धइ ।”**

स्वस्थ शरीर के लिए भोजन की आवश्यकता है । अतः विवेक-पूर्वक भोजन करना पाप नहीं है ।

किन्तु, ध्यान रखना है--

भोजन ही जीवन का लक्ष्य न बन जाए ।  
पेट अन्य प्राणियों की कन्न न हो जाए ।

भारतीय-संस्कृति में आहार-शुद्धि पर विशेष बल दिया गया है। आहार शुद्धि का केवल शरीर-पर ही नहीं, अन्तर्मन पर भी महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। चित्त शुद्धि की साधना का यह प्रथम चरण है। “आहार शुद्धौ सत्त्व-शुद्धि” का निर्घोष आज का ही नहीं, चिरन्तन है, युग-युगान्तर का है।

जो आहार अभक्ष्य है, मांस एवं मद्यःआदि के रूप में विगर्हित है, वह तो निषिद्ध है ही। भारतीय चिन्तन इससे भी आगे बढ़कर एक और रहस्य का उद्घाटन करता है। वह यह कि आहार मूलतः द्रव्य रूप में भले कितना ही शुद्ध हो, उपादेय हो, परन्तु यदि वह अन्याय, अत्याचार, शोषण, उत्पीड़न एवं प्रवंचना से उपार्जित है, तो वह भी अशुद्ध है, अभक्ष्य है। वह भी तन-मन को दूषित करनेवाला होता है। शास्त्रकारों ने इस प्रकार के दूषित आहार की भी स्पष्ट रूप से विगर्हणा की है।

आहार शुद्धि का एक तृतीय चरण और भी है, वह भी कम महत्व का नहीं है। आहार द्रव्य से शुद्ध है, स्वयं के द्वारा अन्याय एवं अत्याचार के द्वारा भी उपार्जित नहीं है। परन्तु, यदि वह किसी अन्य अन्यायी एवं अत्याचारी से प्राप्त है, तो वह भी निन्दित है। वह भी व्यक्ति की मानसिक चेतना को मलिन एवं दूषित करनेवाला होता है। वह भी बौद्धिक भ्रष्टता का जनक है। अतः उसके कारण मानव की सत्यासत्य की निर्णायक शक्ति समाप्त हो जाती है। जीवन का तेज सर्वथा क्षीण हो जाता है।

आहार शुद्धि के उक्त तृतीय रूप के सन्दर्भ में महाभारत युग की एक पुरातन गाथा है। महाभारत का लोम-हर्षक भीषण युद्ध समाप्त हो गया था। बाणों की शय्या पर पड़े हुए भीष्म पितामह उपदेश दे रहे थे। धर्म-ज्ञान की बहुत ऊँची-ऊँची गंभीर बातें बता रहे थे। इसी बीच में महारानी द्रौपदी को हंसी आ गयी।

“बेटी, तू हंसी क्यों ?”—पितामह ने पूछा।

“मुझ से भूल हो गयी। पितामह, मुझे क्षमा करें।” द्रौपदी ने हाथ जोड़कर नम्रता से उत्तर दिया।

“बेटी, तेरी हंसी अकारण नहीं है। द्रौपदी और वह बिना कारण व्यर्थ ही उपदेश के बीच हंस पड़े, यह तीन काल में भी संभव नहीं हो सकता। अतः बिना किसी संकोच एवं झिझक के बता, क्यों हंसी ?”

पितामह, बड़ी गंर जिम्मेदारी की-सी-बात है। फिर भी आपका आग्रह है, आप आज्ञा देते हैं, तो बताती हूँ। “आप उपदेश दे रहे थे, तो मुझे इस बीच खयाल आया कि आज तो आप धर्म की इतनी उत्तम गंभीर व्याख्या कर रहे हैं, जिसकी तुलना अन्यत्र कहीं हो नहीं सकती। परन्तु, कौरवों की सभा में जब दुःशासन मुझे नंगी करने का दुःसाहस कर रहा था, उस समय आपका यह धर्म-ज्ञान कहाँ चला गया था ? मन में उक्त बात के आते ही मुझे बरबस हंसी छूट पड़ी। कृपया मुझे क्षमा करें, इस भूल के लिए। व्यर्थ ही मुझ से आपका अनादर हो गया।”

भीष्म बोले—“इसमें क्षमा, जैसी कोई बात नहीं है, बेटी ! तेरा कहना ठीक ही है। मुझे धर्म-ज्ञान तो उस समय भी था, परन्तु दुर्योधन का अन्यायपूर्ण अन्न खाने से मेरी बुद्धि मलिन हो गयी थी। इस कारण मैं सत्य के समर्थन में दुर्बल हो गया था। किन्तु, अब अर्जुन के बाणों से मेरे शरीर में से उस दूषित अन्न से बना सब रक्त निकल गया है, इसलिए अब बुद्धि शुद्ध हो जाने के फलस्वरूप धर्म की सही व्याख्या कर रहा हूँ।”

भीष्म पितामह के उक्त लाक्षणिक उत्तर एवं समाधान में सत्य का यह स्वर स्पष्टतः अनुगुंजित है कि अन्याय, अन्याय है, अत्याचार, अत्याचार है, फिर वह कहीं भी हो, किसी की भी ओर से हो, त्याज्य है। अन्यायरत दुराचारी व्यक्ति का भोजन सिर झुकाकर आये दिन यों ही लेते रहना, अन्याय का परोक्ष रूप में स्पष्ट समर्थन है। स्वयं के द्वारा किए गए अन्याय से भी दूसरे व्यक्ति के द्वारा किये गये अन्याय को परोक्ष या प्रत्यक्ष समर्थन देना कभी-कभी अधिक भयंकर हो जाता है।

उपर्युक्त निष्कर्ष के सम्बन्ध में एक बात विशेषतः ध्यान देने योग्य है। वह यह कि जान-बूझकर अन्याय की उपेक्षा करना, अन्याय का शरणागत होना, पाप है। परिस्थिति विशेष में या अनजाने में यदि कभी अन्यायी का आहार ले लिया जाए, तो वह भीष्म पितामह के समाधान की परिधि में नहीं आता। अन्याय-जन्य अशुद्धि का मूल तत्त्वतः मन में होता है, बाहर में नहीं।

कुछ लोगों का विश्वास है कि धर्मात्मा, न्याय-निष्ठ, सदाचारी व्यक्ति के यहाँ का भोजन एकान्ततः चित्त शुद्धि का हेतु होता है, और दुराचारी के यहाँ का अशुद्धि का। इस सम्बन्ध में मेरा तर्क और है। यदि कोई साधक धर्म का, न्यायनीति का स्वयं के अन्तर्मन में संकल्प रखता है, तो वहाँ चित्तशुद्धि स्वतःसिद्ध है और वह स्वयं के विचार से है। उसका सम्बन्ध अन्न से नहीं है। यदि अन्न से हो तो फिर किसी भी उत्कृष्ट सदाचारी, न्याय-निष्ठ के हाथ का अन्न लेकर साधारण जनता को आध्यात्मिक गोलियों के रूप में खिला दें, ताकि जनता की सहज ही चित्त-शुद्धि हो जाए और अपराधकर्मियों की मानसिक विकृतियाँ समाप्त हो जाएँ। पर क्या यह संभव है ?

आहार शुद्धि के तीन चरण हैं, सर्वप्रथम आहार का मूल द्रव्य शुद्ध हो, दूसरा वह अन्याय से अर्जित न हो, और तीसरा, अन्याय के प्रत्यक्ष या परोक्ष समर्थन से भी लिप्त न हो। अन्यायी का आहार न लेने की अर्थ इतना ही है कि समाज के मानस में उसके अन्याय को प्रतिष्ठा देने जैसी स्थिति न होने पाए।

आहार शुद्धि का चतुर्थ चरण ध्यान में रखने जैसा है। शुद्ध आहार ग्रहण करने का उद्देश्य क्या है ! यदि आहार सत्कर्म करने की भावना से ग्रहण किया जाता है, तो वह श्रेयस्कर होता है। यह चतुर्थ चरण आहार शुद्धि का सर्वोत्कृष्ट शिखर है। कृपया इसे न भूलें।

# ज्योतिर्मय कर्म-योग

धन्य धन्य हैं वे नारी-नर,  
कर्म-निरत है जिनका जीवन ।  
निज-पर का कल्याण-हेतु है,  
कर्म-योग का पथ अति पावन ॥

जिस की जड़ में ज्ञान रहा है,  
और अन्त में जनहित फल है ।  
वह ज्योतिर्मय कर्म-योग है;  
जहाँ अमंगल भी मंगल है ॥

जीवन का अर्थ है कर्म की धारा का सतत बहते रहना। यह वह धारा है, जो एक क्षण के लिए भी कहीं न रुके। निरन्तर बहती जाए, बढ़ती जाए, एक के बाद एक मंजिलों को पार करती जाए। यदि यह कर्म-शक्ति की धारा कभी कहीं रुक जाती है, तो जानते हो, उस समय क्या होता है? तब वह जीवन, जीवन नहीं रहता, जिन्दगी जिन्दगी नहीं रहती। कर्म-शक्ति का रुक जाना, एक प्रकार से बाहर में जीवन रहते हुए भी अन्दर में जीवन का रुक जाना है। और इसका अर्थ है मृत्यु। यह मन की मृत्यु तन की मृत्यु से भी भयंकर है। जीते हुए भी मुर्दे की तरह सड़ना है, गलना है।

गति ही जीवन है और जीवन ही गति हैं। और स्थिति क्या है? स्थिति है मृत्यु। जब भी कोई व्यक्ति आलसी एवं निरुद्यमी होकर, आराम की तलाश में निष्क्रियता की जड़ शय्या पर, यह सोचकर लमलेट हो जाता है कि “बहुत-कुछ कर लिया। अब क्या करना है? सारी जिन्दगी क्या इसी तरह घुड़दौड़ लगी रहेगी? अब तो शान्ति से आराम करना चाहिए।” समझ लो यह शान्ति नहीं, जीवन की ही, ओम्-शान्ति है। ओम्-शान्ति, अर्थात् समाप्ति। कर्म का तेज समाप्त होते ही आदमी भी समाप्त हो जाता है। अग्निदेव का तेज समाप्त हुआ कि वह भस्म का ढेर बना।

**यथा-प्रसंग मोड़ बदलते रहिए :** हर कर्म का एक समय होता है, एक परिस्थिति होती है। अतः समय एवं परिस्थिति के अनुसार कर्म को मोड़ देते रहना चाहिए। धारा को यथाप्रसंग मोड़ देना बुरा नहीं है। कर्म करने का यह अर्थ नहीं कि अंधे हाथी की तरह निर्विवेक एक ही दिशा में दौड़ते चले जाएँ। मोड़ का बदलना अलग बात है और कर्म-शून्य होकर अंधेरे कोने में बैठ जाना अलग बात है। कर्म के एक रूप से कुछ दूर चलकर अरुचि या श्रान्ति हो, तो कर्म का दूसरा रूप पकड़ो। आवश्यकता के अनुसार कर्म का रूप बदला जा सकता है, देशकालानुसार उसे उचित मोड़ दिया जा सकता है, किन्तु कर्म-शून्य होकर शव की भांति मरघट में पड़ा नहीं जाता है। शव भी कब तक पड़ा रह सकता है? जल्दी ही जमीन में गाड़ कर या अग्नि में जलाकर ठिकाने लगा दिया जाता है। कर्म-शून्य व्यक्ति भी आराम क्या करेगा? प्रकृति देवी जल्दी ही उसे ठिकाने लगा देती है। कर्म नहीं करना है तो चलो, यहाँ पड़े रहकर क्या करोगे?

**जीवन गंगा की धारा :** गर्मी हो, सर्दी हो, धूप हो, छाया हो, दिन हो, रात हो, गंगा को हर क्षण बहना है। निरन्तर बहते रहने में ही गंगा की दिव्यता है, स्वच्छता है, निर्मलता है। यदि गंगा के मूल प्रवाह से भटक कर कोई जलधारा पास के किसी गर्त में, गड्ढे में गिर जाए, तो वह कुछ ही दिनों में सड़ने लगेगी। कीड़े पड़ जाएँगे उसमें, दुर्गन्ध आने लगेगी उसमें से। रोग फैलानेवाले मच्छरों का तथा अन्य जहरीले कीटाणुओं का केन्द्र बन जाएगा, वह एक दिन का पवित्र जल। और तब वह जीवन नहीं, मृत्यु बाँटेगा जनता में। प्रवाह ठहरा, कि सड़ा। सड़ा कि मरा। गंगा में गोता लगानेवाले गंगा-भक्त भी उक्त सड़ते गर्त के पास से नाक बन्द कर थू-थू करते ही निकलते हैं। वह दुर्गन्ध असह्य हो जाती है।

जीवन भी कर्म की गंगा है। यह, अवरुद्ध हुई कि तत्काल सड़ने लगेगी। यह स्वच्छ तभी तक है, जब तक कि इसमें प्रवाह है, वहाव है। छल-छल एवं कल-कल के मधुर नाद से गुंजती हुई जब तक यह बहती रहती है, तभी तक स्वच्छ है। अन्यथा सड़ती-सड़ती एक दिन यह समाप्त हो जाएगी, मृत्यु की गोद में समा जाएगी। अतः न गर्मी की चिन्ता करो, न सर्दी की, न वर्षा की। यह तो प्रकृति का क्रम है, चलता रहेगा। तुम तो स्वीकृत कर्म के पथ पर निरन्तर चलते रहो, चलते रहो। जो चलता है, वही ब्रह्मर्षि महीदास के शब्दों में—“मधु विन्दति”—मधु पाता है।

**समुद्र देखा है कभी? :** आपने कभी विशाल जलस्रोत, सरोवर, झील या निर्झर देखे हैं? कितना सुन्दर दृश्य होता है वहाँ का। प्रातःकाल सूर्य की सुनहली किरणें झलमलाती हैं जल पर, तो लगता है धरती पर स्वर्ग उतर आया है। बहनेवाली धाराएँ एक गति से बह रही हैं, तरंग-पर-तरंग उठ रही हैं, संगीत की एक मधुर ध्वनि-सी गुंजित है। कितने ही जरूरी काम हैं, फिर भी वहाँ से हटने का मन नहीं होता। बस, घंटों ही तट पर खड़े-के-खड़े रह जाते हैं, एक विलक्षण आनन्द में आत्मविभोर!

में सन् ६१ में कलकत्ता का वर्षावास समाप्त कर उत्कल प्रदेश में जगन्नाथपुरी तक गया था। पूज्य तपस्वी जगजीवनजी महाराज भी साथ थे। उड़ीसा की यात्रा धर्म-प्रचार की दृष्टि से बड़ी सुखद रही। समुद्र देखने की मेरे मन में बड़ी उत्कण्ठा थी। सर्वप्रथम बालासर में, उसके बाद जगन्नाथपुरी और कोणार्क में समुद्र देखा। अतीव अद्भुत दृश्य! शास्त्रों में समुद्र का वर्णन पढ़ा था। पर, जब वह यथार्थ रूप में आँखों के सामने आया, तो पता चला कि वास्तव में समुद्र क्या है? तट पर खड़े रहे, और देखते रहे। तट पर से जहाँ कहीं भी नजर इधर-उधर जाती थी, जल-ही-जल दिखाई देता था, किनारा कहीं नजर नहीं आता था। जिधर देखो उधर ही लाखों-करोड़ों लहरें जल पर नाच रही हैं। लगता था जैसे अपने लाखों लाख हाथ ऊपर उठाए समुद्र अपनी तरंग में, मस्ती में नाच रहा है। एक के बाद एक लहर दौड़ रही है। इस प्रकार लाखों लाख लहरें आकर समुद्र से टकराती हैं और बिखर जाती हैं। गरज रहा है सागर। दिन को भी, रात को भी। एक क्षण के लिए भी विग्राम नहीं। दिन हो या रात हो, सर्दी हो या गर्मी हो, उसके लिए सब बराबर है।

मैंने सोचा, भगवान् को, तीर्थंकर को जो समुद्र की उपमा दी गई है, वह बिल्कुल ही ठीक है। भगवान् वही है, जो क्षणभर के लिए भी श्रान्त नहीं होता है। ईश्वर का अर्थ भी यही है कि जो सृष्टि के निर्माण में हरक्षण संलग्न रहता है। सागर की तरह हरक्षण कर्म-तरंगों का नर्तन ही ईश्वरत्व है।

तलैया सूख जाती है, पर सागर नहीं सूखता। सागर एक जीवन है। सागर की तरह जीवन हरक्षण कर्म की उल्लंघनी नाचती लहरों से लहराता रहना चाहिए। साहस के साथ, दृढ़ संकल्प के साथ सागर की तरह गर्जते रहो, कर्म-क्षेत्र में लहरों की तरह नाचते रहो।

**आगे बढ़िए महकते बदरीवन में :** आचार्य भद्रवाहु स्वामी की एक रूपक कथा है। गाँव के बाहर एक कुबड़ी बेरी है। बेर खट्टे, काने, कीड़ों से भरे हुए। गाँव के नादान बच्चे उसी कुबड़ी बेरी से चिपटे रहते हैं। दो-चार-बेरों के लिए आपस में झगड़ते हैं, मारपीट करते हैं। पत्थर मारने पर दो-चार बेर टूट कर ज्यों ही नीचे धूल में गिरते हैं, बच्चे दौड़कर वे खट्टे और काने बेर खाते हैं, बीमार पड़ते हैं। एक दिन एक साहसी किशोर ने कहा, "अरे यहाँ क्या करते हो? चलो, दूर जंगल में वहाँ बहुत अच्छे बेरों का वन है। पक्के और मीठे अच्छे बेर खायेंगे। सब बालक बेरों के वन में जाते हैं और वहाँ सुगन्ध से महकते, मादक पके बेर खूब जी भर कर खाते हैं। और वन से लौटते समय वे झोलियाँ भर-भर कर घर भी लाते हैं। दिल खोलकर गाँव के बूढ़ों, बच्चों, युवकों और महिलाओं को बाँटते हैं। मीठे बेर होने से सब तरफ "वाह-भाई-वाह" का जयघोष गूँज उठता है।

यह 'वाह-वाह' किस को मिलती है? जो कर्म समर में साहस के साथ कूद पड़ते हैं, और विजय प्राप्त करके ही दम लेते हैं। जो लोग कोने में पड़े रहते हैं, मक्खी-मच्छरों की तरह भिनभिनाते रहते हैं, पड़े-पड़े उबासियाँ लेते रहते हैं, उनको कौन वाहवाही देता है, कौन उनके कीर्ति-गान गाता है, कीर्ति-गान जैसा क्या है उनके पास?

मैंने बहुत से लोगों को देखा है। गाँव में पड़े हैं, न कोई धंधा, न कोई अन्य साधन। बच्चे भूखे हैं, पत्नी भूखी है, बूढ़े माँ-बाप भूखे हैं। और ये सज्जन ऐसे हैं कि गाँव छोड़कर कहीं दूर बड़े नगर में जाने का साहस नहीं करते। सड़ा-गला जीवन गुजार रहे हैं। पर, कर्म के नये द्वार खोलने का नाम नहीं लेते। उनके ही अनेक साथी बाहर गए हैं, समुद्रों को लांघकर द्वीपान्तरो तक पहुँचे हैं। देखते-देखते धनकुबेर हो गये हैं। चारों ओर उनका यश है। और ये निकम्मे सोये पड़े हैं। आँख ही नहीं खुलती गृहशूरो की।

आचार्य जिनदास गणी ने ऐसे ही अपने जाने-पहचाने गाँवों में चक्कर काटनेवाले भिक्षुओं को भी ग्राम-पिण्डोलक कहा है। कुबड़ी बेरी के खट्टे और सड़े-गले फल खानेवाले आलसी बच्चों के साथ उनकी तुलना की है। गाँव की रोटियों पर पड़े हैं। यह नहीं कि दूर-दूर तक के प्रदेशों में भ्रमण करें, साहस के साथ धर्म प्रचार के नये आयाम खोजें, नये द्वारों पर अलख जगाएँ। बस, वहीं बंधे-बंधाये घरों में सुबह-शाम भिक्षापात्र धूम रहा है, और शुद्धाचार के पालन का अहंकार गर्ज रहा है। अन्यत्र नये प्रदेशों में इनका शुद्धाचार नहीं पल सकता। लगता है कल का तेजस्वी भिक्षु आज की दीन-हीन पंडागिरी पर उतर आया है। आचार्य जिनदास मजाकी प्रकृति के भी थे। अतः ऐसे ग्राम-प्रतिबद्ध भिक्षुओं को उन्होंने ओदनमुण्ड के नाम से सम्बोधित किया है। ओदन-



मुण्ड अर्थात् खाली ढाल-भात के लिए सिर मुंडानेवाले भिक्षु। वे ओदनमुण्ड भिक्षु ही थे, जो संकट पड़ने पर अंग, बंग, कलिंग आदि प्रदेशों से, जहाँ एक दिन भगवान् महावीर और उनके हजारों भिक्षु धर्म-विजय का जयनाद गुंजाते हुए घूम रहे थे, दुम दबाकर भाग खड़े हुए थे। तेजोहीन निर्जीव लोगों के लिए भागने के सिवा दूसरा मार्ग ही क्या हो सकता है ?

**क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति :** ब्रज प्रदेश में कंस का अत्याचार चरम सीमा पर था। वह यादव होकर भी यादवों का घोर शत्रु था। चारों तरफ मृत्यु नाच रही थी। यादव और अन्य प्रजा-जन गुलामों का-सा जघन्य जीवन जी रहे थे। चरवाहों की-सी जिन्दगी। कृष्ण ने कंस को मल्लयुद्ध में समाप्त कर दिया था। अब कंस के श्वसुर मगधाधिपति जरासन्ध के आक्रमण के आतंक से ब्रज में रहना दूभर हो गया सब को। पर, कोई भी जन्मभूमि छोड़ने के लिए तैयार नहीं। श्रीकृष्ण ने कहा, “इस तरह जन्मभूमि के नाम पर असुरक्षित ब्रज प्रदेश से चिपटे रहने में क्या लाभ है। ठीक है हजारों पीढ़ियाँ हमारी यहाँ गुजरी हैं, पर अनादिकाल से तो हम यहाँ नहीं हैं। एक दिन कहीं से आकर ही यहाँ डेरा डाला गया था। अब चलो, अन्यत्र कहीं सुरक्षित स्थान में डेरा डालेंगे। अगर जीवन में कुछ ज्योति है, प्राणों में कुछ दम है, भुजाओं में कुछ बल-विक्रम है, तो अन्यत्र यहाँ से भी अच्छा एक नया साम्राज्य स्थापित करेंगे। कर्मठ कर्मवीर लोगों को काम करने के लिए विराट् भूमि का खुला मैदान पड़ा है। ऐसे लोग कहीं भी, शून्य में भी जाकर नव निर्माण कर सकते हैं। और, ऐसे लोगों को जीवन-विकास के पथ पर कुछ-न-कुछ नया निर्माण करना ही चाहिए। मरघिल्ले साहसहीन लोग ही चूहों की तरह बिल में घुसे हुए पुरानी प्रतिबद्धताओं के राग आलापा करते हैं।

श्री कृष्ण बिलकुल ठीक कहते हैं। ये स्वदेश और विदेश के राग ही व्यर्थ हैं। साहसी के लिए सर्वत्र स्वदेश ही है, विदेश कहीं है ही नहीं। सिंह जिस वन में भी जाएगा, उसी वन का राजा मृगराज कहलायेगा। सिंह को वन का राजा किसने बनाया ? किसने उसका राज्याभिषेक किया ? किसने उसे कहा कि लो यह राज-मुकुट पहनो और वन जाओ राजा ? सिंह ने जो यह राजपद पाया है, अपने बल-विक्रम से पाया है—

“मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रत्वं, द्वितीर्णं केन कानने ?  
विक्रमार्जित-सत्वस्य, स्वयमेव मृगेन्द्रता ॥”

किसी के पिता ने सुविधा के लिए अपने घर के आंगन में ही एक कुंआ खुदवाया। दुर्भाग्य से पानी खारा निकला। पिता चल बसे। जीते रहते तो संभव है कोई अन्य नया उपक्रम करते। अब यह दायित्व पुत्रों पर आया। परन्तु, पुत्र आलसी। नया कुछ यत्न नहीं किया। कुँए का वही खारा पानी पीते रहे, बीमार पड़ते रहे, घर के बाल-बच्चे और महिलाजन सब परेशान होते रहे। गाँव से कुछ दूर मीठे पानी के कुँए थे। पर कौन वहाँ जाए ? लोग कहते भी कि अरे खारा पानी क्यों पीते हो ? जरा मेहनत करो। दूर के कुँए से मीठा पानी ले आया करो। इस पर आलसी बेटों का एक तर्क होता था, जिसमें पितृ-भक्ति की दुहाई दी जाती थी कि “हमारे बाप का खुदवाया हुआ कुंआ है। खारा है तो क्या है ? यदि हम ही इसका जल नहीं पीएँगे, तो दूसरा कौन पीएगा ? कुछ भी हो, दूसरे कुँओं का नहीं; अपने बाप के कुँए का ही खारा जल पीएँगे।” क्या यह सचमुच में पितृ-भक्ति है ? इसी भाव को स्पष्ट करते हुए एक कवि ने देश, जाति, कुल आदि की प्रतिबद्धता वाले लोगों को कभी फटकारा था—

“यस्यास्ति सर्वत्र गतिः स कस्मात्  
स्वदेश-रागेण हि पाति खेदम् ।  
तातस्य कूपोज्यमिति सूत्राणाः,  
क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति ॥”

आप जानते हैं, श्री कृष्ण के द्वारा ब्रज परित्याग का इतिहास क्या है ? ब्रज छोड़ कर यादवों ने क्या किया, क्या पाया। श्री कृष्ण के नेतृत्व में यादव चलते-चलते पश्चिम समुद्र के तट पर सौराष्ट्र में पहुँच गए। कर्मठ और साहसी यादव जाति ने एक विशाल यादव साम्राज्य का निर्माण किया, सोने की द्वारका नगरी बसाई।

भारतीय भूतल पर चहुँ ओर अपनी विजय-पताकाएँ फहरा दीं। हजारों वर्ष बीत गए हैं, पर आज भी लाखों-लाख लोग उस महान् कर्मयोगी श्री कृष्ण के भक्तिपूर्ण गीत गाते हैं, श्रद्धा से पूजन-अर्चन करते हैं। विरोधियों ने विरोध करने में कसर नहीं छोड़ी, उन पर स्यमन्तक मणि की चोरी आदि के लांछन भी लगाए गए। भरी सभा में शिशुपाल जैसे ने उनको गालियाँ दीं। दुर्योधन जैसे ने उन्हें मूर्ख ग्वाला कहकर पुकारा, पर क्या इससे कृष्ण का तेज धूमिल हो सका? सूर्य बादलों में कब तक छिपा रह सकता है? सूखे घास में चिनगारी कहाँ तक दबी रह सकती है? कृष्ण अन्धकार से बराबर लड़ते रहे, और धरती से लेकर अंबर तक प्रकाशमान होते रहे। आज भी उनका दिव्य प्रकाश करोड़ों-करोड़ जनता के मन-मस्तिष्क पर छाया हुआ है। आज भी उनकी गीता समुद्र-पार के सुदूर देशों में भी गूँज रही है। गीता में श्री कृष्ण के कर्म-योग का तेजस्वी सुदर्शन चक्र आज भी गतिशील है।

जीवन में सूर्य-सा तेज चाहिए, प्रकाश चाहिए। पर, दीपक जैसा टिम-टिमाता न हो कि तेल खत्म हुआ, या हवा का कोई झोका धक्का दे गया और बेचारा दीपक बुझ गया। दीपक हवा के झोके से बुझ सकते हैं। परन्तु, सूर्यदेव, जो विश्व का दीपक है, वह तूफानी आँधियों में भी कहाँ बुझता है?

**कुतर भुंसत वा को भुंसवा दे :** जीवन में गतिशीलता बनी रहनी चाहिए। गति में भी नित्य नयी प्रगति विकसित होती रहनी चाहिए। इस गति एवं प्रगति का अर्थ यों ही आंख बंद किए दौड़ना-भागना नहीं है। इसका अर्थ है; विवेक के प्रकाश में कर्म की धारा का निरन्तर प्रवाहित रहना। बीच में बाधाएँ आ सकती हैं, कभी सुख की तो कभी दुःख की, कभी यश की तो कभी अपयश की। किन्तु, तेजस्वी जीवन को इस तरह बीच में कहीं रुकना नहीं है। पथ में कभी कांटें भी बिछे मिल सकते हैं। क्या बात है, कांटें साफ करो, और आगे बढ़ो। फूलवाड़ी में कहीं फूल भी महकते मिल सकते हैं। कोई बात नहीं। कुछ क्षण सुगन्ध का आनन्द भी ले सकते हैं। पर, सावधान! आसन जमा कर न बैठ जाइए। बस, चलते रहिए फूलों के बीच में से भी और कांटों के बीच में से भी। सुख हो, दुःख हो, यश हो, अपयश हो, जय-जय हो, हाय-हाय हो, कुछ भी हो, कर्म के पथ पर बढ़ते रहिए। कर्मयोगी के लिए यह हाय-हाय भी जय-जयकार ही है। राष्ट्र के महान् नेता इस हाय-हाय के बीच में ही पनपते हैं, मुर्दाबाद के नारों में ही जिन्दाबाद का मजा लेते हैं। यदि ऐसा न हुआ होता, तो आज महात्मा गान्धी और जवाहरलाल नेहरू का क्या अस्तित्व रहता?

संत कबीर मस्त प्रकृति के फक्कड़ संत थे। सत्य के प्रति सर्वात्मना समर्पित होनेवाले ऐसे ही फक्कड़ होते हैं। कबीर जैसे निर्भय, असत्य को ठोकर लगाकर बात करनेवाले साधक विरले ही होते हैं।

जो लोग इधर-उधर की निन्दा-चुगली से, अपयश से, अपमान से डर कर कर्तव्य-पथ छोड़ बैठते हैं, उनको सम्बोधित करते हुए कबीर कहता है—“भाई भगवान् का स्मरण करो। उसके बताये पथ पर चलते जाओ। यदि कुछ लोग निन्दा करते हैं तो करने दो। तुम्हारा क्या विगड़ता है? राजपथ पर हाथी अपनी मस्त चाल से चलता जा रहा है। अगल-वगल में कुत्ते भौंक रहे हैं। पास आने की हिम्मत किसी की नहीं है। दूर खड़े भौं-भौं का शोर मचा रहे हैं। क्या इन कुत्तों के भौंकने से हाथी अपनी चाल छोड़ देता है? कुत्ते तन का सारा जोर लगाकर भौंकते रहें। गजराज तो खूब मस्ती में झूमता हुआ, सुंड फटकारता चल रहा है। कुत्तों के बीच में हाथी बनना ही होगा। अन्यथा, कुत्ते चलने नहीं देंगे। कर्मक्षेत्र में आनेवाले यश-अपयश के, निन्दा-स्तुति के द्वन्द्व ही कुत्ते हैं। ये तो भौंकते ही हैं। भौंकने दो इन्हें। तुम तो अपनी निर्धारित मंजिल की ओर बढ़ते रहो। मंजिल पर पहुँच कर ही विश्राम लेना है, बीच में नहीं”—

“तू तो राम सुमर जग लड़वा दे,  
हाथी चलत है अपनी गति से,  
कुतर भुंसत वां को भुंसवा दे,  
तू तो राम सुमर जग लड़वा दे।”

जग लड़ता है, झगड़ता है। लड़ने दे भाई जग को। उसका तो काम ही लड़ना है। वह यही काम

करता रहा है, करता रहेगा। वह किससे नहीं लड़ा है? जग ने किस महापुरुष को, किस महानारी को छोड़ा है? पर कर्मवीर आत्माओं ने कब इन की परवाह की है? बस, इनकी ओर ध्यान ही नहीं देना है। ध्यान देना है, अपने गन्तव्य लक्ष्य की ओर।

जग से पूछने की बात नहीं है, मन से पूछ लेने की बात है। सर्वप्रथम अपने मन से पूछ लेना है कि कर्तव्य के प्रति तेरा दिल साफ है कि नहीं, तेरा इरादा पाक है कि नहीं। कर्म के प्रति तेरी निष्ठा है कि नहीं। यदि तेरा कर्म आत्म-हित की दिशा में, जन-हित की दिशा में समयोचित है और तू उसे पवित्र संकल्प से करना चाहता है, तो तू निर्भय और निर्द्वन्द्व अपने पथ पर चल पड़। फिर तुझे किसी से डरने की, घबराने की कोई जरूरत नहीं है। कहा था कभी किसी ने इसी सन्दर्भ में—

“दिल साफ तेरा है कि नहीं, पूछले जी से,  
फिर जो कुछ भी करना हो, कर तू खुशी से,  
घबरा न किसी से।”

**कर्म-योगी महावीर :** वैशाली क्षत्रियकुण्ड का राजकुमार वर्धमान महावीर तीस वर्ष की मादक तुरुणाई में सत्य की खोज के लिए महलों से निकल पड़ा। कभी वैभारगिरि जैसे पर्वतों के ऊँचे शिखरों पर, कभी सप्तपर्णी जैसी अन्धकाराच्छन्न गहरी गुफाओं में, कभी भयंकर निर्जन वनों में, कभी वेगवती सरिताओं के तट पर ध्यान लगाता रहा, आत्म-निरीक्षण करता रहा। साढ़े बारह वर्ष की सुदीर्घ तपः साधना के बाद ऋजुबालिका नदी के तट पर अन्तर्लिन हुए, तो केवल्य प्राप्त किया। केवल्य बोध हुआ कि तत्काल ही प्राप्त सत्य का उपदेश दिया। पर किसी ने कुछ ग्रहण नहीं किया। अस्तु, रात्रि में ही चलकर प्रातः पावापुरी के महासेन वन में पहुँचे। समवसरण लगा। असत्य का निराकरण करते हुए निर्भय भाव से सत्य की स्थापना की। श्री इन्द्रभूति गौतम जैसे ग्यारह महामनीषी उच्चवंशीय ब्राह्मण विद्वानों ने दीक्षा ग्रहण की। इनके साथ ही अन्य चार हजार चार सौ ब्राह्मणों ने भी आर्हती प्रव्रज्या स्वीकृत की। एक ही दिन में इतनी बड़ी जनसंख्या में जीवन परिवर्तन का दूसरा उदाहरण आसपास के इतिहास में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। यह सब भगवान् महावीर के कर्म-योग की देन है। यदि वे केवलज्ञान पाकर शान्त बैठ जाते कि बस, मुझे जो पाना था वह पा लिया। अब मुझे क्या करना है इधर-उधर की भाग-दौड़ से? शान्ति से जीवन गुजारना चाहिए। तो आप ही बताइये, पावापुरी में यह महत्वपूर्ण धर्म-क्रान्ति होती? सत्य का इतना व्यापक प्रचार होता? असत्य का कुहासा छटता? स्पष्ट है, ऐसा कुछ भी नहीं होता। केवलज्ञान की प्राप्ति से पूर्व सत्य की तलाश में साढ़े बारह वर्ष तक वन-वन घूमते रहे और जब केवलज्ञान हो गया तो लगातार तीस वर्ष तक एक देश से दूसरे देश, एक नगर से दूसरे नगर, एक गांव से दूसरे गांव प्राप्त सत्य की निर्द्वन्द्व घोषणा करते रहे। कभी गंगा के इस पार तो कभी गंगा के उस पार, कभी यमुना और गण्डकी के इधर तो कभी उधर, कर्मयोगी महावीर हजारों भिक्षु और भिक्षुणियों के संघ के साथ विहार करते रहे। जनता को सत्य का उपदेश देते रहे। कभी वैशाली तो कभी राजगृह, कभी चम्पा तो कभी कौशाम्बी, दूर-दूर के नगरों को स्पर्श करते रहे, विशाल जल-धाराओं को नौकाओं से पार करते रहे। कितना तीव्र वेग था उनकी धर्म-चेतना में। आगे-आगे महावीर हैं। पीछे-पीछे गौतम चल रहे हैं, सुधर्मा चल रहे हैं, हजारों भिक्षु चल रहे हैं। एक समय की कुमुमकोमला राजकुमारी चन्दना और मृगावती जैसी रानियाँ भी भिक्षुणी बनी हुई हैं। और वे हजारों भिक्षुणियों के साथ कदम-कदम प्रभु महावीर का अनुगमन कर रही हैं। यह था कर्मयोग का जीवित दर्शन। द्वार-द्वार सच्चे धर्म की ज्योति जलाई जा रही है। कहीं अपमान मिलता है, तो कहीं सम्मान मिलता है। कोई चिन्ता नहीं मान-अपमान की।

आखिर में निर्वाण का समय है। दो दिन से निरन्तर निरन्न एवं निर्जल उपवास है। और महावीर की निरन्तर सोलह प्रहर से वाग्धारा बह रही है। दिन में भी रात में भी सतत धारा। एक-दो घंटे तो क्या, एक दो क्षण का भी विश्राम नहीं। इसे कहते हैं जीवन! इसे कहते हैं कर्तव्य के प्रति समर्पण। इसे कहते हैं सत्य के प्रति समर्पित श्रद्धान। बस, इसी की अपेक्षा है जीवन-निर्माण के लिए। वह दिन धन्य होगा, जिस दिन हमारे जीवन में भी कर्मयोग का यह महानाद गुंजेगा। हम भी सत्य के प्रति, कर्तव्य के प्रति इसी तरह समर्पित होंगे। अबाध गति से हमारी कर्मधारा भी इसी तरह प्रवाहित होगी। और, जब ऐसा कुछ होगा तो फिर क्या कमी रहेगी?

नहीं, कुछ भी कमी नहीं रहेगी। महावीर कहते थे—यदि तू करना चाहे, तो सब कुछ कर सकता है। मूल में संकल्प चाहिए कुछ कर गुजरने का।

“क्या कमी तुझे है त्रिभुवन में,  
यदि तू पाना चाहे।  
सब-कुछ करने की क्षमता है,  
यदि तू करना चाहे॥”

# दीक्षा : दूसरा जन्म

## दीक्षा

दीक्षा का पथ असिधारा है,  
विरले ही चल पाते हैं।  
जो चलते हैं आत्मदेव के  
दर्शन वे कर पाते हैं ॥

कब का सोया अन्दर में वह  
देव, जगाना है उस को।  
धन्य धन्य वह, दीक्षा को यह  
अर्थ-चेतना है जिसको ॥

# दीक्षा

- दीक्षा  
असत् से सत् की ओर,  
तमस् से आलोक की ओर  
मृत्यु से अमरत्व की ओर  
अग्रसर होनेवाली  
एक अखण्ड ज्योतिर्मय  
जीवन यात्रा !
- दीक्षा  
बाहर से अन्दर में  
सिमट आने की  
एक अद्भुत आध्यात्मिक साधना है, तो  
अन्दर से बाहर फैलने की  
एक सामाजिक कमनीय कला भी है !  
आध्यात्मिकता और सामाजिकता का  
सुन्दर समन्वय है इस पथ पर !
- दीक्षा  
अशुभ का बहिष्कार है,  
शुभ का संस्कार है,  
शुद्धत्व का स्वीकार है !  
'स्व' की 'स्व' से 'स्व' को  
सहज स्वीकृति ही तो दीक्षा है !
- दीक्षा  
स्वयं पर स्वयं का शासन  
स्वयं पर स्वयं का नियंत्रण,  
सद्गुरु मात्र साक्षी है,  
पथ का भोमिया है,  
शेष सब-कुछ शिष्य पर !  
जगाता गुरु है, कर्ता-धर्ता शिष्य है ।
- श्रद्धा का घृत,  
ज्ञान की बाली,  
कर्म की ज्योति,  
यही है दीक्षा का मंगल दीप,  
जिसकी स्वर्णम आभा से  
हो जाता तमसावृत अन्तर,  
ज्योतिर्मय अक्षय अजरामर !

- शत्रु-मित्र में  
यश-अपयश में  
हानि-लाभ में  
सुख में दुःख में  
सहज तुल्यता समरसता ही  
दीक्षा का सत्यार्थ बोध है  
इसीलिए दीक्षा का सत्पथ  
नहीं नरक लोक को जाता  
नहीं स्वर्ग लोक के प्रति ही  
वह जाता है मात्र मोक्ष को।  
और मोक्ष है,  
'स्व' का 'स्व' में  
सदा-सदा के लिए निमज्जन !
- 'मैं' 'तू' में मिल जाए,  
'तू' 'मैं' में मिल जाए,  
प्राण-प्राण में सदा-सदा को  
निजता ममता धूल-मिल जाए,  
जो भी है समरस हो जाए,  
यह अनुपम अद्वैत योग ही  
जिन-दीक्षा का विमल योग है !



सत्य की खोज जीवन की सबसे बड़ी प्यास है। किन्तु, यह कितना बड़ा दुर्भाग्य है मानव-जाति का कि बहुत कम लोग सत्य की इस प्यास को ठीक तरह महसूस कर पाते हैं। और, वे लोग तो अंगुलियों पर ही गिनती में आते हैं, जो इस प्यास को बुझाने के लिए यत्नशील होते हैं। सत्य का क्षीर-सागर भरा है, किन्तु दो घूंट पीने के लिए भी कोई प्रस्तुत नहीं है। प्रथम तो प्यास ही नहीं लगती है, और लगती भी है, तो उस ओर गति नहीं होती।

सत्य के खोज की दो दिशाएँ रही हैं, मानव जाति की अब तक की चेतना में। एक दिशा बाहर में है, तो दूसरी दिशा अन्दर में है। एक बहिर्मुख है, तो दूसरी अन्तर्मुख है।

जब मानव-मस्तिष्क ने बाहर में सत्य को खोजना प्रारम्भ किया, तो उसने जड़ प्रकृति तत्त्व को देखा, उसकी गहराई में पैठा, और परमाणु जैसे सूक्ष्म तत्त्व को और उसकी विराट् शक्ति को खोज निकाला। मानव सभ्यता ने बड़ी शान के साथ परमाणु-युग में प्रवेश किया। और, यह उसी का चमत्कार है कि धरती पर का यह मिट्टी का मानव आज चन्द्रलोक में चहल-कदमी करने पहुँच गया है। परमाणु की खोज ने एक तरह से विश्व का मानचित्र ही बदल कर रख दिया है।

और, जब अन्दर में खोज प्रारम्भ हुई, तो परमात्म-तत्त्व को खोज निकाला। बाहर के विश्व से भी बड़ा एक विश्व मानव के अन्तर् में रह रहा है। “अणोरणीयान्” और “महतो महीयान्” की एक अनन्त ज्योति इस देह के मृत्पिण्ड में समायी हुई है। जिसे हम आत्मा कहते हैं, उसी का अनन्त विशुद्ध रूप ही तो वह परमात्म-तत्त्व है, जिसकी प्राचीन ऋषि-महर्षियों ने खोज की है।

परमाणु और परमात्मा दोनों ही सत्य के दो केन्द्र बिन्दु हैं। पहला जड़ पर आधारित है, तो दूसरा चैतन्य पर। पहले की खोज का माध्यम प्रयोग है, तो दूसरे की खोज का माध्यम योग है। दोनों की खोज में अन्तर केवल इतना है कि, बाह्य जगत् की खोज में एक वैज्ञानिक की साधना दूसरे की साधना का आधार बन सकती है। पहले की खोज दूसरे के काम आ सकती है। पहले की साधना का उपयोग करके आगे आनेवाला दूसरा अपनी साधना को आगे बढ़ा सकता है। इतना ही नहीं, वर्तमान के अपने सहयोगियों का साथ भी बाहर के विज्ञान की खोज में काफी सहायक सिद्ध हो सकता है। परन्तु, जहाँ तक अन्तर्जगत् की खोज का प्रश्न है, उसमें ऐसा कुछ नहीं है। हर साधक को शून्य से ही अपनी साधना का प्रारम्भ करना होता है। यहाँ दूसरे व्यक्ति की साधना या खोज कोई खास काम नहीं आती। यह ठीक है कि अन्तर्जगत् की साधना के क्षेत्र में भी कुछ गुरु होते हैं, वे अपना अनुभव आनेवाले शिष्यों को बताते हैं। और, उनका यह बताना, भविष्य के लिए शास्त्र हो जाता है। गुरु और शास्त्र दोनों ही कुछ उपयोगिता तो रखते हैं। परन्तु, यह उपयोगिता एक सीमा तक ही है। लक्ष्य-प्राप्ति में अन्तिम निर्णायक नहीं होती है यह उपयोगिता। बाहर के आचार, विचार और व्यवहार में कुछ दूर तक गुरु और शास्त्र का उपयोग हो सकता है, मार्ग-दर्शन मिल सकता है, कुछ जानकारी भी हासिल की जा सकती है, किन्तु अपने अन्दर में पैठना तो अपने को ही होता है, दूसरा कौन किसके अन्दर में पैठ सकता है। अन्तर्जगत् में प्रवेश करते ही गुरु और गुरु के शब्द बाहर ही रह जाते हैं, क्योंकि वे बाहर के हैं न? जो बाहर का है, वह अन्दर में कैसे पैठ सकता है। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा था—“अपदस्स पदं नत्थि।” अन्तर का आत्म-तत्त्व अपद है, वह किसी शब्द द्वारा ग्राह्य एवं ज्ञातव्य नहीं है। वह किसी के दिए तर्क से भी दृष्ट नहीं होता है। महावीर ने कहा है इस सम्बन्ध में भी—“तक्का तत्थ न विज्जई” वहाँ तर्क की भी पहुँच नहीं है। वहाँ पहुँच है एकमात्र अनुभूति की। अनुभूति अपनी होती है। दूसरे की अनुभूति अपने लिए अनुभूति नहीं, केवल जड़ शब्द होते हैं। और ये शब्द परोक्ष रूप में एक धुंधलाता-सा सत्य अवश्य उभारते हैं मानव मन में। किन्तु, यह सत्य स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष कभी नहीं होता। किसी के कहने से भी मिथ्री के मिठास का ज्ञान हो सकता है और मिथ्री को जिह्वा पर चखने से भी उसके मिठास का अनुभव होता है। पर आप जानते हैं, दोनों में कितना अन्तर होता है। आकाश पाताल से भी ज्यादा अन्तर है दोनों परिबोधों में। यह अन्तर है शब्दबोध और अनुभूति बोध में। अन्तर्जगत् में परमात्म-तत्त्व का बोध अनुभूति बोध के क्षेत्र में आता है, शब्द बोध के क्षेत्र में नहीं। अतः यहाँ गुरु और शास्त्र से बहुत कुछ सीख लेने के बाद भी शून्य ही रहता है, यदि साधक स्वयं अनुभूति की गहराई में नहीं पैठता है तो। आज तक इतिहास में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं है कि किसी ने अपनी आँख खोले बिना दूसरे की आँख से वस्तु-दर्शन कर लिया हो। हर साधक की खोज अपनी और अपनी ही होती है।

दूसरे की नकल, नकल तो हो सकती है, पर वह कभी भी असल नहीं हो सकती। सत्य एक है, परन्तु उसकी खोज की प्रक्रियाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। इसीलिए एक वैदिक ऋषि ने कहा था कभी चिर अतीत में—“एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।” महावीर और बुद्ध एक ही युग के हैं, पर दोनों की शोध-क्रिया भिन्न है। और तो क्या, एक ही परम्परा के पार्श्व और महावीर की चर्या पद्धति भी एक-दूसरे से पृथक् है। अनन्त आकाश में उन्मुक्त उड़ान भरने-वाले पक्षियों की भाँति परम-तत्त्व की खोज में निकले यात्रियों के मार्ग भी भिन्न-भिन्न रहे हैं। इनके मार्गों की कहीं कोई एक धारा निश्चित नहीं हो सकी है। जितने यात्री उतने पथ। यही कारण है कि परमाणु की खोज की अपेक्षा परमात्मा की खोज अधिक जटिल है। इसकी सदा-सर्वदा के लिए कोई एक नियत परम्परा नहीं बन सकती। “विधना के मारग हैं तेते, सरग, नखत, तन रोआं जेते।”

विश्व इतिहास पर नजर डालने से पता लगता है कि परमात्म-तत्त्व की खोज की कोई एक परंपरा नहीं है, फिर भी परम्पराओं में एकत्व परिलक्षित तो होता है। अनेक में एक का दर्शन यहाँ पर भी प्रतिभासित होता है, और वह है दीक्षा का। हर धर्म और हर दर्शन की परम्पराओं में दीक्षा है, साधना का मूल स्रोत दीक्षा से ही प्रवाहित होता है। दीक्षा का अर्थ केवल कुछ बंधी-बंधायी व्रतावली को अपना लेना नहीं है, अमुक संप्रदाय विशेष के परंपरागत किन्हीं क्रियाओं एवं वेशभूषाओं में अपने को आबद्ध कर लेना-भर नहीं है। ठीक है, यह भी प्रारंभ में होता है। इसकी भी एक अपेक्षा है। हर संस्था का अपना कोई गणवेश होता है। परन्तु महावीर कहते हैं, यह सब तो बाहर की बातें हैं, वातावरण बनाये रखने के साधन हैं—“लोगे लिगण्यओयणं।” अतः दीक्षा का मूल उद्देश्य यह नहीं, कुछ और है, और वह है परम-तत्त्व की खोज। अर्थात् अपने में अपने द्वारा अपनी खोज। अस्तु, में दीक्षा का अर्थ आज की सांप्रदायिक भाषा में किसी संप्रदाय विशेष का साधु या साधक हो जाना नहीं कहता हूँ। मैं आध्यात्मिक भावभाषा में अर्थ करता हूँ, बाहर से अन्दर में पैठना, अपने गुम हुए स्वरूप को तलाशना, बाहर के आवरणों को हटाकर अपने को खोजना, और सही रूप में अपने को पा लेना। दीक्षार्थी अपने विशुद्ध परम-तत्त्व की खोज के लिए निकल पड़ा एक अन्तर्यात्री है। यह यात्रा अन्तर्यात्रा इसलिए है कि यह बाहर में नहीं, अन्दर में होती है। साधक बाहर से अन्दर में गहरा-गहरा उतरता जाता है, आवरणों को निरन्तर तोड़ता जाता है, फलस्वरूप अपने परम चैतन्य, चिदानन्द-स्वरूप परमात्म-तत्त्व के निकट, निकटतर होता जाता है। यह खोज किसी एक जन्म में प्रारम्भ होती है, और साधक में यदि तीव्रता है तो उसी जन्म में पूरी भी हो जाती है, तत्काल तत्क्षण ही पूरी हो जाती है। और यदि साधक में अपेक्षित तीव्रता एवं तीव्रतरता नहीं है, तो कुछ देर लग सकती है। एक जन्म में नहीं, अनेक जन्मों में जाकर यह खोज पूरी होती है—“अनेक जन्मसंसिद्धिस्ततो याति परां गतिम्”। जन्मों की संख्या का सत्य नहीं है, सत्य है केवल एक कि जो चल पड़ा है ईमानदारी के साथ इस पथ पर, वह एक-न-एक दिन देर-सबेर मंजिल पर पहुँच ही जाता है।

मैं चाहता हूँ, आज का साधु-समाज जिज्ञासु एवं मूमुक्षु जनता के समक्ष दीक्षा और दीक्षा के मूल वैराग्य के वास्तविक स्वरूप को स्पष्टता के साथ उपस्थित करें। खेद है, दीक्षा और वैराग्य के सम्बन्ध में बहुत-कुछ गलत बातें उपस्थित की जा रही हैं, जिनसे दीक्षा का अपना परम पवित्र लक्ष्य-विन्दु धूमिल हो गया है, एक तरह से उसे भुला ही दिया गया है। और इसका यह परिणाम है कि साधक स्वयं भी भ्रान्त हो जाता है, और साथ ही दर्शक जनता भी भ्रान्ति के अरण्य में भटक जाती है।

मैं सुनता हूँ, साधुओं के उपदेश की घिसी-पिटी एक पुरानी-सी परंपरागत प्रचलित भाषा। “संसार असार है। कोई किसी का नहीं है। सब स्वार्थ का मायाजाल है। नरक में ले जानेवाले हैं ये सगे-सम्बन्धी। जीवन में सब ओर पाप-ही-पाप है। पाप के सिवा और है ही क्या यहाँ ? अतः छोड़ो यह सब प्रपंच। एक दिन यह सब छोड़ना तो है ही, फिर आज ही क्यों न छोड़ दो। सर्वत्र झूठ का पसारा है, अन्धकार है, सघन अन्धकार। अन्धकार में कब तक ठोकरें खाते रहोगे ? परिवार से, समाज से, सब से सम्बन्ध तोड़ो, वैराग्य ग्रहण करो, दीक्षा लो।” यह तोता-रटत भाषा है, जिसे कुछ भावुक मन सही समझ लेते हैं, और आंख मूंद कर चल पड़ते हैं—तथाकथित गुरुजनों के शब्द-पथ पर। सब-कुछ छोड़-छाड़ कर साधु बन जाते हैं, दीक्षित हो जाते हैं। परन्तु, वस्तुतः होता क्या है दीक्षित होने के बाद। पंथ-परंपराओं और संप्रदायों के नये परिवार खड़े हो जाते हैं, राग-द्वेष के नये बन्धन आ धमकते हैं। एक खूंट से बंधा पशु दूसरे मजबूत खूंट से बांध दिया जाता है। क्या राहत मिलती है पशु को खूंटों के बदलने से। दीक्षार्थी की भी प्रायः यही स्थिति हो जाती है। कुछ दूर चलकर बहुत शीघ्र ही वह अनुभव करने लगता है कि जिस समस्या के समाधान के लिए मैं यहाँ आया था, वही समस्या यहाँ पर भी है। वही स्वार्थ है, वही दंभ है,

वही अहंकार है, वही घृणा है और वही है राग-द्वेष। कुछ भी तो अन्तर नहीं है। कहाँ आ फंसा मैं यहाँ। यह सब इसलिए होता है कि भद्र साधकों को साधना की सही दृष्टि नहीं दी जाती। परिणाम-स्वरूप अनेक दीक्षितों से कभी-कभी सुनने को मिलता है कि, क्या करें? साधना हो तो रही है, पर वह सब ऊपर-ऊपर से हो रही है। भीतर में कोई परिवर्तन नहीं, कोई नयी उपलब्धि नहीं। इस प्रकार एक दिन का वह प्रसन्नचित्त वैरागी अपने में एक गहरी रिक्तता का अनुभव करने लगता है। और कभी-कभी तो उसका अन्तर्मन ग्लानि से इतना भर उठता है कि विक्षिप्तता की भूमिका पर पहुँच जाता है, और कुछ-का-कुछ करने पर उतारू हो जाता है। आज की साधु संस्था के समक्ष यह एक ज्वलंत समस्या है, जो अपना स्पष्ट रचनात्मक समाधान चाहती है। हमारे उपदेश की भाषा और साधना की पद्धति अधिक स्वस्थ और मनोवैज्ञानिक होनी चाहिए, ताकि दीक्षित व्यक्ति को अपने में रिक्तता का अनुभव न करना पड़े, उसे अपनी स्वीकृत साधना से यथोचित सन्तोष हो सके। अगर ऐसा कुछ हो सका, तो निश्चित ही उसकी सम्यक् प्रतिक्रिया व्यक्ति पर तो होगी ही, समाज पर भी अवश्य होगी। समाज में दीप्तिमान तेजस्वी एवं स्व-पर-हिताय सक्रिय साधु-संगठन निर्मित हो, इसके लिए साधु-संस्था को वैज्ञानिक प्रयोगशाला की तरह प्रत्यक्षतः उपलब्धि का केन्द्र होना जरूरी है, जहाँ जीवन की गहराइयों को सूक्ष्मता से समझा जा सके, अन्तर् की सुप्त ऊर्जा के विस्फोट के लिए उचित निर्णायक प्रयास हो सके। इसके लिए चेतना पर पड़े अनन्त दूषित आवरणों को, परतों को, विकल्पों को एवं मिथ्या धारणाओं को दूर करना होगा। दीक्षा में छोड़ने के मूल मर्म को समझना होगा। परिवार तथा समाज की पूर्व प्रतिबद्धताओं में से बाहर निकल आने का अर्थ परिवार तथा समाज से घृणा नहीं है, खिन्नता नहीं है। अपितु, यह तो विराट् की खोज के लिए क्षुद्र प्रतिबद्धताओं को लांघ कर एक अखण्ड विराट् चैतन्य-धारा के साथ एकाकार होना है। वह अभूमा से भूमा की यात्रा है, व्यष्टि से समष्टि में लीन होने की एक आन्तरिक प्रक्रिया है, जहाँ पहुँचने पर छोड़ा और न छोड़ा सब एक हो जाते हैं। सागर में जैसे सब जलधाराएँ समाविष्ट हो जाती हैं, वैसे ही दीक्षित की विराट् चेतना में अपने-पराये सब एक हो जाते हैं। अलग से कोई भी बच नहीं रहता है। परिवार तथा समाज को छोड़ देने की केवल एक चलती भाषा बच रहती है, अन्यथा प्राणिमात्र के प्रति भावात्मक एकता में किसी को कहीं छोड़ देने जैसा क्या-कुछ रहता है?

दीक्षार्थी अपने अन्दर में शुद्धत्व के लिए गति करता है और बाहर में समाज के शुभत्व के लिए यत्नशील होता है। अतः हमें किसी को साधु इसलिए नहीं बनाना है कि संसार असार है, स्वार्थी है, झूठा है। अपितु, इसलिए बनाना है कि शरीर, इन्द्रिय और मन आदि की अनेकानेक सूक्ष्म एवं साथ ही सघन परतों के नीचे दबा अनन्त चेतना का जो अस्तित्व है, उसकी उपलब्धि एवं अभिव्यक्ति ही साधक जीवन का सर्वोत्तम लक्ष्य है, उसकी खोज दीक्षार्थी प्रशान्त मन-मस्तिष्क से कर सके। यह वह स्थिति है, जहाँ परिवार या समाज के छोड़ने या छूट जाने का अच्छा-बुरा कोई विकल्प ही मन में नहीं रहता। इस अर्थ में छोड़ने और छूटने का पूर्ण विस्मरण हो जाता है। यह त्याग का भी त्याग है, 'मृच्' धातु के कर्तृत्व का विसर्जन है, जो आज के साधु जीवन में ठीक तरह से हो नहीं पा रहा है। अस्तु, दीक्षा सहजानन्द की प्राप्ति के द्वारा अन्तर्मन की रिक्तता को समाप्त कर देती है, परम सत्य के निर्मल एवं शाश्वत आलोक के लिए द्वार खोल देती है। परम-चेतना की खोज के लिए साधु-जीवन एक अवसर है। यह अन्तिम साध्य नहीं, बीच का एक साधन है। इसके द्वारा साधक अपने परम चैतन्य-स्वरूप स्व-तत्त्व के निकट पहुँच सकता है, उसका सम्यक्-बोध कर सकता है, उसे पा सकता है, बस यही अन्तर्जगत् की दृष्टि से दीक्षा के सही मूल्य की उपलब्धि है, दीक्षा की सही उपयोगिता है।

वाह्य जगत् की दृष्टि से दीक्षा का उद्देश्य जनता में अशुभ की निवृत्ति एवं शुभ की स्थापना है। जनता को हर प्रकार के अन्ध-विश्वासों से मुक्त करना और उसे यथार्थ सत्य का परिबोध कराना, साधु-जीवन का सामाजिक कर्तव्य है। साधु, अन्धकार का नहीं, प्रकाश का प्रतीक है, अशान्ति का नहीं, शान्ति का सन्देशवाहक है, भ्रान्ति का नहीं, क्रान्ति का पक्षधर है। वह समाज का निर्माता है, समाज के नैतिक-पक्ष को उजागर करनेवाला है। वह अन्दर में तो मूक, चुपचाप निष्क्रियता से प्रवेश करता है, किन्तु बाहर समाज में उसका प्रवेश सिंहनाद के साथ पूर्ण सक्रियता से होता है। अतः दीक्षित साधुओं का सामाजिक दृष्टि से प्राथमिक शिक्षा-सूत्र होना चाहिए, तुम सर्वप्रथम केवल एक मनुष्य हो। तुम्हारी कोई जाति नहीं है, तुम्हारा कोई पंथ, वर्ण या वर्ग नहीं है। न तुम्हारा कोई एक प्रतिबद्ध समाज है, और न राष्ट्र है। तुम सब के हो, और सब तुम्हारे हैं। तुम एक विश्व-मानव हो। विश्व की हर अच्छाई तुम्हारी अपनी है। तुम्हारा हर कर्म विश्व-मंगल के लिए प्रतिबद्ध है। तुम्हारी अहंता और ममता का उदात्तीकरण

होना चाहिए, इतना उदात्तीकरण कि उसमें समग्र विश्व समा जाए। इस सन्दर्भ में एक प्राचीन विश्वात्मा मुनि के शब्द दुहरा देता हूँ—

“अहंता-ममताभावः, त्यक्तुं यदि न शक्यते।  
अहंता-ममताभावः, सर्वत्रैव विधीयताम् ॥”

उक्त पवित्र विचार के प्रकाश में ही आज साधुओं को दीक्षित करने की आवश्यकता है। क्षुद्रहृदय साधु से बढ़कर कोई बुरी चीज नहीं है दुनिया में। सच्चा साधु वह है, जो विश्वात्मा है। विश्वात्म-भाव में से ही परमात्म-भाव प्रस्फुटित होता है। कुछ ऐसे ही प्रबुद्ध, विवेकी एवं महामना साधुजनों की आज विश्व को बहुत बड़ी अपेक्षा है। साधु का अर्थ ही सज्जन है। वह सज्जनता का, शालीनता का ध्रुव केन्द्र है। इस प्रकार साधुसंस्था पर विश्व में सर्वतोमुखी सज्जनता की प्रतिष्ठा का दायित्व है। आज विश्व की भौतिक प्रगति ने मानव को सब ओर से असन्तुष्ट बना रखा है। आज का मानव दिशा-भ्रष्ट हो गया है, होता जा रहा है। विभिन्न प्रकार के घातक और भयंकर उपकरणों के मर्यादाहीन निर्माण ने जीवन की सुरक्षा को खतरे में डाल दिया है। निरन्तर की बढ़ती जाती उतेजनाओं ने जीवन की सहज शान्ति को भंग कर दिया है। तुच्छ स्वार्थ एवं अहंकार मानवता की गरिमा के प्यासे बनकर रक्त-पिपासु भेड़ियों की भाँति मैदान में निकल पड़े हैं। ऐसे नाजुक समय में साधु-संस्था पर दुहरा उत्तर-दायित्व आ पड़ा है। उसे अपने को भी संभालना है और समाज को भी। अतः उसे चाहिए कि अपनी आन्तरिक अनन्त चेतन-सत्ता के जागरण के साथ वह जन-जागरण का दायित्व भी पूरा करे। वह वैयक्तिकता के क्षुद्र घेरे में आबद्ध होनेवाली स्वार्थलिप्त दुनिया को “वसुधैव कुटुम्बकम्” की पवित्र घोषणा दे, उसे सच्ची मानवता का पाठ पढ़ाए।

जीवन की क्षुद्र विकृतियों से ऊपर उठकर अन्तर में परमात्म-तत्त्व की खोज और उसके अंग-स्वरूप विश्व-मानवता का आत्मौपम्य दृष्टि से नव-निर्माण संक्षेप में यही है, मुनि दीक्षा का साधुता का मंगल आदर्श।

# वीरायतन-दर्शन



## वीरायतन-दर्शन

कवि, अलसित पलकों को खोलो, करो तनिक दृग-उन्मीलन,  
देखो गिरि वैभार-तटी में विरमित युग-यति महा-श्रमण,  
रूठी मानवता, मानव-घर लौट रही, मंगल गाओ—  
स्वर्ग न नभ में भू-तल पर है, आज तथ्य यह निरावरण।  
भूलो मत करुणा-सेवा का सागर संमुख लहराता,  
वीरायतन वीर-शासन का दृश्य मनोहर दिखलाता।

सना समत्व-सुरभि से यह थल, त्याग-विभा से अमल-धवल,  
तप, निर्जरा, आत्म-दर्शन ही जीवन-लक्ष्य यहाँ अविचल,  
ज्ञान-मेरु हो, ध्यान-मेरु हो, यहाँ न आरोहण मुश्किल—  
चाहे जो भी चढ़े शिखर तक लेकर श्रद्धा का संबल।  
यहाँ दिवस कल्याण बाँटता, आत्म-विचिन्तन शान्त निशा,  
शुचिता, भक्ति, विनयिता सब को सतत दिखाती सही दिशा।

तुम कवि हो तो यह कवि-गुरु का मंगलप्रद उपक्रम मनहर,  
करते सुन्दरता को सुन्दर पुण्य शिंशपा के तरुवर,  
प्रकृति-गोद में इन तरुओं का जीवन कितना मोद भरा—  
एक-एक से होड़ कर रहे छूने को ऊपर अम्बर।  
विष के बदले अमृत, यहीं तो मृत्यु बीच जीवन मिलता,  
प्रेम देवता के हाथों से चिर-मरु में सरसिज खिलता।

जो कुछ भी है यहाँ सत्य, शिव, मनहारी, सुखकर, सुन्दर,  
प्रति-पल नूतन वेष बनाकर नदी-निसर्ग नृत्य-तत्पर,  
सुमन-सुमन हैं यहाँ दूब भी आँखों को शीतल करती—  
रूपराशि की खोजों में ही सचकित उर ये शैल-शिखर।  
छवि का भूखा मनुज यहाँ आ मत्त कलापी बन जाता,  
एक अपूर्व अचिन्त्य लोक में वह बस अपने को पाता।

एक-एक कर कितनी स्मृतियाँ मन-प्राणों में लहरातीं,  
किंकर्तव्य-विमूढ़, भ्रमित को बोध-विचिन्तन दे जातीं,  
गूँजी कभी इसी उपवन में जगतारक प्रभु की वाणी—  
सतत ज्वलित पौरुष के मग में नियति नहीं बाधा लाती।  
वर्तमान के गेह पधारे जब अतीत बनकर पाहुन,  
शिशु भराल तब क्यों न विवेकी हों अनुभव के मोती चुन?

दूर-दूर के आतुर प्राणी भव-रज यहाँ मिटा जाते,  
चर्म-चक्षु की चर्चा ओछी, ज्ञान-चक्षु वे अपनाते,  
समवसरण की पुण्य भूमि में मिटता उनका दाहण दुख-  
ममता से भीगा सावन वे यहाँ जेठ में भी पाते।  
क्षण भर बैठ यहाँ ढूँढो कवि, अपने भाव-रत्न खोए,  
रहे अपरिचित तुम परिचित से, सदा अपरिचित दिग रोए।

मोह-धूलि-धूसर प्राणों को तुम चिन्तन जल से धो लो,  
ब्राह्मी कला-तीर्थ में आकर निर्विकार बोली बोलो,  
जिनवर का चारित्र्य-वृत्त है दृग संमुख प्रेरक, पावन-  
चिर गति बनी श्रमण संस्कृति यह तुम भी समुद साथ हो लो।  
उपदेशक गुरुदेव, देशना यहाँ रात दिन है चलती,  
होते जो जिज्ञासु उन्हें ही गूढ़ ज्ञान की निधि मिलती।

कर में त्याग, ज्ञान अन्तर में मुख में जन-कल्याण वचन,  
राष्ट्रसंत जय! कुलपति जय-जय! जय सेवा-अर्पित जीवन!  
संस्कृति, प्रकृति, विकृति तीनों का भेद यहीं आकर खुलता-  
कलित कौमुदी अमरचन्द्र की करती उद्भासित कण-कण।  
हैं युग-पूज्य शास्ता ये ही, अग-जग इनका दास बना,  
वाणी इन की अमर-भारती, चरित, मंजू इतिहास बना।

पारिपार्श्विक मुनिवर जितने, सभी निरंजन, विज्ञानी,  
सभी लब्धि-धर, जग विरक्त हैं, प्रेम, आस्था, वरदानी,  
मुनि अखिलेश वन्द्य, करुणा-घन, सखा मनीषी ज्योतिर्धर-  
होती आत्मा स्वयं विभासित सुन इनकी तात्विक-वाणी।  
आए ये सुदूर गिरि-व्रज में रघुवर संग लक्ष्मण बन कर,  
मंगल मूर्ति, श्रमण गरिमा-गृह, श्रुत-तत्वज्ञ, ज्ञान-निर्घर।

तपःपूत व्यक्तित्व खोजने कवि, न दूर तुम को जाना,  
न ही तुम्हें चन्दनबाला का आश्रव-सवर दुहराना,  
विदुषी, साध्वी-रत्न चन्दना यहाँ लोक-सेवा में रत-  
शुचि महत्तरापद अधिकारिणि इन्हें विज्ञ-जन ने माना।  
मानवतावादी दर्शन में इनसे नव अध्याय जुड़ा,  
नमन करो, करुणा-प्रवाह फिर आते जगत की ओर मुड़ा।

पा गुरुवर से ज्ञान-संपदा, जो प्रबुद्ध, जो गत संशय,  
कवि, विश्रुत ये वीर धरा के सौम्य तपी मुनिवर्य विजय,  
श्रमण-संस्कृति समय समन्वित हुई पुनः इनको पाकर-  
अन्ध मान्यता उन्मूलन में ये अविचल उर, चिर निर्भय।  
जीवन और जगत पर करता मानव-मन अनुक्षण चिन्तन,  
आत्म-रूप की झलक दिखाता सब को एक श्रमण-दर्शन।

शत-शत रम्य नगर हैं सम्प्रति इस अरण्य पर न्योछावर,  
गुरुवर-पद-नख ज्योति प्राप्त कर ज्योति भरित भूतल-अम्बर,  
वही ब्रह्मपुर क्षीरोदधि में गिरा-इन्दिरा अब रहती-  
दिव्य महासतियों में दर्शित छवि उनकी मंगल, मनहर।  
पावन 'सुमति' 'साधना' 'सुयशा' संस्कृति बीज यहाँ बोतीं-  
सहज 'चेतना' 'विभा' 'शुभा' उर नित कलि-कल्मष हैं धोतीं।



राग-विराग एक सम जिनको, जिन्हें एक सम सुधा-गरल,  
 शशि-सीकर, रवि-कर दोनों में जिनका हृदय अटल-अविचल,  
 भ्रम-संयम, समभाव-विभव से पूरित है जिनका जीवन—  
 है नमस्य ये मुनि 'समदर्शी' लो वन्दन कर अमित फल।  
 कवि, तुम दृष्टि फिराकर देखो, पैर बढ़ाओ ठहर-ठहर,  
 वीरायतन वंदना थल है, वन्द्य यहाँ के सब मुनिवर।

पूज्य दृष्ट चरणों में कवि, यदि समुचित प्रणति और वंदन,  
 तो फिर मानव हृदय छोड़ दे, क्यों अदृष्ट का आकर्षण ?  
 कल तक जिनकी ममता करुणा अविरल जन-जन पर बरसी—  
 करो आज उन रंभा-श्री को अर्पित तुम श्रद्धा-चिन्तन।  
 अपने लिए सभी जीते हैं, तुम जगती के लिए जियो,  
 महासती की सीख न भूलो सुधा बाँट कर गरल पियो।

प्रकृति यहाँ गंभीर हृदय से अनुक्षण वन्दन-स्वर भरती,  
 बाल-विहग की मधुर काकली सतत खेद-पीड़ा हरती,  
 तेज दूर की हवा यहाँ आ रुकती वन्दन चाह लिए—  
 वन्दन का अनुराग संवारे सजल जलद छूते धरती।  
 कवि, कल्पना तुम्हारी नभगा वह भी अब नीचे आए।  
 मिल कर जग के अभ्यन्तर से गुरुवर की महिमा गाए।

'वीरायतन' जागरण-युग की उर-प्रेरक रचना मनहर,  
 त्याग खड़ा है स्वार्थ-व्यूह में निर्विकार निर्भय अन्तर,  
 करुणा से नर-प्राण सरस है, द्वेष, स्नेह का अनुगामी—  
 शतक पंच-विंशति व्यतीत कर आया फिर ऐसा अवसर।  
 अजब शौख गुरुवर का जादू मुखरित हुआ मौन कानन,  
 हटी प्रसुप्ति, मिला मनु सुत को आत्म-विचिन्तन का साधन।

—कुमुद विद्यालंकार

## समग्र मानव-जाति के लिए पूज्य गुरुदेव का : दिव्य संदेश

आज के समाज, राष्ट्र एवं मत-पन्थों के क्षुद्र स्वार्थों की आपाधापी में—आणविक शस्त्रास्त्रों की प्रलयंकर अन्धी दौड़ में, यदि किसी एक को भी जीना है, तो सब को जीने दो। सब के जीने में ही एक का जीना है।

केवल मनुष्य को ही नहीं, मनुष्य के साथ जीने दो विश्व-सृष्टि के पशु-पक्षी-जगत् को और जीने की प्रक्रिया में आगे बढ़कर जीने दो पृथ्वी को, जल को, वृक्षों को, हवा को और यहाँ तक कि तैजस् को भी।

जीने दो व्यक्ति और परिवार को, जीने दो समाज और राष्ट्र को, और जीने दो धर्मों की मंगलमयी जनकल्याणी परंपराओं को। “परस्परं भावयन्तः” का ही एकमात्र मार्ग है जीने का। ‘जीने दो’ का अर्थ ही है—बचाना। अतः बचाओ, यदि बचना है। जिस किसी को भी मिटा रहे हो, तुम खुद मिट रहे हो। जिस किसी को भी बचा रहे हो, तुम खुद बच रहे हो।

महाश्रमण भगवान् महावीर का प्रस्तुत सन्दर्भ में यह धर्मसूत्र सदैव स्मरणीय है—‘एग्रे आया।’

उज्जयिनी अक्षर मुनि

पूज्य गुरुदेव एवं पूज्य गुरुदेव का व्यक्तित्व तथा कृतित्व  
अनुपम है, अव्याख्येय है, असीम है !

उन्हें गिनती के किन्हीं एक-दो-चार रूपों में देखा नहीं  
जा सकता ।

शब्दों की छोटी-सी परिधि में उन्हें समेटा नहीं जा सकता ।

अतः उनके उस महान् बहु-आयामी स्वरूप के, अनुरूप  
तथा सबको सभी भाँति संतोष हो सके, ऐसा यह संपादन नहीं  
हो सका ।

इसके लिए क्षमा याचना के सिवा दूसरा कोई विकल्प नहीं है ।  
अस्तु, सर्वतोभावेन श्रद्धावन्तु क्षमाप्रार्थी हूँ . . . . .

संपादक



# VEERAYATAN

Guru Pooja Mahotsav

1st November 1982

RAJGIR — NALANDA (BIHAR) Pin 803116



# VEERAYATAN

## *Members of Working Committee*

SRI KHAIL SHANKAR DURLABHI  
*President*

SRI SITAL PRASADJI OSWAL  
*Vice President*

SRI CHHOTAY LAL GANDHI  
*Secretary*

SRI NAGIN BHAI SHAH  
*Treasurer*

SRI HARISH CHANDJI BADER  
SRI HARISH CHANDRAJI JAIN  
SRI KUNWAR LALJI SURANA  
SRI KESHIRICHANDJI LODHA  
SRI KANTILALJI AJMERA  
SRI KEDARNATHJI JAIN  
SRI MANNALALJI SURANA  
SRI MULK RAJJI JAIN  
SRI NANNEY BABOO JAIN  
SRI NAWALMALJI FIRODIA  
SRI PADAM CHANDJI JAIN  
SRI P. C. JAIN  
SRI PAWAN KUMAR JAIN  
SRI PRAFULA BHAI KAMANI  
SRI RAJENDRA SINGH SURANA  
SRI RATAN KUMARJI JAIN  
SRI SAUBHAGYAMALJI JAIN  
SRI TANSUKHRAJI DAGA  
SRI UTTAMCHANDJI PANCHAMIA

SRI MADAN SINGH NAHAR  
*Manager*

## *Members of Financial Control Board*

SRI KHAIL SHANKER DURLABHI  
SMT. HEMLATA BEN DURLABHI  
SRI JAGADISH RAJJI JAIN  
SRI KRANTI KUMARJI PAREKH  
SMT. KUSUM RANI JAIN  
SRI MOTI CHANDJI DAGA  
SRI PAWAN KUMARJI JAIN  
SMT. PREM KUNWAR KATARIA  
SRI PARFUL CHAND SANGHAVI  
SRI VIMAL CHANDJI SURANA  
SRI VIJAY SINGHJI SUJANTI

SRI TANSUKH RAJ DAGA  
*Convenor, Guru Pooja Mahotsav*

## List of Advertisers—(A)

**Accurate Engineering Co.**  
F-24, G.I.D.C. Industrial Estate  
Vadal Road  
Junagarh

**Autofin Limited**  
Prenderghast Road  
Secunderabad

**B. U. Bhandari**  
Bombay-Poona Road  
Wakdewadi  
Poona-411 003  
Phone: 511141, 511142, 511143

**Bajaj Tempo Limited**  
Akurdi  
Pune-411 035  
Phone: 82894

**Bajnath Melaram**  
Darukhana  
Bombay-400 010

**Beekay Steel Industries Ltd.**  
7, Chittaranjan Avenue  
(4th floor)  
Calcutta-700 072

**Bipin C. Shah**  
Associated Enterprises  
607, Parekh Market  
Opera House  
Bombay-400 004

**Chowdhary Bros. & Associates**  
2-A, B & C, Saifabad  
Hyderabad

**Dolphin Laboratories Pvt. Ltd.**  
41/2-B, Sarat Bose Road  
Calcutta-700 020  
Phone: 47-3175

**Doshi & Company**  
25, Camac Street (Ground floor)  
Calcutta-700 016  
Phone: 47-8998

**The Eastern Oxygen & Acetylene Ltd.**  
Sneh Milan  
Telephone Exchange Road  
Dhanbad  
Phone: 3711, 4400

**Farley & Company**  
5, Rameshwar Shaw Road  
Calcutta-700 014  
Phone: 44-1444, 44-9756

**Graphite India Limited**  
31, Chowringhee Road  
Calcutta-700 016  
Phone: 21-2541 to 49, 21-2829

**Gokul Chand Gupta**  
Darukhana  
Bombay-400 010

**Gupta Steel**  
156, Rati Bunder  
Bombay-400 010  
Phone: 37-5645, 89-2453

**Hindustan Steel Industries (India)**  
P-20, Industrial Estate  
Gwalior Road  
Jhansi (U.P.)  
Phone: 1275, 1455, 1875

Sister Concern:

**Nirmal Industries**  
Station Road  
Lalitpur (U.P.)  
Phone: 145

**Harilal G. Desai**  
11, Ezra Street  
Calcutta-700 001

**International Cloth Agency**  
(Manufacturer of Rajkamal Cotton  
Printed Sarree)  
384-M, Dabholkarwadi (IV floor)  
Bombay-400 002



**Impex International**  
10, Canning Street  
Calcutta-700 001  
Phone: 22-2270

**Indo-European Machinery Co. Pvt. Ltd.**  
4884, Kucha Ustad Dagh  
Chandni Chowk  
Delhi  
Phone: 23-5058, 23-8762

**Jewels International**  
Diamond House (2nd floor)  
52-58, Dhangi Street  
Bombay-400 003  
Phone: 330464, 321359

Smt. Janak Gouri Worah  
**Eastern Carbons**  
Dhanbad  
Phone: Off. 3115, 2627  
Res. 2961, 2605, 3744

**Jhansi Iron & Steel Rolling Mills**

Sister Concern:

**Bundelkhand Steels**  
372, Civil Line  
Jhansi (U.P.)  
Phone: 663, 515

**Jaya Hind Industries Ltd.**  
Akurdi  
Pune-411 035  
Phone: 83981/2

**J. M. Industries**  
Reti Bunder  
Darukhana  
Bombay-400 010

**K K Jewellers**  
Delhi

**Keshargulab Engg. Pvt. Ltd.**  
E-21, 22, M.I.D.C.  
Bhosari  
Poona-411 026  
Phone: 82217

**Kohinoor Cloth Stores**  
M. G. Road  
Ahmednagar  
Phone: 5347, 5572

**Kinetic Engineering Limited**  
D-1 Block, Plot No. 18/2  
Chinchwad  
Poona-411 019  
Phone: 84301, 84302, 84303

**Kanji Panachand Charitable Trust**  
33, Armenian Street  
Calcutta-700 001  
Phone: 33-2945, 33-2661

Lunkad Bandhu  
**Nav Maharashtra Chakan Oil Mills**  
42/43, Shankar Seth Road  
Pune-411 009  
Phone: 449890  
Telex: PN 0145-349

**Smt. Lalita Ben Panchamia**  
6, Gokhale Road  
Calcutta-700 020

**Lyka Labs. Pvt. Ltd.**  
10/4/B, Elgin Road  
Calcutta-700 020  
Phone: 43-1372

**Munnalal Bhansali**  
1818, Chirakhana  
Maliwara  
Delhi-110 006  
Phone: 263480

**Shri Mahavir Steel Corpn.**  
121, J. N. Mukherjee Road  
Ghusuri  
Howrah-711 107  
Phone: 66-2280

**Modern Foundry & Machine Works Ltd.**  
Near Railway Station  
Post Box No. 5  
Ahmednagar-414 001  
Phone: 3686, 3687, 3688

**Shri Multanchand Bora Trust**  
Cloth Market  
Ahmednagar  
Phone: 4928

**Mahavir Metal Works Ltd.**  
493-94, Barton Market  
Sadar Bazar  
Delhi  
Phone: 511540, 514644, 514784, 511335

**Mehta Agencies**  
107, Marine Chamber  
31, New Marine Lines  
Bombay-400 020  
Phone: 297633, 253143

**Mohammad Bhai Yusaf Bhai**  
Darukhana  
Bombay-400 010

**Shri Nityanand Steel Rolling Mill**  
3rd Lane  
Mazgaon  
Bombay

**Shri Pawankumar Jain**  
**Anil Enterprises**  
121, J. N. Mukherjee Road  
Ghusuri  
Howrah-711 107  
Phone: 66-4440

**Patni Auto Corporation**  
62, G. M. Road  
Secunderabad  
Phone: 73483, 73302

**R. D. Victor & Company**  
16, Netaji Subhas Road  
Calcutta-700 001  
Phone: 22-3981, 22-3982, 22-0901

**Shri Ramkishan Jain**  
**C/o. Ramkishan Bangaliram**  
Saroff  
Sohna  
Phone: 19

**Rachna Steel Corporation**  
76/522, Coolibazar  
Kanpur  
Phone: 53914, 47479

**Rajeev Enterprises**  
Nanak Nivas  
Opera House  
Bombay  
Phone: 823893

**Shri Shyamlal Jain Ship Breaking Co.**  
10, Mohanlal Sureka Road  
Belur  
Howrah  
Phone: 66-4902, 66-2757

**S. S. Jain & Company**  
10, Mohanlal Sureka Road  
Belur  
Howrah  
Phone: 66-4902, 66-2757

**Shri Lakshman Rolling Mills**  
359, Harrisganj  
Kanpur  
Phone: 67575

**Shahzadelal Shyamlal Jain**  
Lohamandi  
Agra

**Shree Saibaba Ship Breaking Co.**  
*(Inverse Grace)*  
Plot No. 40  
New Darukhana  
Bombay-400 010

**Smt. Sushila Jaysukhlal Doshi**  
26/2, Ballygunj Circular Road  
Uadayan Park  
Suit No. 6 (2nd floor)  
Calcutta-700 019

**Sewtamber Sthankwasi**  
Jain Samiti (Panjkrit)  
Loha Mandi  
(Agra)

**F. Harvy & Co.**  
5, Rameshwar Shaw Road  
Calcutta-700 014  
Phone: 44-1444, 44-9756

**Tea Land**  
3-A, Pollock Street  
Calcutta-700 001  
Phone: 26-4767, 26-6411

**Smt. Vidyavati Jain**  
W/o. Late Shri Shejad Lal Jain  
Load Mandi  
Agra  
Phone: 76143

**Shri Vipin C. Shah**  
**C/o. Associated Enterprises**  
607, Paresh Market  
Opera House  
Bombay-400 004  
Phone: 386326, 357239

**Vishwanath Roop & Co.**  
Darukhana  
Bombay-400 010  
Phone: 377045

**The above advertisers have kindly contributed Rs. 3000/- each.**

## List of Advertisers—(B)

**Amar Dyeing Works**  
39A, Old Post Office Street  
Sadar Bazar  
Delhi-6  
Phone: Fact. 631906  
Res. 713724

**Adarsh Trading Co.**  
Kedia Apartments  
29, F Dingershi Road  
Walkeshwar  
Bombay-400 006  
Phone: 815209, 818993, 819921

**Arco Roadways (P) Ltd.**  
118, Navipeth  
Jalgaon (M.S.)  
Phone: City. 3874  
M.G. 3585

**Amar Deep**  
Handloom Factory  
82, Khandak  
Meerut City  
Phone: 75837

**Ashok Foundry & Metal Works**  
Commerce House  
2, Ganesh Chandra Avenue  
Calcutta-700 013  
Phone: Office 23-6565, 23-0329  
Works 58-1678

**Atul Enterprises**  
230, Cooperative Colony  
Bokaro Steel City  
(Dhanbad)  
Phone: 7467

**Agarchand Dalichand**  
Sapna Sakar Housing Society  
Jalgaon  
Phone: 425001

**Ajay Steel Trading Co.**  
135/54 L, Girish Ghose Road  
Belur Math  
Howrah  
Phone: 66-3580

**A. D. Rajkumar & Co.**  
(Adreana Wools)  
Rui Mandi, Sadar Bazar  
Delhi  
Phone: 512656, 519218, 511552

**Ajit Dal Mills**  
80/77 Cooperganj  
Kanpur-208 003  
Phone: Office 69921, 53721  
Res. 45921

**Amolakchand Birdichand Kataria**  
Sardar Patel Chowk  
Ahmednagar-414 001  
Phone: Office 5714  
Res. 5422

**Amrut Sadi Centre**  
Shahaji Road  
Ahmednagar-414 001  
Phone: Shop 3853  
Res. 3837

**Amarchand Ratachand Lokad**  
Lokad Building  
Belanganj  
Agra-282 004

**Assam Petroleum Transport Co.**  
57, Burtolla Street  
Calcutta-700 007  
Phone: 33-0893, 33-1483

**Asha Construction**  
P.O. Mohuda  
Dist. Dhanbad  
Bihar

**Ashoka Foam Industries**  
55, Canning Street  
'A' Block, 1st Floor  
Calcutta-700 001  
Phone: 26-1156, 27-9246, 26-3573

**Apollo Engineering Co.**  
26, Sardar Sankar Road  
Calcutta-700 029  
Phone: 46-9352

**Amecha Plastics**  
36, Burroshibtolla Main Road  
Calcutta-700 038

**Angel's Publishing Corporation**  
19, British Indian Street  
Calcutta-700 069  
Phone: 23-9357

**Mr. Anand Jain**  
**Mr. Arun Jain**  
**Mr. Ashok Jain**  
33, Burtolla Street  
Calcutta-700 007  
Phone: 31-2528

**A. B. C. India Ltd.**  
P-4, New C.I.T. Road  
Calcutta-700 073  
Phone: 27-2314, 27-2421, 27-1447

**Aluminium & Alloys Industries**  
435, Jessore Road  
Calcutta-700 028  
Phone: 57-2903, 57-4462

**Automotive Manufacturers Ltd.**  
Rashtrapati Road  
Secunderabad  
Phone: 72511, 72936

**Mrs. Amrao Kavar**  
15, Ramanuj Street  
Madras-1

**Bapaal & Co.**  
29, Rattan Bazar  
Madras-600 003  
Phone: 32396, 39573

**Borachem Industries Pvt. Ltd.**  
Prema Chambers  
156-B, Ganesh Peth  
Pune-411 002  
Phone: 449377

**Vikandas Kishandas Pokrana**  
208, Nanapeth  
Puna-2  
Phone: 22762

**Bajranglal Kamal Prakash**  
Saraswati Bhawan  
105/2411, Vivekanand Colony  
Howrah  
Phone: 66-3651

**Beliram Chimantal Jain**  
2655, Bank Street  
Karol Bagh  
New Delhi-110 005  
Phone: 569591  
Res. 229205

**Bhandari Crosfields Ltd.**  
Mangliagaon-463 771  
Dist. Indore (M.P.)  
Phone: 30569, 39382

**Bachoomal Rajendra Singh & Sons**  
15, Taj Road  
Agra-282 001  
Phone: 76256  
Res. 72076

**Seth Basant Rai Sewa Trust**  
Jaswant Picture Palace  
Agra

**Baltotal Jain Charitable Trust**  
Loha Mandi  
Agra-2

**Bhagwandas Ramsaranlal Jain**  
Loha Mandi  
Agra-2  
Phone: 73382

**Shri Bashiram Veeradevi Jain**  
Charitable Trust  
Sadar Thana Road  
Delhi-7

**Basant Plastic Works**  
5938, Basti Harphool Singh  
Delhi-110 006  
Phone: 512443, 51372

**B. R. Plastics India**  
5438, Basti Harphool Singh  
Sadar Thana Road  
Delhi-7  
Phone: 522152

**Buildmet Private Ltd.**  
25, 1st Floor, Crescent Road  
Bangalore-560 001  
Phone: 76927

**Bhuramal Rajmal Sarana**  
Johari Bazar  
Jaipur

**Bihar Alloys & Steels Ltd.**  
9/1, R. N. Mookherjee Road  
Calcutta-700 001

**Shri Baijnath Shaw**  
244/3, Acharya Prafulla Chandra  
Road  
Calcutta-700 006  
Phone: 35-6002

**Bindal Brothers**  
Gurunanak Chowk  
Raipur  
Phone: 26060

**B. Jain & Co.**  
B-18/20, Bagree Market  
71, Canning Street  
Calcutta-700 001  
Phone: 344897

**Shri Bhanwar Lal Ji Sethia**  
Sethia Plastic Works  
108, Old China Bazar Street  
Calcutta-700 001  
Phone: 266678, 274380

**Shri Bachrajji Abhani**  
Vinay Textiles  
160, Jamuna Lal Bazaz Street  
Calcutta-700 007  
Phone: 47-0264, 33-0350

**Basudha Udyog 'Snehmilan'**  
Telephone Exchange Road  
Dhanbad-360 001  
Phone: 3368, 2627

**Bharat Westfalia Ltd.**  
16, Hare Street  
Calcutta-700 001  
Phone: 23-5533, 23-9045, 23-8594

**Shri Bhanwarlalji Sukhlecha**  
C/o. Pannalal Gulabchand  
Sukhlecha  
87, 11nd Main Road  
Maheshwarm  
Bangalore-3  
Phone: 34719

**Bhandari Metal Corporation**  
27B, Mukkar Nalla  
Mutha Street  
Madras-1  
Phone: 24504

**Sri Bherudan Dughar**  
11, Pnya Karan Street  
Madras-1

**Sri Birthi Chand Malrecha**  
Sukrath Trust  
30, Ranga Swami Street  
Rayapuram  
Madras-13

**Bafna Brothers**  
20, Shatten Muthiaha  
Mudali Street  
Madras

**Bombay Machinery Stores**  
158/60, Narayan Thumb Street  
Bombay

**Chiranjilal Rajkumar**  
Railway Road  
Meerut Town  
Phone: Office 75580, 73126  
Res. 72310

**Chaimnal Surana**  
63, Elephant Gate Street  
Madras-1  
Phone: 33877, 39519

**Coal & Allied Products**  
9/16, Shanti Niketan  
Calcutta-700 017  
Phone: 22-5154

**Chainrup Khemchand Kothari**  
Kothari & Co.  
P-12, New Howrah Bridge App.  
Road  
Calcutta-700 001  
Phone: 26-2463

**Carbon Corporation Ltd.**  
Bakhtawar, 2nd Floor  
Nariman Point,  
Bombay-400 021  
Phone: 24-3417, 24-3472

**Chhogmall Ratanlal**  
P/5, Kalakar Street  
Calcutta-700 070  
Phone: 33-7255

**Calcutta Paper Industries**  
5/2, Russel Street  
Calcutta-71  
Phone: 24-7830, 24-9412

**Chowdhary Bros.**  
1-2-2/1, Domalguada  
Hyderabad  
Phone: 22-3401, 22-3574

**Central Automobile Pvt. Ltd.**  
Laxmi Bhavan  
Lamington Road  
Bombay

**Sri C. L. Lalwani**  
Bungalow No. 2  
Opp. Kraya Vikraya Sangha  
Bhawani Singh Road  
Jaipur-302 001  
Phone: 76325

**D. K. Jain**  
Luxor Pen Company  
5191, 1st Floor, Main Sadar Bazar  
Delhi-110 006  
Phone: Office 52-1037  
Res. 61-5113

**Data Industries**  
Jharia  
Phone: 61226

**Dilip Metal Industries**  
Parvati House  
Inner Circle Road  
Jamshedpur-1  
Phone: Fact. 87211  
Off. 25703, 27680

**Danmal Kachardas Nahar**  
'Premdan' Telekhunt  
Ahmednagar  
Phone: 4013, 4804, 4992

**Shri Datta Fabrics**  
27, Shopping Centre  
1st Floor, Ichalkaranji  
Pin-416 115, Dist. Kolhapur  
Phone: Shop: 3420, Res. 3660

**Shri Desai Charitable Trust**  
Calcutta

**Dooars Transports (P) Ltd.**  
51/2A, Arumugam Mudaliar  
Street  
Bangalore-560 002  
Phone: 60-7816, 60-3493

**Shri Dhansukhlal Virji**  
Sanghvi Trust  
Jharia, (Bihar)

**Devendra & Pushpendra**  
Lal Katra  
Johari Bazar  
Jaipur-302 003

**Dolat Electrical Corporation**  
36, Ezra Street  
Calcutta-700 001

**Durlabhajee Bhura Bhai**  
**Metal Ware Pvt. Ltd.**  
162, Old China Bazar Street  
Calcutta-700 001  
Phone: 26-0711

**Dharmesh Metals P & R Mills**  
Dipesh Engineering Works  
205, Jolly Bhavan No. 2  
7, New Marine Lines  
Bombay-20  
Phone: 25-3950, 25-2801

**Dilkhush Dyeing Printing Works**  
Old Nagar Road  
Bombay-69  
Phone: 57-6461

**Daklia Bros.**  
4, Raja Woodmunt Street  
Calcutta-700 001  
Phone: 22-8627, 22-5422

**Emm Emm Traders**  
493, Bartan Market  
Sadar Bazar  
Delhi  
Phone: 51-9896, 51-1540 & 51-4644

**Echjay Industries Pvt. Ltd.**  
Kanjur Village Road  
Bhandup  
Bombay-400 078

**Fashion House**  
Shri Gorakh Nath Jain  
50, Valley Bazar  
Meerut City  
Phone: 75759

**Shri Fateh Chandji Daga**  
**Khubchand Kundanmal**  
51, P.T. Purshottam Roy Street  
Calcutta-700 007  
Phone: 33-4396

**Fort Gloster Industries Ltd.**  
(Cable Division)  
31, Chowringhee Road  
Post Box No. 9126  
Calcutta-700 016  
Phone: 24-8241 (5 lines)

**Shri Fakir Chand Premchand**  
Phandhana Via Khandwa  
Dist. Nimar

**Gautam Dall Mill**  
81/98, Cooperganj  
Kanpur  
Phone: Office 61691, 60115  
Res. 46873, 46182

**Guha & Company**  
44B, Robert Street  
Calcutta-700 012  
Phone: 27-9326

**Graphite India Ltd.**  
Vishweseria Industrial Area  
Whitefield Road  
Bangalore-560 048  
Phone: 58761

**Galada Pharmaceuticals**  
Galada Gardens  
72, E.V.K. Sampath Road  
Madras-600 007  
Phone: 28894, 33191

**Gajraj Banthia**  
Rikhabchand Banthia  
40, New Hanuman Galli  
Bombay-400 002  
Phone: 31-2867

**Gyanchandji, Veerchandji,**  
**Dharamchandji Chhajer**  
Aashanagar  
VIP Navasari, Dist. Balasar  
Gujarat  
Phone: 1683

**Ganset India (P) Ltd.**  
6, Pretoria Street  
Calcutta-700 016  
Phone: 44-9528

**Guest Keen Williams Ltd.**  
97, Andul Road  
Howrah, W.B.

**Goa Carbon Ltd.**  
Dempo House, Campal  
Panjim, Goa-383 136  
Phone: 383136

**Galada Continuous Castings Ltd.**  
12-13-194 Tarhaka Factory  
Uppal  
Hyderabad  
Phone: 71440, 71960

**Sri Gopichand Jain**  
**Lekharaj Kanaiya Lal Jain**  
Loha Mandi  
Agra

**H. N. Shah, Partner**  
**Eastern Trading Company**  
74, Dr. Algappa Road  
Madras-600 084  
Phone: 66-6715, 66-5343

**Hindustan Rimmers**  
2/7, Ashok Bihar, Phase-2  
Delhi-110 052  
Phone: Res. 71-9790

**Hazarilal Shyamlal Jain**  
Bye Pass Road - Chas  
Dhanbad  
Phone: 3645

**Hazarilal Shyamlal Jain**  
77/3, Coolie Bazar, Kanpur  
Phone: 53174  
*Branch Office:*  
522, Giriraj, Carnac Bunder  
Bombay-400 009  
Phone: 33-0466

**Harkishandas Phulchand**  
55/112, Generalganj  
Kanpur  
Phone: 63808

**Hirkesh Rubber Products**  
M.I.D.C.  
D-2, Plot No. 28/17  
Chinchwad  
Poona-411 019  
Phone: 84907

**Hemraj Mohanlal Bora**  
Advocate  
Ahmednagar

**Hanuman Mills**  
Calcutta

**Hindustan Engineering Stores**  
25, Strand Road  
Calcutta-700 001  
Phone: 23-0077

**Sri Harkh Chandji Nahata Nahata & Co.**  
537, Katra Neel  
Delhi-110 006  
Phone: 25-0191, 25-0209 (Off.)  
38-2735 (Resd.)

**Hindustan Corporation (P) Ltd.**  
1-2-3, Domalguada  
Hyderabad  
Phone: 22-0949, 22-2872

**Hazarilal Lodha**  
Chandani Chawk  
Delhi

**Hazari Mal Milap Chand**  
Surana  
Hanuman Ka Rasta  
Jaipur

**Himiyog Steel Trading Corpn.**  
Shastri Nagar  
Dhanbad  
Phone: 3795, 3995

**Heeralal Chhaganlal Tank**  
Johari Bazar  
Jaipur

**Indian Metal Industries**  
2273, Moti Katra  
Agra-3  
Phone: Office 74694  
Resd. 65755  
Workshop: 74533

**International Tyre Service**  
111, Tyre Ullam  
Mount Road  
Madras-600 002  
Phone: 81-2591, 83-680

**India Carbon Ltd.**  
(Gauhati: Delhi: Bombay)  
Temple Chambers  
6, Old Post Office Street  
Calcutta-700 001  
Phone: 23-7856

**Jagan Nath Hem Chand**  
Chandini Chawk  
Delhi

**Jain Finance Company**  
1/14, Asaf Ali Road  
New Delhi-110 002  
Phone: 27-4298, 27-8142

**J.P. Woollen Industries**  
389, Old Post Office Street  
Sadar Bazar  
Delhi-110 006  
Phone: 51-1383, 51-6303

**Jain Supplies Corporation**  
Mahavir Nagar  
Katras Road  
Dhanbad-826 001  
Phone: 3465, 2503, 4769

**Jain Wool Company**  
551/2, Katra Mithanial  
Sadar Bazar  
Delhi-110 006  
Phone: 51-7893, 51-2503

**Jayantilal Pranjeevan Sheth**  
84A, Sambhunath Pandit Street  
Calcutta-700 020  
Phone: 47-7775

**Shri J. Chhotalal & Co.**  
16, India Exchange Place  
Calcutta-700001  
Phone: Off. 22-6776  
Res. 47-6958, 47-2172

**Jahangir Dresses**  
2/3/40, Dr. A. K. Road  
Calcutta-700 044

**Jain Cloth Stores**  
Kishore Tea House  
Sainthia  
Dist. Birbhum, W.B.

**Jayshree Tea & Industries Ltd.**  
10, Camac Street  
Calcutta-700 017  
Phone: 44-7531/5, 44-7755,  
44-8907

**Jethmal Surendra Kumar Banthia**  
147, Mahatma Gandhi Road  
Calcutta-700 007  
Phone: 34-2978, 32-3437, 26-0525

**Shri Jesraj, Bhanwarlal,  
Jhanwarlal Baid**  
203/1, Mahatma Gandhi Road  
Calcutta-700 007  
Phone: 33-7199

**Jamandas Hemchand Hemani  
Charitable Trust  
Dolarrai Hemani**  
1, Bonfield Lane, 1st Floor  
Calcutta-700 001  
Phone: 26-2801, 26-5401, 47-2697

**J. S. Desai Charitable Trust**  
35/C, Hazra Road  
Calcutta-700-020  
Phone: 47-9058, 47-7766, 26-3770

**Sri Jethmal Keshrichand Sathia  
Trust**  
No. 5, Thulasingham Street  
Madras-600 001  
Phone: 32556

**Sri J. Dulichand Chordia Trust**  
13, Ramanuj Street  
Sahukar Peth  
Madras-600 001

**Kesri Chand Lodha**  
Chandani Chawk  
Delhi

**K. Gianchand Jain & Co.**  
231, Sadar Bazar  
Delhi-110 006  
Phone: Office 528072, 515589  
Resd. 719235

**K. D. Ramlal & Co.**  
131, Sadar Bazar  
Delhi-110 006  
Phone: Office 524698, 525096

**K. Bulakichand Fulchand Banthia  
Charitable Trust  
Shri Hazarimalji Banthia**  
52/16, Shakkar Patti  
Kanpur-208 001  
Phone: 66134, 60466

**Smt. Kamlawanti  
W/o Shri Vijay Kumar Jain**  
184, Anand Puri  
Meerut City  
Phone: 74929

**Kishanlal Pawan Kumar Jain**  
46/78, Raj Gaddi  
Kanpur  
Phone: Office 66978, 52745  
Resd. 44858, 41365

**Kishanlal Champalal Jain**  
Market Road  
Dodballapur-561 203  
(Karnataka State)  
Phone: Shop 177  
Resd. 179

**Shri Kachardas Mohanlal Lodha**  
Ahmednagar

**Kerala Transport Co.**  
P-9, New C.I.T. Road  
Calcutta-700 073  
Phone: 27-0012, 27-0013

**Kalpaka Transport Co. Ltd.**  
P-9, New C.I.T. Road  
Calcutta-700 073  
Phone: 27-0012, 27-0013

**Shri Ashok Agarwal  
Kumar Financiers**  
14, India Exchange Place  
Calcutta-700 001  
Phone: 22-5886, 22-9638

**Kaluram Mahadeo Prasad**  
1E, Burman Street  
Calcutta-700 007  
Phone: 34-7606

**Kishanlal Bhandari & Sons**  
Bagullah Road  
T. Nagar  
Madras-600 017

**Sri K. M. Dughar Charitable Trust**  
40, V. N. Road  
Madras-600 017  
Phone: 44856

**Kanti Lal Bhagwan Das & Sons**  
95A, Netaji Subhas Road  
4th Floor, Flat No. 23  
Shanti Niketan, Marine Drive  
Bombay-400 002  
Phone: 29-3247, 25-6618

**Kothari Auto Parts Manufacture  
(Pvt.) Ltd.**  
201/202, Paresh Market  
Kenedy Bridge  
Bombay-400 004  
Phone: 38-7243, 38-5317

**Kirti K. Kapadia  
Sri Ramesh Bhai Mehta**  
82, Anupam  
11, Manan Mandir Road  
Walkeshwar—Bombay

**Kalyan Mal Harak Chand  
Meratwal**  
A/16, New Mandi Yard  
Kekari (Ajmer)

**Lavkush Traders**  
136/5, Shantikunj  
Ram Rakshpal Gupta  
Chhipi Tank  
Meerut City  
Phone: 76105

**Lakshmi Trading Co.**  
74/104, Dhankutti  
Kanpur-208 001  
Phone: 65040, 53788

**Shri Lal Chandji Parekh  
Parekh Brothers**  
Sainthia  
Birbhum-731 234  
West Bengal  
Phone: 117

**Lodha Charitable Trust**  
14, Government Place East  
Calcutta-700 001

**Lee & Muirhead (India) Pvt. Ltd.**  
5, Clive Row  
Calcutta-700 001  
Phone: 22-7671

**Lal Chand Hastimal Jewellers**  
7-2-765, Pat Market  
Secunderabad  
Phone: 79197

**Sri Lalmal Bhandari Memorial  
Trust**  
34B, Nungambakkam High Road  
Madras-600 034  
Phone: 81-0877, 81-1190

**Lion Pencils Pvt. Ltd.**  
23, Nariman Bhavan  
Nariman Point  
Bombay  
Phone: 23-0005, 24-1765

**Mag Electricals**  
79/G, Nandidurg Road  
Bangalore-560 046  
Phone: 52944

**Mitra Milan**  
C-107, Jain Nagar  
Meerut City

**Mehla Metri Sangh**  
C-107, Jain Nagar  
Meerut City  
President—Champavati

**Motilal Pannalal**  
Motikatra  
Agra

**Mahendra Iron Store**  
Anaj Mandi  
Hathras  
Phone: 735, 630

**Munilal Jain**  
**Jain Novelty Bangle Store**  
5238, Gandhi Market  
Sadar Bazar, Delhi-110 006  
Phone: 523861

**Munshiram Manoharlal  
Publishers Pvt. Ltd.**  
54, Rani Jhansi Road  
P.O. Box 5715  
New Delhi-110 055  
Phone: 512745, 513600, 513841

**Mahavir Rolling Mills**  
123/388, Factory Area  
Fazalganj  
Kanpur  
Phone: 21894, 21994

**Monally Bharat Engineering  
Company Limited**  
P.O. Kumardhubi  
Dhanbad  
Bihar-828 203

**Malhotra Construction**  
P.O. Malanj Khand  
Dist. Balaghat (M.P.)

**Madhusudan Engg. Works**

**Motilal Bengani Charitable Trust**  
1/4-C, Khagendra Chatterjee Road  
Calcutta-700 002  
Phone: 52-3032

**M. Hanuman Mal Surana**  
85, Bazar Street, Tripoorur  
Dist. Chingalepet  
Tamil Nadu

**Shri Mohan Lal ji Bhansali  
Rajkamal Meters**  
75, N. S. Road  
Calcutta-700 001  
Phone: Offi. 22-9171  
Res. 22-9837

**Macmet India (P) Ltd.**  
27-B, Camac Street  
Calcutta-700 016  
Phone: 43-5558 (4 lines)

**Sri Maher Chandji  
Dadha Textile Corporation**  
6, Wallajah Road  
Madras-2

**Sri Mani Lal Sanghvi**  
2890, Kadiya Kui Relief Road  
Ahmedabad  
Phone: 38-0096, 38-2787

**Mehta Trust**  
Kalva Devi Road  
Bombay-400 002

**Sri Misri Mal Mangal Chand  
Dugher Trust**  
11, Perya Naikaran Street  
Madras-600 001



**Smt. Madhu Jain**  
W/o. **Shri Sarjewan Kumar Jain**  
Vivekanand Colony  
Near Donbos Co.  
Liluha, Howrah

**Sri Mansing Mohanlal Jain**  
Kaserat Bazar  
Agra 'X'-Ray Centre  
Delhi Gate  
Agra  
Phone: 75912, 75755

**Sri Munilal Jain**  
Popular Jewellers  
Bank Street  
Karolbag  
New Delhi

**Nageen Chand Jain**  
55, Kidwai Nagar  
Ludhiyana

**Naveen H. Mehta**  
Universal Engg. Works  
Manhar Plot  
Rajkot  
Phone: 24476, 22223

**Niton's Foods (P) Ltd.**  
Utran  
Dist. Jalgaon  
Phone: 4933

**The National India Rubber Works Ltd.**  
Katni-483 501 (M.P.)  
Phone: 2406, 2360

**Narendra Kumar Hasmukhlal**  
40, New Hanuman Galli  
Bombay-400 002  
Phone: 312867

**New Gujaranwala Jewellers (Regd)**  
Bazar Sheikhan  
Jullundur City  
Phone: 72957, 72442 P.P.

**Nyalchand B. Ghelani**  
'Paras'  
9, Contractor's Area  
Jamshedpur-831 001  
Phone: 24541

**Narbheram & Co. (P) Ltd.**  
Main Road  
Jamshedpur  
Phone: 23932

**Narayandas Mohanlal Lodha**  
2410, Dalmandai  
Ahmednagar-414 001  
Phone: Shop 5788  
Resi. 3588  
Market Yard 4273

**Nitin Machinery Stores**  
Dane Dabara  
Ahmednagar-414 001  
Phone: 5415

**Sri Nemchandji Daga**  
Kamal Plastic Industries  
N-64, Greater Kailash  
New Delhi-110 048  
Phone: Off. 647820/642287  
Fy. 634785

**Navketan Enterprise**  
Hasmukh Ajmera  
51, Ezra Street  
Calcutta-700 001  
Phone: 26-8377, 27-1406

**Nannomal Padam Kumar Jain**  
Loha Mandi  
Agra

**Nalanda Packaging Industries**  
Murchand Mansion  
Samal Das Gandhi Marg  
Bombay-400 002  
Phone: 311 715, 315 169

**Oswal Emporium**  
30, Munro Road  
Agra Cantt.

**Oswal Industries**  
16, Chhotelal Mishra Road  
Ghusuri, Howrah  
Phone: 662866

**Oswal Industries**  
**Oswal Sales Corporation**  
1581/1, Bhagirath Palace  
Delhi-110 006  
Phone: Offi. 255328  
Resi. 719438

**Oswal Cable Products**  
93/1, Wazirpur Group Industrial Area  
Delhi-110 052  
Phone: Fy. 710032  
Res. 713548

**Pritiben Jayant Kumar Shah Trust**

**Pajan Brothers**  
Sadar Bazar  
Delhi-110 006  
Phone: 52-1196, 51-4794

**Pritamchand Dharmavir Jain**  
C-20, Jain Nagar  
Meerut City  
Phone: 74272

**Padamkumar Jain**  
Tkari Road  
Gaya  
Phone: 497, 1556

**Parthiraj Chandanmal Birani**  
24/38, Birhana Road  
Kanpur-208 001  
Phone: 68632, 64043

**Pramod Dall Mill**  
74/47, Dhankuti  
Kanpur-208 001  
Phone: 68444, 68424

**Shree Punjab Jain Bhratri Sabha**  
Pujoyakanshiram Jain  
Smarak Ahinsa Bhawan  
14-A Road, Khar  
Bombay-400 052  
Phone: 542 509

**Premium Coke Manufacturing Co. Pvt. Ltd.**  
Rathore Mansion  
Bank More  
Dhanbad-826 001  
Phone: 4599

**Pecraj Trade Linkers**  
493, Bartan Market  
Sadar Bazar  
Delhi  
Phone: 511540, 514644, 514784

**Petro Carbon & Chemicals Co.**  
19G, Everest  
46C, J. L. Nehru Road  
Calcutta-700 071  
Phone: 43-2451

**Pressman Advertising & Marketing Pvt. Ltd.**  
(Calcutta : Bombay : New Delhi : Gauhati)  
9, Brabourne Road  
Calcutta-700 001  
P.B. No. 2160  
Phone: 26-6672, 27-6544

**Prem Plastics**  
9, Bharat Industrial Estate  
T. J. Road, Sewree  
Bombay-400 015  
Phone: 44 7822

**Punjab Concast Steels Ltd.**  
Focal Point  
Ludhiana  
Phone: 23611, 20997, 27313,  
33590, 33591

**Prakash Chand Roopchand**  
Sawansukha  
207-F, Rabindra Sarani  
Calcutta-700 007  
Phone: 34-8542

**Prabhudas Hemani Charitable Trust**  
**Mansukhlal Hemani**  
1, Bonfield Lane  
Calcutta-700 001  
Phone: 26-8211, 47-1205

**Partapmal Hemraj**  
113, Manohardas Street  
Calcutta-700 007

**President Optical Co.**  
306, Bow Bazar Street  
Calcutta-700 012  
Phone: 26-3280

**Prestige Associates**  
165/167, Nagdevi St.  
Vasi Building (2nd floor)  
Bombay-400 003

**Sri Prem Chand Gupta**  
Karol Bag  
Regarpur  
Gali No. 56, House No. 4406  
New Delhi-110 005

**Phillips Carbon Black Ltd.**  
Duncan House  
31, N. S. Road  
Calcutta-700 001  
Phone: 22-6831

**Praveen Chandra Bros.**  
105, Kika Street  
Gulabwadi  
Bombay-400 004  
Phone: Off. 33-5464, 33-7821  
Resi. 81-4850

**P. V. Jewellers**  
Johari Bazar  
Jaipur

**Sri Premchand Jain**  
Malwa Cotton Spinning Mills Ltd.  
Sales Depot  
Purana Bazar  
Ludhiyana

**Smt. Prakashwati Agarwal**  
Amichand Bholanath  
36, Green Park  
Jullundhur

**Ratankumar Jain**  
**Jai Steel Corporation**  
4, Ambica Chamber  
Katras Road  
Dhanbad  
Phone: 3740

**Sri Raj Kumar Jain**  
**Kumar Construction**  
Outside Khendera Gate  
Jhansi  
Phone: 1160

**Seth Ram Lal Lunia**  
Chandni Chawk  
Delhi

**Ramaniklal C. H. Mehta & Sulochana Bhaen R. Mehta**  
Shanti, Peddar Road  
Bombay  
Phone: 367958

**Ratan Prakashan Mandir**  
Hospital Road  
Agra

**Ramchand Ratanchand Bora**  
3692, Pansare Galli  
Ahmednagar (Maharashtra)  
Phone: Off. 582  
Resi. 306

**Ramchandra Ramesh Chandra Jain**  
Post. Harduaganj  
Dist. Aligarh

**Ratanshi & Sons**  
Station Road  
P.O. Barakar  
Dist. Burdwan, W. Bengal

**Shri Roshanlal Jain**  
C/107, Jain Nagar  
Meerut City

**Roopchand Shermal**  
Toofan Ganj  
Coochbehar  
West Bengal  
Phone: 44

**Rajesh Plastic Industries**  
**Ratanlal Daga**  
47, Pt. Purushottam Roy Street  
Calcutta-700 007  
Phone: Off. 34-2821/33-3330  
Fy. 66-5029

**Shri Nathmalji Rikhab Dasji**  
**Bhansali**  
Kanti Cloth Store  
15, Noormal Lohia Lane  
Calcutta-700 007  
Phone: 33-5893

**Shri Ramesh S. Shah**  
19, Rupchand Mukherjee Lane  
Calcutta-700 025  
Phone: 47-1755

**Rajda P & P Corporation**  
1, Portugese Church St.  
Calcutta-700 001  
Phone: 32-2446, 32-3029

**Ramesh Hari Lal Doshi**  
77, Muktaram Babu Street  
Calcutta-700 007  
Phone: 34-6771, 34-8655, 41-2245

**Rasik Lal Liladhar**  
60/1, Chowringhee Road  
Calcutta-700 020  
Phone: 44-1941

**Rasik V. Jaitha**  
24, Ballygunj Circular Road  
Calcutta-700 019  
Phone: 47-9829

**Shri Rajendar Kumar Khajanchi**  
43, Sarat Bose Road  
Calcutta-700 020  
Phone: 48-1518

**Rajeev Enterprises**  
Nank Niwas  
30, Banham Hall Lane  
Bombay-400 004  
Phone: 363331/823893

**Rajasthan Trading Corporation**  
34, Nela Kantha Mehta Street  
T. Nagar  
Madras-600 017  
Phone: 44-6583, 44-1858

**Ranka Corporation**  
3, Ratna Nagar  
Teynampet  
Madras-600 018

**Raj Kamal Motors**  
145, Nangambakkam High Road  
Madras-600 034

**Ranka Cables (P) Ltd.**  
Near Industrial Estate  
Cuddapah  
2-2-57, Pass Bazar  
Secunderabad

**Sri Rajeev V. Sujanti**  
Jewellers and Pharmaceuticals  
2310, Ghee Walon Ka Rasta  
Jaipur-302 003, Rajasthan  
Phone: 66-188 P.P.

**Sri Ramlal Saraf**  
**Popular Jewellers**  
37, Gali Paranthi Wali  
Chandni Chowk  
Delhi

**Sri Rajroopji Tank**  
Jewellers  
Johari Bazar  
Jaipur

**R. K. Jain & Bros.**  
Oswal Woollen Mills Ltd.  
Sales Depot, Purana Bazar  
Ludhiyana

**Star Theatre**  
79/3/4, Bidhan Sarani  
Calcutta-700 006  
Phone: 55-1139

In memory of Mrs.  
Manju Sawansukha:  
**Smt. Sunder Devi Bachhawat**  
Shree Sadan, Tagore Castle  
26, P. K. Tagore Street  
Calcutta-700 006

**Sarvodaya Rubber Pvt. Ltd.**  
P-5, Biplabi Rash Behari Basu Rd.  
Calcutta-700 001  
Phone: 34-7470

In memory of Sri Shankar Vaidh:  
**S. Mahendra & Co.**  
Esplanade Mansion  
14, Govt. Place East  
Calcutta-700 069  
Phone: 23-7646, 23-3171

**Stewart & Co.**  
14, India Exchange Place  
Calcutta-700 001  
Phone: 22-7196, 22-7197, 22-7198

**Shri Sumati Mahila Mandal**  
3-A, Ray Street  
Kamani Bhavan  
Calcutta

**Sisir Printing Press**  
17, Old China Bazar Street  
Calcutta-700 001  
Phone: Off. 26-8960  
Res. 35-5296

**Shadilal & Sons**  
114, Sarang Street  
Bombay-400 003  
Phone: 327792, 574960

**Stile**  
Lindsay Street  
Calcutta-700 013  
Phone: 23-2475

**Shri Shanti Lal Kothari**  
**Kothari Brothers**  
665, Katra Hiralal  
Chandni Chowk  
Delhi-110 006  
Phone: 26-9753

**Shree Synthetics Ltd.**  
31, Chowringhee Road  
Calcutta-700 016  
Phone: 24-8830

**Shri Sampatrajji Murlecha**  
**C/o. Super Metal House**  
64, Pillyar Koyal Street  
Ashok Nagar  
Bangalore-560025

**Singhi & Co.**  
18, Old Post Office Street  
Calcutta-700 001  
Phone: 23-4573, 23-4577

**Sipani Enterprises**  
3, Bannerghatta Road  
Bangalore-560 029

**Sanghvi Brothers**  
138, B.R.B. Bose Road  
Calcutta-700 001  
Phone: 22-1234, 22-8511

**Shah & Sons (P) Ltd.**  
5-3-333, Rashtrapati Road  
Secunderabad

**Surana Udyog**  
50, M.G. Road  
Secunderabad  
Phone: 75119

**Sunrise Corporation**  
115, Nagdevi Street  
(2nd floor.)  
Bombay-400003  
Phone: 34-1221

**Surana Charitable Trust**  
Joshi Bazaar  
Jaipur

**Sri Shir Narayan Jain**  
76/1, Halsey Road  
Kanpur  
Phone. Off. 62319  
Res. 71468

**Santosh Chand Mahendra**  
**Singh Lodha**  
9/672, Moti Katra  
Agra  
Phone: 76245

**Super Bearing Co.**  
4, Bibigan Street  
Bombay-400 003  
Phone: 32-9616, 32-7346

**Shri Surendar Kumar Jain**  
Subhasagar  
101, Daulat Nagar  
Borivali (East)  
Bombay-400 066  
Phone: 66-2637

**Seven Star Advertisers**  
B/55, Jain Nagar  
Meerut City-2  
Phone: 73992

**S. P. Jain & Company**  
812/1, Gandhi Road  
Ahmedabad-380 001  
Phone: Off. 36-8912, 36-5278  
Res. 44-6803

**Shivlal Manakchand**  
Utran  
Dist. Jalgaon (M.S.)

**Mrs. Sulochana Samdadia**  
Sarafa Bazar  
Jabalpur

**Dr. S. S. Bhandawat**  
Bhandawat House  
Manakchowk  
Jodhpur (Rajasthan)  
Phone: 23705, 22138

**Sardarilal Prakash Chand**  
Gandhi Market  
Sadar Bazar  
Delhi-110 006

**Smt. Shantak Khinvasara**  
**C/o. Indu Commercial Corpn.**  
691/A/2, Bibwewadi  
Industrial Estate  
Satara Road  
Pune-411 037

In Memory of  
**Late Shri Shadilalji Jain**  
Bombay  
Phone: 21-7315

**Sumanlal K. Mehta & Sushila**  
**S. Mehta**  
B-37, Nalanda, 62, Peddar Road  
Bombay-400 026  
Phone: 38-0720

**Smt. Sheela Devi Jain**  
6/38, Rani Ghat  
Purana  
Kanpur

- S. K. Steel Corporation**  
90/99, Itikharabad  
Kanpur  
Phone: 61010
- Shanti Roadways**  
5, Nawab Lane  
Calcutta-700 070  
Phone: 33-9024, 33-2474, 33-5535
- Subhash Chandra Hemraj**  
Pokharna  
Sardar Patel Road  
Ahmednagar  
Phone: Off. 4115  
Res. 4277  
M.Y.3909
- Surana Brothers**  
Taksal Lane  
Johri Bazar  
Agra-282 003  
Phone: 72558
- M/s. Shrimal Jaikumar Shingvi**  
Dalmandai  
Ahmednagar-414 001  
Phone: 5509
- Shakti Enterprises**  
P.O. Jayant Colliery  
Dist. Sidhi (M.P.)
- Shri Surendar Kumar Jain**  
Subh-Sagar, 101 Daulat Nagar  
Borivali (East)  
Bombay  
Phone: 66-2637
- Sri Tarachandji Bhandari**  
29, G. N. Chetty Road  
T. Nagar  
Madras-600 017
- United Enterprises**  
230A, Cooperative Colony  
Bokaro Steel City (Dhanbad)
- United Iron Corporation**  
Katrass Road, Dhanbad
- Upkar Prakashan**  
2/11A, Swadeshi Bima Nagar  
Agra-282 002  
Phone: 65110, 66796
- Universal Hydro Carbons Co. (P) Ltd.**  
Industrial Area  
P.O. Tiltrath  
Dist. Begusarai  
PIN 851 112
- Unique Pharmaceutical Labs.**  
Seth Govind Rao Smriti  
83B & E, Dr. Annie Besant Road  
Worli, Bombay-400 018  
Phone: 39-2881, 39-2882, 37-3585
- Sir Umrao Mal Sripatmal Surana**  
1, Kalathi Pillai Street  
Madras-600 001  
Phone: 34049, 37822
- Smt. Usha Jain**  
C/o. Iron Industries  
34/315, Khati Para Road  
Loha Mandi  
Agra-282 002
- Shri Varjivan C. Kamapahi**  
16, India Exchange Place  
Calcutta-700 001  
Phone: 22-2242
- Vrajlal & Company**  
28, Stemen Court  
18-A, Park Street  
Calcutta-700 071  
Phone: 24-7898, 24-0469
- Valjee Manjee Narayan**  
Dhuru Street  
Bombay-400 0033  
Phone: 33-8354
- Vincent Trading Corporation**  
Kalon Ka Mohalla  
P.B. No. 23, Jaipur
- V. H. Jewellers**  
Kalon Ka Mohalla  
P.B. No. 26, Jaipur
- V. K. Jain & Sons**  
40, Swadeshi Market  
Sadar Bazar Branch  
Delhi-110 006  
Phone: Off. 51-3778  
Res. 22-6507
- Vasantlal Punamchand Bhandari**  
2585, Kapad Bazar  
Ahmednagar-414 001  
Phone: 5488
- Valley Refractories (P) Ltd.**  
40-B, Vivekanand Road  
Calcutta-700 070
- Smt. Vimlawati Navlakha**  
5245, Baratooti Chowk  
Sadar Bazar  
Delhi-110 006  
Phone: 52-9422, 51-7140
- Vikas Polymers Vikas Udyog**  
6/3, Kirti Nagar Industrial Area  
New Dehli-110 015  
Phone: Off. 53-7592, 53-7646  
Res. 53-8088, 53-2779
- Waterproof Industries**  
7, Swallow Lane  
Calcutta-700 001  
Phone: 22-7716
- Wool Combers of India Ltd.**  
31, Netaji Subhas Road  
Calcutta-700 001  
Phone: 22-6831
- Well wishers from Durgapur**
- Well wishers from Bangalore**
- Yatimmia & Sons**  
1, Chandni Chowk Street  
Calcutta-700 072  
Phone: 27-4995
- Shri Zalan Singhji Meratwal**  
Advocate, Beawar  
Rajasthan

**The above advertisers have kindly contributed Rs. 1000/- each.**

## प्रतिबिम्ब

समय के दर्पण में प्रतिबिम्बित रूप को कोई बृद्धत्व की संज्ञा भले दे दे, किन्तु युग की आशाओं ने, युग के वर्तमान और भविष्य ने, युग की मंगल-कामनाओं ने, भक्तों के अन्तर्भावों ने उन्हें वर्धमान देखा है, जहाँ संतस्त, पीड़ित मानवमन विश्राम पाता है, व्याकुल रोती आंखें आनन्द पाती हैं, जन्म-जन्म के मोह और क्षोभ के तूफान शान्त हो जाते हैं, केवल बौद्धिक तर्क-प्रवणता, थोथी एवं निस्तेज सिद्ध होती है और समग्र जीवन केवल अर्ध बन कर अनायास अर्पित हो जाता है, उन भगवत्स्वरूप सर्वमंगल श्रीचरणों का एक मधुरातिमधुर सम्बोधन है—“गुरुदेव”।

गुरुदेव का जीवन, अध्ययन, अध्यापन, चिन्तन-मनन, साधना, तप सबकुछ सर्वोत्तम है। आज वे उस परम भाव-स्थिति में हैं कि उनका प्रवचन, प्रवचन के लिए नहीं, लेखन, लेखन के लिए नहीं होता है। होता है सत्य की सूक्ष्म गूढ़ ग्रन्थियों के उद्घाटन के लिए, जो समग्र मानव-जाति के लिए लोकमंगल की प्रेरणा का दिव्य स्रोत है! अमर आलोक है!

वह दिव्य स्रोत एवं अमर आलोक ही प्रस्तुत मंगलमय गुरु-पूजा महोत्सव पर आप तक पहुँच रहा है। इस पहुँच में न कोई पक्ष है, न विपक्ष है। एक मात्र है शुद्ध, सात्त्विक सर्वमंगल सपक्ष। गुरुदेव का उद्बोधन है :

- धर्म बाहर के क्रियाकाण्ड में, शास्त्रार्थ में नहीं, वह राग-द्वेष से हटकर समता में है, समभाव में है।
- सच्चा मनुष्य वही है, जो परिवार, समाज, राष्ट्र और मानव-जाति के प्रति अपने दायित्व को प्रामाणिकता से पूरा करता है।
- धर्म-क्षेत्र हो या कर्म-क्षेत्र, महान् गुरुओं ने निष्काम होने की बोध-देशना दी है, निष्क्रिय होने की नहीं। दुर्भाग्य से आज व्यक्ति निष्काम होने की बजाय निष्क्रिय हो गया है। कोई आश्चर्य नहीं कि कर्म धर्म-शून्य हो जाय। कर्म को धर्ममय बनाना है और धर्म को कर्म-प्रधान।

